श्रीमद्वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतम्-चतुर्थम्

पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः ।

(समस्त चार संस्कृत टीकाओं के हिंदी-अनुवाद, श्लोकार्थ, ग्रन्थसार

एवं

मेखला

टीका सहित)

❑ संपादक व लेखक ❑

गोस्वामी राजकुमार

❑ *प्रकाशक* ❑

गोस्वामी राजकुमार नृत्यगोपालजी

''चरणाट'' बंगला नं. 5, ठाकुर विलेज, ठाकुर डिग्री कॉलेज के सामने,

कांदिवली (पूर्व), मुंबई - 400 101. • दूरभाष : 2884 6506 मो. : 9769623724

वि. सं. 2067 • वल्लभाब्द 532

प्रति : 1000

श्रीमद्वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतम्-चतुर्थम्

पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः ।

अनुक्रमणिका

क्रमांक	प्रकरण	पृष्ठसंख्या
१.	पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः (मूलपाठ) श्लोकार्थ	१
२.	श्रीश्रीवल्लभकृतानाम्	५
३.	श्रीरघुनाथानाम्	३२
४.	श्रीकल्याणरायाणाम्	४२
५.	श्रीपीताम्बरानाम्	५६

पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः ।

श्लोकार्थ

पुष्टिप्रवाहमर्यादा विशेषेण पृथक्पृथक् ।
जीवदेहक्रियाभेदैः प्रवाहेण फलेन च ॥१॥
वक्ष्यामि सर्वसन्देहा न भविष्यन्ति यच्छ्रुतेः ।

पुष्टि, प्रवाह एवं मर्यादा जीवों के लक्षण (१) जीव की दृष्टि से (२) देह की दृष्टि से (३) उनकी क्रिया से (४) सृष्टि की प्रक्रिया से एवं (५) उन्हें मिलने वाले फल के भेदों द्वारा अलग-अलग कर के कह रहा हूँ।
जिन्हें सुनने के पश्चात् इनके विषयों में रहे सभी सन्देह दूर हो जायेंगे। अर्थात् इन तीनों मार्गों के जीव, देह, क्रिया, सृष्टि एवं इन्हें मिलने वाला फल इत्यादि सभी कुछ अलग-अलग होते हैं।

भक्तिमार्गस्य कथनात्पुष्टिरस्तीति निश्चयः ॥२॥

शास्त्रों में भक्तिमार्ग कहा गया है अतः पुष्टिमार्ग का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है- यह निश्चित है॥ २॥

द्वौ भूतसर्गावित्युक्तेः प्रवाहोऽपि व्यवस्थितः ।

"द्वौ भूतसर्गौ" इस भगवद्गीता के वाक्यानुसार प्रवाहमार्ग भी है।

वेदस्य विद्यमानत्वान्मर्यादापि व्यवस्थिता ॥३॥

और, वेद विद्यमान होने के कारण वेद में कहा गया मर्यादामार्ग भी अनादि काल से चला आ रहा है॥ ३॥

कश्चिदेव हि भक्तो हि यो मद्भक्त इतीरणात् ।
सर्वत्रोत्कर्षकथनात्पुष्टिरस्तीति निश्चय : ॥४॥

"कश्चिदेव हि भक्तो हि" , "यो मद्भक्तः" इत्यादि गीतावाक्यों में सर्वत्र भक्तों का उत्कर्ष कहा गया है,
अतः पुष्टिमार्ग का अस्तित्व है- यह निश्चित हो जाता है॥ ४॥

न सर्वोऽतः प्रवाहाद्धि भिन्नो वेदाच्च भेदतः ।
यदा यस्येति वचनान्नाहं वेदैरितीरणात् ॥५॥

इसलिये अन्य सभी मार्ग पुष्टिमार्ग की तुलना में न्यून हैं। इसी कारण पुष्टिमार्ग तो प्रवाहमार्ग एवं वेदमार्ग से
"यदा यस्य" , "नाहं वेदैः" इत्यादि गीता-भागवत के वाक्यानुसार भिन्न है॥ ५॥

मार्गैकत्वेऽपि चेदन्त्यौ तनू भक्त्यागमौ मतौ ।
न तद्युक्तं सूत्रतोहि भिन्नो युक्त्या हि वैदिकः ॥६॥

यदि कोई ये कहे कि "मार्ग तो एक पुष्टिमार्ग ही है एवं प्रवाह-मर्यादा तो केवल उसके अंग हैं क्योंकि ये दोनों मार्ग भी भक्ति के ही तो प्रतिपादक मार्ग हैं !!",
तो यह बात ठीक नहीं है क्योंकि भक्तिसूत्र में भक्ति (पुष्टि) को इन सबसे भिन्न बताया गया है ; और विभिन्न प्रकार की युक्तियों से भी भक्ति (पुष्टि) की वैदिकमार्गों से भिन्नता सिद्ध होती है॥ ६॥

जीवदेहकृतीनां च भिन्नत्वं नित्यताश्रुतेः ।

श्रुति में भी इन तीनों मार्गों के जीव, इनकी देह एवं इनकी कृतियाँ भिन्न एवं नित्य बतायी गयीं हैं।

यथा तद्वत्पुष्टिमार्गे द्वयोरपि निषेधतः ॥७॥

जैसे श्रुति में जीव-देह-क्रियाओं की परस्पर भिन्नता एवं नित्यता है , वैसे ही यहाँ पुष्टिमार्ग के जीव, उनकी देह एवं उनकी क्रियाएँ इत्यादि मर्यादा एवं प्रवाहमार्गीयजीवों के लक्षणों का निषेध करते हुए भिन्न हैं॥ ७॥

प्रमाणभेदाद्भिन्नो हि पुष्टिमार्गो निरूपितः ।

और प्रमाणभेद से पुष्टिमार्ग भिन्नरूप से निरूपित हुआ है।

सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतम् ॥८॥

इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरिः ।

वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चयः ॥९॥

॥ अथ पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा जीवों की सृष्टि में परस्पर भेद/अंतर ॥

अब हम इन तीनों मार्गों के स्वरूप-अंग-क्रिया से युक्त इन मार्गों की सृष्टि का भेद(भिन्नता)कह रहे हैं।

(१) हरि ने मन में मात्र इच्छा करके प्रवाहसृष्टि की रचना की।

(२) वाणी द्वारा वेदमार्ग(मर्यादामार्गीय)सृष्टि की रचना की।

(३) पुष्टिसृष्टि की रचना भगवान ने अपनी काया द्वारा प्रकट की, यह निश्चय जानिए॥ ९॥

मूलेच्छातः फलं लोके वेदोक्ते वैदिकेऽपि च ।

लोक में प्रवाहीजीवों को फल भगवान की मूलेच्छा से प्राप्त होगा/होता है। और वेदोक्तफल मर्यादामार्गीयजीवों को प्राप्त होगा/होता है।

कायेन तु फलं पुष्टौ भिन्नेच्छातोऽपि नैकता ॥१०॥

पुष्टिमार्ग में भगवान अपनी काया से फल देते हैं। भिन्न-भिन्न मार्गों में भगवान को भिन्न-भिन्न प्रकार से फल देने की इच्छा होती है, इस कारण से भी ये सभी मार्ग एक जैसे नहीं हो सकते॥ १०॥

तानहं द्विषतो वाक्याद्भिन्ना जीवाः प्रवाहिणः ।

"तानहं द्विषतः" इस वाक्यानुसार प्रवाहीजीव भिन्न कोटि के जीव हैं।

अत एवेतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्षप्रवेशतः ॥११॥

इसी कारण मर्यादाजीव एवं पुष्टिजीव भी भिन्न हैं क्योंकि इन दोनों का मोक्ष-प्रवेश होता है अतः ये दोनों अंतसहित हैं अर्थात् इनकी जन्म-मरण वाली संसार परंपरा का अंत हो जाता है। ॥ ११॥

तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः ।

भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत् ॥१२॥

इस कारण पुष्टिमार्ग के जीव भिन्न ही होते हैं इसमें कोई संशय नहीं है।

क्योंकि पुष्टिसृष्टि तो भगवत्स्वरूप की सेवा के लिये होती है अन्य किसी के लिये नहीं॥ १२॥

स्वरूपेणावतारेण लिङ्गेन च गुणेन च ।

तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा ॥१३॥

स्वरूप से, अवतार से, चिन्हों से या गुणों की दृष्टि से.....

पुष्टिजीव का स्वरूप, देह एवं क्रिया भगवान से भिन्न नहीं होते अर्थात् भगवान एवं पुष्टिजीव में भेद नहीं होता है॥ १३॥

तथापि तावता कार्यं यावत्तस्य करोति हि ।

तथापि लीला करने के लिये भगवान को जितना भेद करना होता है, उतना भेद/अंतर पुष्टिजीवों में कर देते हैं।

ते हि द्विधा शुद्धमिश्रभेदान्मिश्रास्त्रिधा पुनः ॥१४॥

प्रवाहादिविभेदेन भगवत्कार्यसिद्धये ।

ये पुष्टिजीव दो प्रकार के होते हैं- शुद्ध एवं मिश्र। और, मिश्रपुष्टिजीव भी पुनः तीन प्रकार के होते हैं॥ १४॥

मिश्रपुष्टिजीव भी प्रवाह-मर्यादा-पुष्टि इत्यादि के भेद से तीन प्रकार के होते हैं, जिससे कि भगवत्कार्य(भगवल्लीला) सिद्ध हो पाये।

पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः ॥१५॥

मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णातिदुर्लभाः ।

इन तीन प्रकारों में पुष्टिपुष्टिजीव सर्वज्ञ होते हैं ; प्रवाहपुष्टिजीव केवल भगवत्संबंधी क्रिया में रत होते हैं(उनमें भगवान के प्रति उतना स्नेह नहीं होता)....

मर्यादापुष्टिजीव भगवान का गुणगान करने में विषेश आसक्ति रखते हैं और, शुद्धपुष्टिजीव भगवान से प्रेम करने वाले होते हैं जो बड़े दुर्लभ होते हैं॥

एवं सर्गस्तु तेषां हि फलं त्वत्र निरूप्यते ॥१६॥

इस प्रकार से पुष्टिप्रवाहमर्यादामार्ग के जीवों का सर्ग निरूपित किया गया, अब इन मार्गों में मिलने वाले फल का निरूपण करते हैं।

भगवानेव हि फलं स यथाऽऽविर्भवेद्भुवि ।

गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत् ॥१७॥

तीनों मार्गों में भगवान ही फल हैं ; वे जब भूमि पर आविर्भूत होते हैं...

तब अपने-अपने गुण एवं स्वरूप के भेद से इन तीनों मार्गों के जीवों को फल प्राप्त होता है॥ १७॥

आसक्तौ भगवानेव शापं दापयति क्वचित् ।

अहङ्कारेऽथवा लोके तन्मार्गस्थापनाय हि ॥१८॥

मान लो कि यदि वे जीव संसार में कहीं आसक्त हो जाएँ .....

या फिर वे जीव लोक में आकर अहंकारी बन जाएँ , तो भगवान उन्हें शाप भी दिलवा देते हैं ताकि भगवान पुनः उसे भक्तिमार्ग में ला सकें॥ १८॥

न ते पाषण्डतां यान्ति न च रोगाद्युपद्रवाः ।

महानुभावाः प्रायेण शास्त्रं शुद्धत्वहेतवे ॥१९॥

किंतु शाप मिलने पर यदि वे भगवान से दूर चले भी जाते हैं, तो भी वे भगवद्विमुख होकर पाखंडी नहीं बनते एवं उन पर किसी रोग आदि का उपद्रव भी नहीं होता।

वे प्रायः महानुभाव ही रहते हैं ; भगवान द्वारा उन पर इस प्रकार से शासन करना(शाप दिलवाना)अंततोगत्वा तो इन्हें शुद्ध बनाने के हेतु से ही होता है॥ १९॥

भगवात्तारतम्येन तारतम्यं भजन्ति हि ।

भगवान जब इन्हें भिन्न-भिन्न बना देते हैं , तो फिर ये भी भिन्न-भिन्न प्रकार से ही भगवान को प्राप्त होते हैं।

वैदिकत्वं लौकिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथा ॥२०॥

वैष्णवत्वं हि सहजं ततोऽन्यत्र विपर्ययः ।

पुष्टिजीव वैदिक-लौकिक व्यवहार तो कपटरूप से करते हैं अर्थात् लोगों को दिखाने के लिये, अन्यथा अन्य किसी हेतु से नहीं॥ २०॥

किंतु उनमें वैष्णवता सहज रूप से होती है , इसलिये वे लौकिक-वैदिक कार्यों में अनासक्त रहते हैं।

सम्बन्धिनस्तु ये जीवाः प्रवाहस्थास्तथापरे ॥२१॥

चर्षणीशब्दवाच्यास्ते ते सर्वे सर्ववर्त्मसु ।

इन पुष्टिजीवों से संबंधित जीव एवं प्रवाहीजीव..... ॥ २१॥

चर्षणी कहे जाते हैं ; ये समस्त मार्गों में भटकते हैं.....

क्षणात्सर्वत्वमायान्ति रुचिस्तेषां न कुत्रचित् ॥२२॥

तेषां क्रियानुसारेण सर्वत्र सकलं फलम् ।

एक क्षण में ये उन-उन मार्गों के अनुसार बन जाते हैं , किन्तु वास्तव में इनकी रुचि कहीं किसी भी मार्ग में नहीं होती॥ २२॥

उनके जैसे जिस-जिस प्रकार के कार्य होते हैं , उन्हें वैसा ही फल प्राप्त होता है।

प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतान् ॥२३॥

अब हम प्रवाहीजीवों के स्वरूप-अंग-क्रिया इत्यादि कह रहे हैं॥ २३॥

जीवास्ते ह्यासुराः सर्वे प्रवृत्तिं चेति वर्णिताः ।

प्रवाहीजीव आसुरी होते हैं, गीता में "प्रवृत्तिं च" इत्यादि वाक्यों में इनका वर्णन है।

ते च द्विधा प्रकीर्त्यन्ते ह्यज्ञदुर्ज्ञविभेदतः ॥२४॥

ये प्रवाहीजीव दो प्रकार के होते हैं - अज्ञ और दुर्ज्ञ।

दुर्ज्ञास्ते भगवत्प्रोक्ता ह्यज्ञास्ताननु ये पुनः ।

दुर्ज्ञ वो हैं , जिनके वारे में भगवान ने गीता में कहा है ; और ऐसे दुर्ज्ञ जीवों का जो अनुसरण कर रहे है वे अज्ञ हैं।

प्रवाहेऽपि समागत्य पुष्टिस्थस्तैर्न युज्यते ।

सोऽपि तैस्तत्कुले जातः कर्मणा जायते यतः ॥२५॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितः पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः समाप्तः

कभी ऐसा भी होता है कि पुष्टिजीव इन प्रवाहीजीवों के अंतर्गत जन्म लेता है किंतु फिर भी वो इनमें मिलता नहीं अपितु इन प्रवाहीजीवों से अलग ही रहता है।

अपने कर्मों के कारण वह इनके कुल में जन्म लेता है परंतु फिर भी इनमें मिलता नहीं॥ २५॥

यह श्रीवल्लभाचार्यविरचित पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद ग्रंथ समाप्त हुआ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

पुष्टिप्रवाहमर्यादा ।

श्रीश्रीवल्लभकृतविवरणसमेता ।

श्रीमत्पितृपदाम्भोजं नत्वा सर्वार्थसिद्धिदम् ।
आचार्यदर्शितं मार्गत्रयं व्याख्यातुमुद्यतः ॥१॥
हरिवागीशवागर्थो न स्वतो बुद्धिगोचरः ।
तत्कृपैव तदीयं मां ज्ञात्वार्थं बोधयिष्यति ॥२॥
इति निश्चित्य मनसि स्वाशक्तिं तत्कृपाबलम् ।
विवृतिः कर्तुमारब्धा तत्पदाब्जप्रसादतः ॥३॥

यद्यपि पुष्टिप्रवाहमर्यादामार्गाः गीताश्रीभागवतादावुक्ता एव, तथापीयदवधि विविच्य केनापि न प्रकटीकृता इति श्रीमदाचार्याः प्रमाणपूर्वकं विविच्य प्रकटीकर्तुं प्रतिजानते **पुष्टिप्रवाहमर्यादा इति** ।

पुष्टिप्रवाहमर्यादा विशेषेण पृथक् पृथक् ।
जीवदेहक्रियाभेदैः प्रवाहेण फलेन च ॥१॥

मार्गा इति शेषः । **विशेषेणेति** । तत्र विशेषा मार्गत्रयेपि प्रत्येकं पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदकृता विशेषाः । ते साङ्कर्याभावाय पृथक् निरूप्यन्ते । तत्र पूर्वं मार्गत्रयविभेदज्ञापकान् विशेषानाहुः **जीवदेहेति** । पुष्टिमार्गीया जीवाः वक्ष्यमाणमार्गद्वयजीवेभ्यो भिन्नाः । तेषां देहाः पुष्टिमार्गानुकूला भिन्ना एव । तन्मार्गदेहसम्बन्धिक्रिया अपि भिन्नाः । निरन्तरं तदनुसारिक्रियाप्रवहणं प्रवर्तनं प्रवाहः तेनापि भेदः । फलेन च । वक्ष्यमाणमार्गद्वयफलातिरिक्तफलेनापि भेदः । एवं प्रवाहमर्यादयोरपि । चकारात् साधनैरपि भेदः ॥१॥

समस्त सिद्धियों के प्रदाता श्रीमन्पितृचरणकमलों को नमन करके
आचार्यचरणों द्वारा प्रदर्शित तीन मार्गों की व्याख्या करने को मैं उद्यत हो रहा हूँ ॥ १ ॥
आचार्यचरणों की वाणी का अर्थ जानना स्वयं बुद्धिगम्य नहीं है ।
किंतु उनकी कृपा ही मुझे तदीय जानकर बोध करायेगी ॥ २ ॥
अतः अपनी अशक्ति एवं उनके कृपाबल का मन में निश्चय करके
मैं उनके चरणकमलों की कृपा से इस ग्रन्थ की विवृति करनी आरंभ करता हूँ ॥ ३ ॥

यद्यपि पुष्टिप्रवाहमर्यादा मार्ग गीता-भागवत आदि में कहे ही गये हैं, तथापि अब तक किसी ने भी इन मार्गों की विवेचना करके प्रकट नहीं किये अतः श्रीमदाचार्यचरण प्रमाणपूर्वक इन्हें विवेचित करके प्रकट करने की प्रतिज्ञा **पुष्टिप्रवाहमर्यादा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री पुष्टिप्रवाहमर्यादा को बता रहे हैं अर्थात् पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा इन तीन मार्गों को बता रहे हैं- यह अर्थ है। आचार्यचरणों का इन्हें विशेषरूप से कहने का तात्पर्य यह है कि, मार्ग तो तीनों के तीनों ही हैं परन्तु आपश्री प्रत्येक को पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा यों विशेष भेद करके कह रहे हैं। इन तीनों को कोई एक न समझ ले, अतः आपश्री इन्हें अलग-अलग निरूपित कर रहे हैं। अब आपश्री सर्वप्रथम इन तीन मार्गों के विभेद करने वाले विशेषणों को **जीवदेह** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि पुष्टिमार्गीयजीव आगे कहे जाने वाले प्रवाह एवं मर्यादा जीवों से भिन्न हैं। पुष्टिमार्गीयजीवों की देह पुष्टिमार्ग के अनुकूल होने के कारण बाकी दोनों मार्गों से भिन्न होती हैं। और, पुष्टिमार्गीय देहसंबंधी क्रियाएँ भी प्रवाह एवं मर्यादामार्गीयों से भिन्न होती हैं। इस श्लोक में "प्रवाहेण" शब्द का अर्थ है- निरंतर उन-उन मार्गों के अनुसार क्रिया का प्रवहण करना या प्रवर्तन करना या जीवनयापन करना; इस दृष्टि से भी पुष्टिमार्ग का अन्य दूसरे मार्गों से भेद है क्योंकि इन सभी मार्गों के जीवों की क्रियाएं परस्पर भिन्न होती है। **फलेन च** इत्यादि शब्दों का अर्थ है - पुष्टिमार्ग में मिलने वाला फल आगे कहे जाने वाले प्रवाह एवं मर्यादा दोनों मार्गों में मिलने वाले फलों से अतिरिक्त है अतः फल की दृष्टि से भी इन मार्गों में परस्पर भेद है। इसी प्रकार समझें कि प्रवाहमार्ग का पुष्टिमार्ग और मर्यादामार्ग से ; एवं मर्यादामार्ग का पुष्टिमार्ग और प्रवाहमार्ग से भेद है। च शब्द से इन तीनों मार्गों के साधनों में भी परस्पर भेद है ॥ १ ॥

एवं प्रकारभेदैर्वक्ष्यामीति कथनं प्रतिज्ञाय प्रतिज्ञायाः प्रयोजनमाहुः **सर्वेति** ।

वक्ष्यामि सर्वसन्देहा न भविष्यन्ति यच्छ्रुतेः ।

सर्वेषां मार्गत्रयाणां सन्देहाः संशयाः यस्य प्रकारभेदस्य श्रुतेः श्रवणात् कदापि कस्यापि न भविष्यन्ति । एवमुद्देशेन मार्गत्रयभेदमुक्त्वा लक्षणैराहुः । तत्र प्रथमं पुष्टिमार्गसद्भावे प्रमाणमाहुः **भक्तिमार्गस्येति** ।

भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः ॥२॥

यद्यपि भक्तिमार्गा मर्यादादिभेदेन बहव एव श्रीभागवतादावुक्ताः सन्ति, तथाच, कपिलदेवैरुक्तं 'भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यत' इत्यादि । तथा चैकादशेपि योगेश्वरैर्भक्तभेदकथने भक्तिभेदा उक्ता एव । तथापि शुद्धपुष्टिमार्गाचार्यैर्भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चय इति यदुक्तं तस्यायमाशयः । तत्र कपिलयोगेश्वराद्युक्तप्रकारेषु शुद्धपुष्टिलक्षणाभावात् न शुद्धपुष्टिभक्तित्वम् । अत एव शुद्धपुष्टिलक्षणमाहुः । 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः । स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा' इति नारदपञ्चरात्रकथनात् ।

तो "प्रकारभेदों द्वारा कहेंगे" यों प्रतिज्ञा करके अपनी प्रतिज्ञा का प्रयोजन आपश्री सर्व इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

आपश्री यह आज्ञा करते हैं कि - हम उस ढंग से प्रकारभेद करेंगे, जिसको सुनकर समस्त तीनों मार्गों के कोई भी संदेह कभी भी किसी को भी नहीं होंगे। इस प्रकार आपश्री नामों द्वारा तीनों मार्गों के भेद कह कर अब इनके लक्षणों द्वारा भेद कह रहे हैं। सर्वप्रथम पुष्टिमार्ग की सत्ता विद्यमान होने का प्रमाण आपश्री भक्तिमार्गस्य इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। यद्यपि मर्यादा आदि भेदों द्वारा अनेक भक्तिमार्ग श्रीभागवत आदि में कहे ही गये हैं। जैसे कपिलदेवजी ने "साधकों के भावों के अनुसार भक्तियोग का अनेक प्रकार से प्रकाश होता है(श्री०भा० ३-२९-७)" इत्यादि वाक्य कहे हैं। ठीक ऐसे ही एकादशस्कंध में योगेश्वरों ने भक्तों के भेद किये हैं जिनसे स्वयं भक्ति के भी भेद हैं. यह अपने आप ही ज्ञात हो जाता है। तथापि शुद्धपुष्टिमार्ग के आचार्य श्रीमन्महाप्रभुजी ने जो भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः यह कहा , उसका यह आशय है कि कपिल-योगेश्वर आदि द्वारा कहे प्रकारों में शुद्धपुष्टि के लक्षण नहीं हैं अतः उनके द्वारा कहे भक्तिमार्गों में शुद्धपुष्टिभक्ति नहीं है। अतः आचार्यचरणों ने शुद्धपुष्टिभक्ति के लक्षण "माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ़, सभी से अधिक भगवान में स्नेह होना भक्ति कही गयी है। उसी भक्ति से मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं (नारदपंचरात्रस्मृति १-८६)" इस नारदपञ्चरात्र के वाक्य द्वारा कहे हैं।

यद्यपि 'स्नेहो भक्ति'रित्येतावदेव मुख्यं भक्तिलक्षणम्, तथापि 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्त्वि'ति विशेषणकथनस्यायमभिप्रायः । प्रथमत एवाचार्यप्रकटितभक्तिमार्गे प्रवृत्तस्य यावत्सुदृढः सर्वतोधिकः स्नेहो भवति, तावत्सेवादिकरणे अपराधाभावार्थं माहात्म्यज्ञानस्योपयोगः। सुदृढस्नेहोत्पत्त्यनन्तरं तस्य स्वत एव निवृत्तेः[1] । अत एव पूर्णमाहात्म्यज्ञानवतां श्रीदेवकीमातृचरणानामपि शुद्धपुष्टिमार्गस्नेहोत्पत्त्यनन्तरं माहात्म्यज्ञानतिरोभावात् 'समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधी'रिति वचनम् । अन्यच्च । तत्रैव व्रजवासिनां सुदृढस्नेहवतामवस्थासाधनविरुद्धसर्वाशक्यश्रीगोवर्धनोद्धरणम्, तेन च क्षुत्पिपासाद्यसह्यशारीरधर्मविनिवर्त्तिपूर्वकं सपरिकरसर्वव्रजरक्षाकरणम् । आत्मयोगानुभावेन श्रीगोवर्धनोपरिस्थितपक्षिपश्वादिरक्षाकरणरूपात्यद्भुतानिर्वचनीयमाहात्म्यं दृष्ट्वापि वृष्टि निवृत्त्यनन्तरं श्रीगोवर्धनच्छायातः सर्वान् बहिरानीय, श्रीगोवर्धनं यथास्थानं सम्यक् स्थापयित्वा, बहिरागमनानन्तरं दृष्टमाहात्म्यस्मरणसम्भावनारहितैर्व्रजवासिभिर्व्रजसीमन्तिनीभिश्च भगवति दध्ना[2] तिलकं विधाय, तदुपरि अक्षतान् स्थापयित्वा, जलं श्रीभगवदुपरि भ्रामयित्वा, तज्जलपानेन तदनन्तरमाशीर्योजनेन सुदृढस्नेहवत्त्वात् स्नेहकार्यमेव सर्वैर्व्रजवासिभिः कृतम्, न तु माहात्म्यदर्शनजनितगौरवेण नमनविज्ञप्त्यादिकमपि । तदेवोक्तम्, 'तं प्रेमवेगान्निभृता व्रजौकस' इत्यादिना अतो यावत् सुदृढः स्नेहो भवति, तावदेव माहात्म्योपयोगः, न तु सुदृढस्नेहोत्पत्त्यनन्तरमपीति सर्वमनवद्यम् ।

देखा जाय तो "भगवान में परम स्नेह होना ही भक्ति है" इतना मात्र ही भक्ति का मुख्य लक्षण है तथापि "भगवान के माहात्म्यज्ञानपूर्वक स्नेह होना भक्ति है" यों विशेषरूप से कहने का अभिप्राय यह है कि आचार्यचरणों द्वारा प्रकटित भक्तिमार्ग में प्रथमतया प्रवृत्त होने वाले जीव को जब तक भगवान में सुदृढ स्नेह उत्पन्न न हो जाय, तब तक भगवत्सेवा आदि करने में वह कहीं सेवा में कोई अपराध न कर बैठे, इस कारण भगवान के माहात्म्यज्ञान की उपयोगिता या आवश्यकता है। सुदृढ़स्नेह हो जाने के अनन्तर माहात्म्यज्ञान तो स्वतः ही निवृत्त हो जाता है। देखिये, इसी कारण तो भगवान के पूर्णमाहात्म्य का ज्ञान रखनेवाली श्रीदेवकी आदि मातृचरणों को भी शुद्धपुष्टिमार्गीयस्नेह उत्पन्न हो जाने के पश्चात् उन्हें भगवान का माहात्म्यज्ञान तिरोहित हो गया और उन्होंने "आपके लिये मैं कंस से

१. निवृत्ति । २. दध्नादितिलकम् ।

बहुत डर रही हूँ । मुझे डर लग रहा है कि आपको कहीं कंस आकर ले न जाये(श्री०भा० १०-३-२९)....इत्यादि वाक्य कहे थे । यदि उनके भीतर भगवान के माहात्म्य का ज्ञान बना रहा होता, तो वे इस प्रकार भयभीत क्यों होतीं ? इसके अतिरिक्त भी देखिये कि, भगवान से सुदृढ़स्नेह करने वाले व्रजवासियों के लिये भगवान ने अपनी अवस्था एवं साधन से विरुद्ध एवं कोई भी न कर सके ऐसे गोवर्धनपर्वत उठाया एवं भूखप्यास इत्यादि असह्य शारीरिकधर्मों से उनकी निवृत्ति करवा कर परिकरसहित समस्त व्रज की रक्षा की । तब तक किसी व्रजवासी को भूखप्यास नहीं लगी । इन सभी बातों से उन्हें भगवान के माहात्म्य का ज्ञान हो जाना चाहिये था, किन्तु , भगवान द्वारा अपने आत्मयोग के प्रभाव से श्रीगोवर्धनपर्वत के ऊपर स्थित पक्षी-पशु इत्यादि की रक्षा करने जैसा उनका अति अद्भुत अनिर्वचनीय माहात्म्य देखने पर भी, वर्षा थमने पर सभी को श्रीगोवर्धनपर्वत की छाया से बाहर निकाल कर, श्रीगोवर्धनपर्वत को यथास्थान भलीभाँति पधरा कर, बाहर आने पर समस्त व्रजवासियों को फिर भी इन सभी माहात्म्यदर्शन के स्मरण की सम्भावना भी न रही एवं उन्होंने और व्रजगोपिकाओं ने भी भगवान की रक्षा करने के लिये उन्हें दही का तिलक लगाया, उन्हें अक्षत लगाया, उन पर जल घुमा कर उस जल को पिया एवं भगवान को आशीर्वाद भी दिया । उन्हें भगवान से सुदृढ़स्नेह था अतः उन्होंने ये सभी स्नेह के ही कार्य किये ; भगवान के माहात्म्यज्ञान के दर्शन से उत्पन्न होने वाली भगवान की श्रेष्ठता के कारण उन्हें प्रार्थना या नमन इत्यादि नहीं किया । यही बात "व्रजवासियों का हृदय प्रेम के आवेग से भर रहा था । गोवर्धन पर्वत को रखते ही वे श्रीकृष्ण के पास दौड़े चले आये । कोई उन्हें हृदय से लगाने लगा तो कोई चूमने । बड़ी-बूढ़ी गोपियों ने स्नेहपूर्वक दही-चावल-जल से उनका तिलक किया(श्री०भा० १०-२५-२९)" इत्यादि श्लोकों में कही गयी है । अतः जब तक भगवान में सुदृढ़स्नेह न हो जाये, तब तक ही माहात्म्यज्ञान की आवश्यकता है, सुदृढ़स्नेह उत्पन्न हो जाने के पश्चात् नहीं अतः मैंने जो कहा वह ठीक ही है ।

एतदेव भक्तिमीमांसायां शाण्डिल्यैरपि 'अथातो भक्तिजिज्ञासे'त्युक्त्वा 'सा परानुरक्तिरीश्वर'इत्येव भक्तिलक्षणमुक्तम् । नतु माहात्म्यज्ञानपूर्वकत्वमपि । अत एव यत्र परानुक्तिः, तत्र परानुरक्तेरेव सर्वात्मना प्राबल्यम्, न तु माहात्म्यज्ञानसहभावस्यापि । अत एव श्रीगोकुले मृत्स्नाभक्षणप्रस्तावे श्रीमुखव्यादानानन्तरं सम्पूर्णब्रह्माण्डदर्शनानन्तरं पूर्णमाहात्म्यज्ञाने जातेपि श्रीमातृचरणानां परमानुरक्तिवशात् माहात्म्यज्ञानस्यैव तिरोभावः, न तु पुत्रत्वभावस्यापि । तस्मात् माहात्म्यज्ञानाद्युपाधिरहितः साक्षाद्धर्मिस्वरूपपर्यवसायी सुदृढः ज्ञानादिसर्वानपनोद्यः सर्वतोधिकः अगणितानन्दरूपः अतुल्यातिशयः एतादृशः स्नेह एव भक्तिपदवाच्यः । एतादृग्भक्तिमार्गस्य कथनात् प्रमाणपूर्वकं निरूपणात् पुष्टिमार्गोस्तीति निश्चयः, यथा श्रीगोकुले ।

यही बात शाण्डिल्य ने भी भक्तिमीमांसा में "अब भक्ति की जिज्ञासा का विचार आरंभ किया जाता है(शांडि० भ०सू०-१)" यह कह कर "ईश्वर में परम अनुरक्ति होनी भक्ति है(शांडि० भ०सू०-२)" इस वाक्य द्वारा भक्ति का लक्षण कहा है । उन्होंने माहात्म्यज्ञानसहित भक्ति की बात नहीं कही । इसलिये जहाँ ईश्वर में परम अनुरक्ति है, वहाँ परम अनुरक्ति की ही प्रबलता है , माहात्म्यज्ञानसहितभक्ति की नहीं। अत एव श्रीगोकुल में मिट्टि खाने वाले प्रसङ्ग में श्रीमुख खोलने पर जब माता यशोदा को भगवान के मुख में सम्पूर्णब्रह्माण्ड के दर्शन हुए, तब उन्हें भगवान के पूर्णमाहात्म्य का ज्ञान तो हुआ भी, तथापि उन्हें भगवान के प्रति परम अनुरक्ति थी अतः उनमें से माहात्म्यज्ञान का ही तिरोभाव हुआ, पुत्रभाव का नहीं । इस कारण माहात्म्यज्ञान आदि उपाधि से रहित, साक्षात् धर्मिस्वरूप में रहनेवाला, सुदृढ़स्नेह जो ज्ञान आदि से भी नष्ट नहीं होता ऐसा सर्वतोधिक, अगणितानन्दरूप, अतुल्य-अतिशय स्नेह ही भक्ति के नाम से कहा जाता है । आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि- ऐसा भक्तिमार्ग गीताभागवत आदि में प्रमाणपूर्वक कहा गया है अतः पुष्टिमार्ग की सत्ता विद्यमान है यह निश्चित है । ऐसी पुष्टि की सत्ता श्रीगोकुल में विद्यमान है ।

अत एव श्रीमदाचार्यैरुक्तं 'निःसाधनफलात्मायं प्रादुर्भूतोस्ति गोकुले'इति । अत एव श्रीगोवर्धनोद्धरणप्रस्तावे 'तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रह'मित्यादिना भगवता सप्तदिवसधारणेन लोके जीवानां देवऋषिपितृआत्माआत्मीयऐहिकपारलौकिक इति सप्त रक्षकाः प्रसिद्धाः, तद्रक्षातः पृथक्कृत्य स्वसम्बन्धस्थापनेन स्वयमेव रक्षाकरणेन केवलस्वीयत्वसम्पादनं पुष्टिस्वरूपमिति ज्ञापनायाचार्यैरुक्तं पुष्टिरस्तीति निश्चय इति ॥२॥

अत एव श्रीमदाचार्यचरणों ने कहा - यह निःसाधनों के फलात्मा श्रीकृष्ण गोकुल में प्रादुर्भूत हो चुके हैं(सुबो०टि०१०-५-२८)" । अत एव श्रीगोवर्धनोद्धरण के प्रसङ्ग में "यह सारा व्रज मेरे ही आश्रित है, मैं एकमात्र इसका रक्षक हूँ । मैं अपनी योगमाया से इसकी रक्षा करूँगा(श्री०भा० १०-२५-१८)" इस श्लोकानुसार भगवान ने सात दिनों तक श्रीगोवर्धन को धारण किया । इस लोक में जीवों के देव-ऋषि-पितृ-आत्मा-आत्मीय-ऐहिक-पारलौकिक ये सात प्रसिद्ध रक्षक हैं । भगवान ने उन्हें इन सात रक्षकों से पृथक करके उन

व्रजवासियों का अपने संग संबंध स्थापित किया और स्वयं उनकी रक्षा करने के द्वारा केवल स्वीयत्व का संपादन किया, उन्हें अपन बनाया, यह पुष्टिस्वरूप है - यह बताने के लिये आचार्यचरणों ने "पुष्टिमार्ग की सत्ता निश्चित है" यह कहा ॥ २॥

एवं पुष्टिस्वरूपमुक्त्वा प्रवाहस्वरूपमाहुः ।

'द्वौ भूतसर्गौ'वित्युक्तेः प्रवाहोपि व्यवस्थितः ।
वेदस्य विद्यमानत्वान्मर्यादापि व्यवस्थिता ॥३॥

गीतासु 'द्वौ भूतसर्गौ लोकेस्मि'न्नित्यारभ्य 'मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गति'मित्यन्तं प्रवाहलक्षणस्योक्तत्वात् आसुरजीवा एव प्रवाहपदवाच्याः । तेषां कदापि कुत्रापि 'मामप्राप्यैवे'ति भगवद्वाक्यात् भगवत्सम्बन्धाभावात् आनन्दराहित्याच्च प्रावाहिकत्वमेव । नदीप्रवाहपतिततृणकाष्ठादिवत् कुत्रापि स्थितिगतिपर्यवसानाभावात् प्रवाहरूपत्वमेव । यद्यपि तेषां अन्धतमःप्रवेशरूपा आसुरी मुक्तिरस्ति, तथापि तस्याः सुखदुःखात्यन्ताभावरूपत्वेनानन्दशून्यत्वात् प्रवाहरूपतैवेति ज्ञापनाय भगवतोक्तम्, 'ततो यान्त्यधमां गति'मिति । तस्या मुक्तेरधमत्वात् प्रवाहरूपैवेत्याचार्यैरुक्तं **'द्वौ भूतसर्गावित्युक्तेः प्रवाहोपि व्यवस्थित** इति ।

इस प्रकार पुष्टिस्वरूप कह कर आचार्यचरण अब अग्रिमश्लोक में प्रवाहस्वरूप कह रहे हैं।

गीता में "हे अर्जुन ! इस संसार में दैवी और आसुरी ये दो प्रकार की सृष्टि होती है(भ०गी० १६/६)" इस श्लोक से आरंभ करके "हे अर्जुन ! आसुरीयोनि को प्राप्त हुए मूढ़ मनुष्य जन्म-जन्म में मुझे कभी भी प्राप्त न होकर और फिर उससे भी अधम गति में गिरते हैं(भ०गी० १६-२०)" इस श्लोक तक प्रवाह के लक्षण कहे गये हैं अतः प्रवाहपद से आसुरजीव ही कहे गये हैं। ऐसे आसुरीजीवों को कदापि , कहीं भी "मामप्राप्यैव(भ०गी० १६-२०)" इस भगवद्वाक्यानुसार भगवान का संबंध नहीं होता एवं वे आनंद से रहित होते हैं, सो वे प्रवाहरूप ही हैं। नदी के प्रवाह में गिरे हुए तिनके या लकड़ी की भाँति उनकी कहीं भी एक स्थल पर स्थिति नहीं होती या उनकी गति रुकती नहीं, ये बहे चले जाते हैं अतः वे प्रवाहरूप ही हैं। यद्यपि ऐसे आसुरीजीवों की अन्धतमःप्रवेशरूपा आसुरीमुक्ति होती है तथापि वह मुक्ति सुखदुःख समाप्त हो जाने के कारण आनन्दशून्यरूपा प्रवाहरूपमुक्ति ही होती है- यह बताने के लिये भगवान ने "आसुरी अधम गति में गिरते हैं(भ०गी० १६-२०)" यों कहा। वह मुक्ति अधमरूप होने के कारण वह प्रवाहरूप ही है अतः आचार्यचरणों ने द्वौ भूतसर्गावित्युक्तेः प्रवाहोपि व्यवस्थितः यह कहा।

एवं प्रवाहलक्षणमुक्त्वा मर्यादालक्षणमाहुः **वेदस्येति** । वेदस्येति सामान्यकथनात् काण्डद्वयात्मको वेद उक्तः, तत्र काण्डद्वयेपि मर्यादाया निरूपितत्वात् । तत्र पूर्वकाण्डे कर्ममर्यादा निरूपिता, उत्तरकाण्डे ज्ञानमर्यादा निरूपितेति वेद एव मर्यादाद्वयसत्त्वे प्रमाणमित्युक्तम् । एवं कर्ममर्यादाज्ञानमर्यादासत्त्वे वेद एव प्रमाणमिति ज्ञापनायाचार्यैरुक्तं वेदस्य विद्यमानत्वान्मर्यादापि व्यवस्थितेति ॥३॥

इस प्रकार प्रवाह के लक्षण कह कर अब आचार्यचरण वेदस्य इत्यादि शब्दों से मर्यादामार्ग के लक्षण कह रहे हैं। आपश्री ने सामान्यरूप से वेद कहा है, जिससे आपश्री दो काण्डों वाला वेद कहना चाहते हैं। इन दोनों काण्डों में मर्यादामार्ग का निरूपण है। पूर्वकाण्ड में कर्ममर्यादा का एवं उत्तरकाण्ड में ज्ञानमर्यादा का निरूपण है अतः वेद ही कर्ममर्यादा एवं ज्ञानमर्यादा इन दोनों प्रकार की मर्यादा की सत्ता होने में प्रमाण है। इस प्रकार कर्ममर्यादा एवं ज्ञानमर्यादा की सत्ता विद्यमान होने में वेद ही प्रमाण है- यह बताने के लिये आचार्यचरणों ने वेदस्य विद्यमानत्वान्मर्यादापि व्यवस्थिता यह कहा॥ ३॥

एवं मर्यादासत्त्वे प्रमाणं निरूप्य कर्ममार्गज्ञानमार्गयोरपि भक्तित्वमाशङ्क्य निराकुर्वन्ति कश्चिदेवेति ।

'कश्चिदेव हि भक्तो हि यो मद्भक्त'इतीरणात् ।
सर्वत्रोत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः ॥४॥
न सर्वोतः प्रवाहाद्धि भिन्नो वेदाच्च भेदतः ।
'यदा यस्ये'ति वच'श्चाहं वैदै'रितीरणात् ॥५॥

अस्यायमर्थः । कर्ममार्गस्य सकामनिःकामभेदेन द्विरूपत्वम् । तथाचोक्तं भगवद्गीतायां, 'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते । ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् । ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति । एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते' इति भगवद्वाक्यात् सकामकर्ममार्गीयाणां लौकिककामासक्तत्वात्र भक्तिगन्धोपि । निःकामकर्ममार्गीयाणामपि चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन ज्ञानमार्गपर्यवसायित्वमेव,

न तु भक्तिपर्यवसायित्वमिति न भक्तित्वम् ।

इस प्रकार से मर्यादामार्ग की सत्ता विद्यमान होने का प्रमाण देकर आचार्यचरण आगे के श्लोक में कर्ममार्ग एवं ज्ञानमार्ग दोनों को भक्तिमार्ग ही मान लेने की शंका का निराकरण कश्चिदेव इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

इस श्लोक का अर्थ है - कर्ममार्ग "सकाम" एवं "निःकाम" यों दो प्रकार का है। यह बात भगवद्गीता में 'हे अर्जुन ! तीनों वेदों में वर्णित कर्मों को करने वाले, सोमरस पीने वाले पापरहित मनुष्य स्वर्गप्राप्ति के लिये यज्ञों द्वारा मेरी अप्रत्यक्षरूप से आराधना करते हैं। वे अपने पुण्य से स्वर्गलोक को प्राप्त होकर देवताओं के भोगों को भोगते हैं। वे उस स्वर्गीय विषयसुख को भोग कर पुण्य क्षीण हो जाने पर फिर इस मृत्युलोक में ही गिरते हैं। इस प्रकार वैदिक कर्मकाण्ड से उन्हें क्षणभंगुर सुख की ही प्राप्ति होती है। वे जन्म-मृत्यु रूप चक्र में पड़े रहते है(भ०गी० ९-२०,२१)" इस भगवद्वाक्यानुसार सकाम कर्ममार्गीय लौकिककामासक्त होते हैं अतः उनमें भक्ति की गन्ध भी नहीं होती। निष्काम कर्ममार्गीयों को भी चित्तशुद्धि होकर ज्ञानोत्पत्ति होती है अतः वे भी ज्ञानमार्ग को ही प्राप्त होते हैं, भक्तिमार्ग को नहीं।

ननु मर्यादामार्गीयज्ञानस्य 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति ब्रह्मविषयत्वात् भक्तित्वमस्तु, इति चेत्, सत्यम् । यद्यपि मर्यादामार्गीयज्ञानस्य ब्रह्मविषयत्वमस्ति, तथापि शुद्धज्ञानमार्गे ब्रह्मपदस्याक्षरपर्यवसानात् न भक्तिरूपत्वम् । यथा 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्,' 'तदेषाभ्युक्ता, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्, सोश्नुते सर्वान कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति श्रुत्या । श्रुत्यन्तरेणापि 'न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् । हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति' इत्यादिश्रुतिभिर्मुक्तिफलत्वेन ब्रह्मस्वरूपज्ञानमुक्तम् । ज्ञानमार्गे 'यो वेद निहितं गुहाया'मित्युक्तत्वात् हृदयाकाश एव अक्षरब्रह्मस्वरूपचिन्तनं मुक्तिसाधनत्वेनोक्तम् । श्रुत्यन्तरेपि 'हृदा मनीषां मनसाभिक्लृप्तो य एनं विदु'रिति कथनात् ब्रह्मस्वरूपं प्रादेशमात्रमङ्गुष्ठमात्रं वा हृद्येव कल्पयित्वा हृद्येव दर्शनम्, न तु भक्तिमार्गवत् बहिरपीति । अत एवाचार्यैरुक्तं वेदस्य विद्यमानत्वात् मर्यादापि व्यवस्थितेति । एतावत्येव वेदोक्तज्ञानमार्गमर्यादा ।

कोई यदि ये शंका करता हो कि, "ब्रह्मवेत्ता परमात्मा को प्राप्त कर लेता है(तै०उ० २-१-१)" इस वाक्यानुसार मर्यादामार्गीयज्ञान तो ब्रह्म के विषय में ही तो है अतः उसमें भक्ति तो है ही ; तो, बात ठीक है तथापि समझिए कि मर्यादामार्गीयज्ञान ब्रह्म के विषय में भले हो, किन्तु शुद्धज्ञानमार्ग में ब्रह्मपद अक्षरब्रह्म के अर्थ में प्रयुक्त होता है इसलिये उसमें भक्ति नहीं है। जैसे कि "ब्रह्मवेत्ता परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है। जो पुरुष उसे बुद्धिरूप परम आकाश में निहित जानता है, वह सर्वज्ञ ब्रह्मरूप से एक साथ ही सम्पूर्ण भोगों को प्राप्त कर लेता है (तै०उ० २-१-१)" एवं अन्य श्रुतियों में भी "इस आत्मा का रूप दृष्टि में नहीं ठहरता। इसे नेत्र से कोई नहीं देख सकता। जो इस परमात्मा को शुद्धबुद्धि से ब्रह्मरूप जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं (कठो० २-३-९ ; श्वेता० उप० ४-२०; महानारा० उप०)" इत्यादि वाक्यों में ब्रह्मस्वरूप के ज्ञान से मुक्ति मिलती है-यह कहा गया है, भक्ति के लिये नहीं कहा गया। ज्ञानमार्ग में "यो वेद निहितं गुहायां(तै०उ० २-१-१)" यह कहा गया है अतः वहाँ मुक्ति के साधन के रूप में हृदयरूपी आकाश में ही अक्षरब्रह्मस्वरूप का चिंतन करना कहा गया है। अन्य दूसरी श्रुतियों में भी "इस आत्मा का रूप दृष्टि में नहीं ठहरता। इसे नेत्र से कोई नहीं देख सकता। जो इस परमात्मा को शुद्धबुद्धि से ब्रह्मरूप जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं (कठो० २-३-९ ; श्वेता० उप० ४-२०; महानारा० उप०)" यह कहा होने से वहाँ हृदय में ही प्रादेशमात्र या अङ्गुष्ठमात्र ब्रह्म की कल्पना करके हृदय में ही ब्रह्म का दर्शन किया जाता है, वहाँ भक्तिमार्ग की भाँति प्रभु हृदय से बाहर पधार कर आनंद नहीं देते। अत एव आचार्यचरणों ने वेदस्य विद्यमानत्वान्मर्यादापि व्यवस्थिता यों कहा। यही वेद में कही ज्ञानमार्ग की मर्यादा है।

एवं मर्यादाव्यवस्थामुक्त्वा अग्रे कश्चिदेव हि भक्तो हीति कथनस्यायमाशयः । पूर्वोक्तमर्यादामार्गीयस्यापि कदाचिद्भगवदनुग्रहेण भगवद्भक्तसङ्गेन वा यदि भगवति स्नेहोत्पत्तिर्भवेत्, तदा तस्यापि मर्यादामार्गीयभक्तत्वेन भगवत्प्रियत्वं भवति । अत एव गीतायां श्रीभगवतोक्तं 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च । निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी । सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः । मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रिय' इति । कश्चिदेवेतिकथनात् ज्ञानमार्गीयभक्तिप्राप्तौ दुर्लभत्वमुक्तम् । हीति युक्तश्चायमर्थः । एकवारं हिशब्दस्य युक्तार्थत्वमुक्त्वा पुनर्हिशब्दकथनस्यायमाशयः । मर्यादामार्गीयो यदा मर्यादामार्गीयभक्तसङ्गत्या भक्तः स्यात्, तदा जडभरतवत् प्रसिद्ध एव भवेदिति प्रसिद्धत्वज्ञापनार्थं हिशब्दः ।

इस प्रकार से मर्यादामार्ग की व्यवस्था बता कर आगे आचार्यचरणों ने जो कश्चिदेव हि भक्तो हि यह कहा, उसका यह आशय है कि- पूर्व में कहे ऐसे मर्यादामार्गीयजीव को भी यदि कभी भगवान के अनुग्रह से अथवा तो किसी भगवद्भक्त के संग से भगवान में स्नेहोत्पत्ति

हो जाय, तो वह भी मर्यादामार्गीयभक्त के रूप में भगवान का प्रिय बन जाता है। अत एव गीता में श्रीभगवान ने "जो किसी से द्वेष नहीं करता और सबका निस्वार्थ कृपामय मित्र है। जो ममता और मिथ्या अहंकार से रहित, सुखदुःख की प्राप्ति में समान और क्षमावान है तथा जो लाभ-हानि में सदा सन्तुष्ट रहता है, दृढ़निश्चय सहित भक्तियोग के परायण है और जिसने अपने मन-बुद्धि को मुझ में ही अर्पण कर रखा है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है(भ०गी० १२-१३,१४) .....यह कहा है। कश्चिदेव(कोई विरला ही) यह कहने से ज्ञात होता है कि ज्ञानमार्गीयभक्ति भी प्राप्त होनी बड़ी दुर्लभ है। हि इस अर्थ की युक्तता बताने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। एक बार प्रयुक्त हुआ हि शब्द युक्त अर्थ को बताने के लिये है किन्तु दूसरी बार हि का प्रयोग करने का आशय यह है कि, मर्यादामार्गीयजीव जब किसी मर्यादामार्गीयभक्त का संग करने से भक्त बनेगा,तो वह भी जड़भरत की भाँति प्रसिद्ध होगा- इस प्रसिद्धि को बताने के लिये है।

ननु मर्यादामार्गेपि भक्तिकथनान्मर्यादामार्गीयभक्तेः पुष्टिभक्तेश्च समत्वं भवत्वित्याशङ्कानिरासायाहुः 'सर्वत्रोत्कर्षकथनादिति । श्रीभागवतगीतादिषु 'भक्तियोगो बहुविध' इति यावन्तो भक्तिभेदा उक्तास्तेभ्यः सर्वेभ्यः उत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः सिद्धः । उत्कर्षश्च यथा गीतायां 'तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योपि मतोऽधिकः । कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुने' त्युक्त्वा 'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मत' इति भजनस्यैव सर्वोत्कर्षकथनात् । साक्षाद्भजनं पुष्टिमार्ग एव, न तु मर्यादाभक्तावपि । श्रीभागवते भगवद्वचनं 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः । न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे'ति । तथा श्रुतिरपि 'तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथाविद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन । आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे' इति श्रुतावपि भजनस्यैवोक्तत्वात् तद्भजनं पुष्टिमार्गे एवेति सर्वत्र पुष्टिमार्गस्यैवोत्कर्ष उक्त इति ज्ञापनायोक्तं सर्वत्रोत्कर्षकथनात् । सर्वमार्गेभ्यः पुष्टिरुत्कृष्टेति ज्ञापनायोक्तं पुष्टिरस्तीति निश्चयः निर्गलितार्थः ।

किन्तु यहाँ शंका यह होती है कि, "मर्यादामार्ग में भी भक्ति है" यह कहने से मर्यादामार्गीय एवं पुष्टिमार्गीय दोनों भक्ति समान हैं, यों अर्थ आ जाता है ; तो इसका निराकरण आपश्री आगे **सर्वत्रोत्कर्षकथनात्** इन शब्दों से कर रहे हैं। श्रीभागवतगीतादि में "साधकों के भावों के अनुसार भक्तियोग का अनेक प्रकार से प्रकाश होता है(श्री०भा० ३-२९-७) ..... इत्यादि वाक्यों में भक्ति के जितने भी भेद कहे हैं, उन सभी की तुलना में पुष्टिभक्ति को सर्वोत्कृष्ट बताया गया है अतः पुष्टिमार्ग विद्यमान है, यह निश्चय होता है, सिद्ध होता है। और पुष्टिभक्ति का उत्कर्ष तो गीता के "योगी पुरुष सब तपस्वियों, ज्ञानियों और सकाम कर्मियों से श्रेष्ठ माना गया है(भ०गी० ६-४६)" इस वाक्य से लेकर "किन्तु सब योगियों में भी जो योगी श्रद्धाभाव से मेरे परायण होकर प्रेममय भक्तियोग के द्वारा मेरी सेवा करता है, वह परमश्रेष्ठ है(भ०गी ६-४७)..... इत्यादि वाक्यों द्वारा बताया गया है, जहाँ भजन को ही सर्वोत्कर्ष बताया गया है। और, भगवान का साक्षात् भजन तो पुष्टिमार्ग में ही संभव है, मर्यादाभक्ति में नहीं। श्रीभागवत में भी "जो योगी मेरी भक्ति से युक्त और मेरे चिन्तन में मग्न रहता है, उसके लिये ज्ञान या वैराग्य की आवश्यकता नहीं होती। उसका कल्याण तो प्रायः मेरी भक्ति से हो जाता है(श्री०भा० ११-२०-३१)" इस भगवद्वचन और "तमु स्तोतारः..... सुमतिं भजामहे" इस श्रुति में भी भजन ही करना कहा गया है और वैसा भजन तो पुष्टिमार्ग में ही है अतः सर्वत्र पुष्टिमार्ग का ही उत्कर्ष कहा गया है- यह बात बताने के लिये आपश्री ने **सर्वत्रोत्कर्षकथनात्** ये कहा। फलितार्थ यह है कि, समस्त मार्गों की तुलना में पुष्टि का उत्कर्ष है- यह बताने के लिये पुष्टि की सत्ता विद्यमान है- यह निश्चित होता है।

तथा च गीतायां 'यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् । स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारते'ति कथनात् सर्वभावेन भजनं पुष्टिमार्ग एव, न त्वन्यत्रापीति । सर्वोपि । प्रकारभेदभिन्नः सर्वोपि भक्तिमार्गः मिलितः कदाचिदेतत्समो भविष्यतीत्याशङ्कानिरासायाहुः न सर्व इति । एतत्पुष्टिमार्गसमः सर्वः सर्वोपि कोपि मार्गो न । अतः पुष्टिमार्गः प्रवाहाद्भिन्नः । वेदादपि वेदनिरूपितमर्यादामार्गादपि भिन्नः । कुतः । भेदतः । स्वरूपसाधनफलभेदतः । भेदादित्यर्थः ।

यही बात गीता में "हे अर्जुन ! जो मुझे निश्चितरूप से पुरुषोत्तम जानता है, वह सब कुछ जानता है और पूर्णरूप से मेरे भक्तियोग के परायण हो जाता है(भ०गी० १५-१९)"... इस वाक्य द्वारा कही गयी है अतः सर्वभाव से भजन तो पुष्टिमार्ग में ही है, अन्यत्र कहीं नहीं। अब हम **सर्वोपि** इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं। यदि किसी को यह शंका हो कि, भिन्न-भिन्न प्रकार के समस्त भक्तिमार्ग यदि एकसाथ मिला दिये जाएँ तो कदाचित् पुष्टिमार्ग के समान हो सकते हैं , तो आचार्यचरण इसका निराकरण **न सर्वो** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि, यदि सारे मार्ग मिल जाएं तब भी इस पुष्टिमार्ग के समान तो कोई भी नहीं है।

---

१. सर्वस्मिन् भक्तिमार्गेऽस्य स्नेहभक्तिरूपस्योत्कर्षकथनात् ।

अतः पुष्टिमार्ग प्रवाह से भिन्न है। वेदादपि अर्थात् वेदनिरूपित मर्यादामार्ग से भी पुष्टिमार्ग भिन्न है। कैसे भिन्न है ? तो कहते हैं "स्वरूप-साधन-फल इन समस्त भेदों की दृष्टि से भिन्न है"।

अत्र भेदे प्रमाणान्तरमप्याहुः यदा यस्येतिवचनादिति । 'यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः । स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिता' मिति । यदा यस्यानुगृह्णाति भगवान् पुष्टिमार्गे, 'अनुगृह्णाति' इति पदाद्यदा अनुग्रहं करोति, तदैव पुष्टिमार्गे प्रवेशो भवति, तदा [1]प्रवाहतो मर्यादातोपि पृथक्करोति । अत एव सिद्धान्ते 'अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक' इत्याचार्यवचनम् । गीतास्वपि 'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया । शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा । भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तपे'ति । 'अनन्यभक्त्ये'ति वचनात् पुष्टिरूपया भक्त्या द्रष्टुं शक्य इति भक्तिमार्गस्य साक्षाद्दर्शनहेतुत्वम्, न तु ज्ञानमार्गवत् मनस्येवेति नियमः । इत्याद्यनेकहेतुभ्यः सर्वोत्कृष्टत्वात् प्रवाहमार्गान्मर्यादामार्गाच्च भेद उक्तः ॥५॥

आपश्री इन भेदों को बताने के लिये अन्य प्रमाण भी यदा यस्येति वचनात् इत्यादि वाक्यों द्वारा दे रहे हैं। "हृदय में बार-बार चिन्तन किये जाने पर भगवान जिस समय जिस जीव पर कृपा करते हैं, वह लौकिकव्यवहार एवं वैदिक कर्ममार्ग की बद्धमूल आस्था का त्याग कर देता है(श्री०भा० ४-२९-४६)"- यह श्लोक भागवत का है, जिसका अर्थ है -भगवान जब जिस पर अनुग्रह करते हैं, तब वह अपनी लोक-वेद में परिनिष्ठित बुद्धि त्याग देता है। फलितार्थ यह है कि भगवान जब जिस पर पुष्टिमार्ग के अंतर्गत अनुग्रह करते हैं(इस श्लोक में "अनुग्रह्णाति" पद आया है, जिसका तात्पर्य है-भगवान जब अनुग्रह करते हैं) तब ही उसका पुष्टिमार्ग में प्रवेश होता है और तब वे उसे प्रवाहमार्ग एवं मर्यादामार्ग से भी पृथक कर देते हैं।अतएव सिद्धान्तमुक्तावलीग्रन्थ में आचार्यचरणों ने "पुष्टिमार्ग में मूलकारण भगवान का अनुग्रह है(१८)" यह सिद्धान्त निरूपित किया है। गीता में भी भगवान ने 'हे अर्जुन ! मेरे जिस रूप को तू अपने नेत्रों से देख रहा है, उसे न वेदों से, न तप से, न दान से और न पूजा से जाना जा सकता है। इन साधनों के द्वारा मेरा साक्षात्कार नहीं हो सकता(भ०गी ११-५३) ...." यह कहा है। इस श्लोक में "अनन्यभक्ति द्वारा" इन वचनों से यह कहा गया है कि पुष्टिरूपा भक्ति द्वारा जीव भगवान को देख सकता है अर्थात् तात्पर्य यह हुआ कि भक्तिमार्ग में भगवान के साक्षात् दर्शन होने संभव बनते हैं ; ज्ञानमार्ग की भाँति केवल मन में ही दर्शन होते हो ऐसा नहीं है- यह नियम है। ऐसे अनेक हेतुओं से पुष्टिमार्ग सर्वोत्कृष्ट होने के कारण आचार्यचरणों ने इस मार्ग का प्रवाहमार्ग एवं मर्यादामार्ग से भेद कहा है॥ ५॥

अत्र कश्चित् पूर्वपक्षी शङ्कते **मार्गैकत्व** इति ।

मार्गैकत्वेऽपि चेदन्त्यौ तनू भक्त्यागमौ मतौ ।
न तद्युक्तं सूत्रतो हि भिन्नो युक्त्या हि वैदिकः ॥६॥

त्रयाणां पुष्टिप्रवाहमर्यादामार्गाणां एकत्वमेव, भक्तिरूपत्वमेव । अस्यायमर्थः । यद्यपि पुष्टिमार्गस्य भक्तित्वमुभयवादिसम्मतमेव, तथापि अन्त्यौ प्रवाहमर्यादे तनू भक्त्यङ्गभूते । एवं सति ते अपि भक्त्यागमौ भक्तिप्रतिपादकशास्त्ररूपे मताविति तयोर्भक्त्यङ्गत्वं यद्ब्रवीषि, तत्र प्रमाणसिद्धम् । तत्प्रमाणपूर्वकं तयोर्भक्त्यङ्गत्वं निराकुर्वन्ति न तद्युक्तमिति । तत्र प्रवाहमार्गस्य भक्त्यङ्गत्वनिराकरणे प्रमाणमाहुः **सूत्रतो हीति** । सूत्रं भक्तिमीमांसासूत्रम् । तद्यथा । 'तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात्' । अस्यार्थस्तु, तत्संस्थस्य भक्तिमार्गप्राप्यपुरुषोत्तमनिष्ठस्य अमृतत्वम् । [2]तन्मार्गीयस्य साक्षाद्भगवत्सम्बन्धस्यामृतत्वोपदेशात् । अमृतत्वकथनादिति भक्तिमार्गीयसाधनफले निरूपिते । उपदेशस्तु, 'अनिमित्ता भागवती भक्तिर्मुक्तेर्गरीयसी' । 'राजन्पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां दैवं प्रियः कुलपतिः क्वच किंकरो च'। 'अस्त्वेवमेव भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोग'मित्यादि । प्रवाहमार्गस्य 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चे'त्यारभ्य 'मामप्राप्यैवे'त्यन्तेन सर्वात्मना स्वसम्बन्धाभावकथनेन । अथ च भक्तिमार्गीयमुक्तेरमृतत्वकथनेन च प्रवाहमार्गीयमुक्तेरथमगतित्वकथनेन च प्रवाहमार्गस्य न भक्त्यङ्गत्वमिति त्वदुक्ताङ्गत्वशङ्का निरस्ता ।

अब कोई पूर्वपक्षी **मार्गैकत्वे** इत्यादि शब्दों से कुछ शंका करते हैं। अध्येताओं की सुविधा के लिये पूर्वपक्षी की शंका कोष्ठक में रख दी गयी है ताकि अध्येताओं को पता चल सके कि पूर्वपक्ष कहाँ से आरंभ हो रहा है और कहाँ तक पूर्ण हो रहा है। कोष्ठक पूर्ण होने के बाद उत्तरपक्ष आरंभ हो रहा है।[[शंका यह है कि, पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा ये तीनों मार्ग एक ही हैं क्योंकि ये सभी भक्तिरूप ही हैं अर्थात्

---

१. प्रवाहात् । अस्यैव व्याख्यानं प्रकारभेदभिन्नः सर्वोपि । २. पूर्वपक्षोट्टंकनं तु श्रीमत्कल्याणरायपादैर्दर्शितमत्रापि बोध्यम् । तथाहि । ननु प्रवाहमर्यादामार्गयोरपि व्यवहारशुद्धिसाधकत्वे भक्त्युपयोगात् अङ्गाङ्गिभावेनैको भक्तिमार्ग एवास्त्विति । ३. सूत्रं फलपरत्वेन व्याख्याय साधनपरत्वेनापि व्याकुर्वन्ति तन्मार्गीयस्येत्यादि । ४. पुरुषोत्तमनिष्ठस्यामृतत्वं फलम् । साक्षाद्भगवदनुग्रहलक्षणस्तत्सम्बन्धः साधनं च निरूपितमित्यर्थः ।

इन तीनों का लक्ष्य भक्ति ही है । इस शंका का अर्थ यह है कि, यद्यपि सभी मार्गों को एक बताने वाले एवं पुष्टिमार्ग को सर्वोत्कर्ष बताने वाले दोनों ही पक्ष यह तो मानते ही हैं कि पुष्टिमार्ग भक्तिरूप तो है ही तथापि ये कहते हैं कि अन्त्यौ अर्थात् बाकी बचे प्रवाह एवं मर्यादा मार्ग दोनों तनू हैं अर्थात् भक्ति के अंगभूत हैं । इस प्रकार ये दोनों भी भक्त्यागमौ अर्थात् भक्ति का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र के रूप में मतौ अर्थात् मान्य किये गये हैं)। किंतु इस प्रकार से अर्थ करके जो लोग प्रवाह एवं मर्यादा मार्ग को भक्ति का बतलाते हैं, वह प्रमाणसिद्ध नहीं है । ये दोनों भक्ति के अंग नहीं हैं, इसी बात का आचार्यचरण न तद्युक्तं इत्यादि शब्दों से प्रमाणपूर्वक निराकरण कर रहे हैं । इसमें प्रवाहमार्ग को भक्ति का अंग मानने का निराकरण करते हुए प्रमाण देने के लिये आपश्री सूत्रतो हि इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । सूत्रं का अर्थ है- भक्तिमीमांसासूत्र । और भक्तिमीमांसा का सूत्र है- तत्संस्थस्यामृत्त्वोपदेशात्(शां०भ०सू०-३) । इस सूत्र का अर्थ यह है कि,- उस भक्तिमार्ग द्वारा प्राप्त हुए पुरुषोत्तम में जो निष्ठ है, उसे साक्षात् भगवत्संबंधरूपी अमृत की प्राप्ति होती है । "उसे अमृत मिलता है" - इस कथन द्वारा भक्तिमार्गीय साधन और फल का निरूपण किया गया है । इसी सूत्र का उपदेश श्रीमद्भागवत में भी "हे माता ! मनुष्य की वेदविहित कर्मों एवं विषयों का ज्ञान कराने वाली कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रिय दोनों प्रकार की इन्द्रियों की श्रीहरि के प्रति जो स्वाभाविक प्रवृत्ति है, वही भगवान की अहैतुकी भक्ति है । यह मुक्ति से भी बढ़कर है(श्री०भा० ३-२५-३३)", "हे राजन् ! भगवान दूसरे भक्तों के भी अनेकों कार्य कर सकते हैं और उन्हें मुक्ति भी दे सकते हैं परन्तु मुक्ति से भी बढ़कर जो भक्तियोग है, उसे सहज में नहीं देते(श्री०भा० ५-६-१८)" .... इत्यादि वाक्यों द्वारा दिया गया है । ठीक इसी प्रकार प्रवाहमार्ग भी भक्ति का अंग नहीं है- इसका प्रमाण देने के लिये "हे अर्जुन ! आसुरी स्वभाव वाले नहीं जानते कि क्या करना है और क्या नहीं करना चाहिए। उनमें न अन्तःकरण की शुद्धि, न सदाचार, और न सत्य होता है(भ०गी १६-७)" से लेकर "हे अर्जुन ! आसुरी योनि को प्राप्त हुए मूढ़ मनुष्य जन्म-जन्म में मुझे प्राप्त न होकर और फिर उससे भी अधम गति में गिरते हैं(भ०गी० १६-२०)" यहाँ तक भगवान ने यह कहा है कि ऐसे आसुरीजीवों को उनका संबंध कभी नहीं होता । और, भक्तिमार्गीयमुक्ति को अमृत एवं प्रवाहमार्गीयमुक्ति को अधमगति कहा होने के कारण भी प्रवाहमार्ग भक्ति का अंग नहीं है- यह सिद्ध हो जाता है अतः आपकी कही शंका यहाँ निरस्त हो जाती है ।

एवं प्रवाहमार्गस्य भक्त्यङ्गत्वं निराकृत्य मर्यादामार्गस्यापि भक्त्यङ्गत्वं निराकुर्वन्ति युक्त्या हि वैदिक इति । भिन्न इति शेषः । युक्त्येत्येकवचनं जात्यभिप्रायेण । तत्रैता युक्तयः । भगवद्गीतासु द्वादशाध्याये, 'एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते । ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमा' इति अर्जुनेन भक्तिज्ञानयोस्तारतम्यप्रश्ने कृते सति, भगवता 'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते । श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मता' इति भक्तिमार्गोत्कर्षमुक्त्वा, तदनन्तरं ज्ञानमार्गस्य अक्षरपर्यवसायित्वेन तारतम्यज्ञापनार्थं 'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते । सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् । सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः । ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः । क्लेशोधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् । अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते'। अत्र भगवता 'ते प्राप्नुवन्ति मामेवे'ति यदुक्तम्, तदक्षरस्य पुरुषोत्तमविभूतिरूपत्वात् ज्ञानमार्गस्याक्षरपर्यवसायित्वज्ञापनार्थम् । तत्प्राप्तौ 'सन्नियम्येन्द्रियग्राम' मित्यारभ्य 'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यत' इत्यन्तेन साधनानां क्लेशसाध्यत्वमुक्तम् ।

इस प्रकार से प्रवाहमार्ग को भक्ति का अंग कहने की शंका का निराकरण करके अब आपश्री मर्यादामार्ग को भी भक्ति का अंग मानने की शंका का निराकरण **युक्त्या हि वैदिकः** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं । तात्पर्य यह कि वैदिकमार्ग पुष्टिमार्ग से भिन्न है । भले ही "युक्त्या" शब्द एकवचन होने से यों लगता है कि इस तथ्य को मानने में केवल एक ही युक्ति होगी परंतु यहाँ "युक्ति" शब्द जाति-अभिप्राय से एकवचन में प्रयुक्त हुआ है; तात्पर्य यह कि इसे प्रमाणित करने में एक नहीं अनेक युक्तियाँ हैं । जैसे कि, भगवद्गीता के द्वादशाध्याय में "हे कृष्ण ! जो आपकी भक्ति करते हैं और जो निराकार ब्रह्म की उपासना करते हैं, इन दोनों में अधिक सिद्ध कौन हैं० ? भ०गी० १२-१)" इस प्रकार से जब अर्जुन ने भगवान से भक्ति एवं ज्ञान में क्या अंतर है? यह प्रश्न किया, तब भगवान ने "हे अर्जुन ! जो मुझमें मन को एकाग्र बना कर परमश्रद्धा से मेरा भजन करते हैं, उन्हें मैं सिद्धयोगी मानता हूँ(भ०गी० १२-२)" इस वाक्य द्वारा भक्ति का उत्कर्ष कह कर इसके पश्चात् ज्ञानमार्ग की पहुँच केवल अक्षरब्रह्म तक है , इस प्रकार से भेद बताने के लिये "जो इन्द्रियों को वश में करके और सभी में समभाव रखते हुए परमसत्य के अव्यक्त, इन्द्रियों से अतीत, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, नित्य, अचलब्रह्मस्वरूप की भलीभाँति उपासना करते हैं, वे प्राणीमात्र के हित में संलग्न योगी भी अन्त में तो मुझे ही प्राप्त करते हैं । परन्तु जो निराकार-निर्विशेष अक्षरब्रह्म में आसक्त हैं, उनको परमात्मा की प्राप्ति होनी अधिक कठिन है क्योंकि देहाभिमानियों को यह अव्यक्त विषयक ब्रह्म की प्राप्ति अति कठिनाई से होती है(भ०गी० १२-३,४,५)" ये वचन कहे । यहाँ भगवान ने जो "वे मुझे ही प्राप्त

करते हैं" यह कहा है, उसका तात्पर्य यह है कि, अक्षरब्रह्म तो पुरुषोत्तम का विभूतिरूप होने के कारण ज्ञानमार्ग केवल अक्षरब्रह्म तक ही सीमित है- यह बताना चाह रहे हैं। और, अक्षरब्रह्म की प्राप्ति करने में "जो इन्द्रियों को वश में करके" से लेकर "क्योंकि देहाभिमानियों को यह अव्यक्त विषयक ब्रह्म की प्राप्ति अति कठिनाई से होती है" यहाँ तक के वाक्यों से यह बताया कि, अक्षरब्रह्म की प्राप्ति बड़ी क्लेशसाध्य है।

एतदग्रे 'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय । निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशय' इति भक्तिमार्गसाधनानां सुखरूपत्वकथनेन अनायासेन स्वप्राप्तिहेतुत्वमुक्तम् । 'मय्येवे'त्येवकारेण पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वं च । यद्यपि पूर्वं 'ते प्राप्नुवन्ति मामेवे'त्यत्रैवकारेण पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वमपि सम्भवति, तथापि तत्र 'ये त्वक्षर'मित्येवोद्दिश्य 'मामेवे'त्युक्तत्वात् 'मा'मितिपदस्याक्षरपर्यवसायित्वमेव, अत्र तु 'मय्येव मन आधत्स्वे'ति सुखरूपभक्तिमार्गमुद्दिश्य कथनेन 'मय्येव'पदं पुरुषोत्तमपरमेव । एवं 'मर्यादामार्गविभेदिकामेकां युक्तिमुक्त्वा अन्यां युक्तिमाहुः । 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः । न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे'ति । यत्र भक्तियुक्तस्य मर्यादामार्गीयज्ञानस्य श्रेयस्त्वेनापि नोपयोगः, तत्र मर्यादामार्गीयज्ञानस्य तदुत्तराङ्गस्य वैराग्यस्यापि भक्त्यङ्गत्वाभावे किं वाच्यमित्यपि युक्तिः ।

इसके आगे भगवान ने "अपने मन को मुझमें ही एकाग्र बनाओ, संपूर्णबुद्धि को मुझमें ही लगाकर मेरा ही चिन्तन करो, तो मुझको ही प्राप्त करोगे(भ०गी १२-८)" इस वाक्य द्वारा यह बताया है कि भक्तिमार्गीयसाधन करने बड़े सुखरूप हैं एवं बिना प्रयास के ही अपनी प्राप्ति हो जानी बतायी है। इस श्लोक में भगवान ने "मुझमें ही" यह कहा है अतः इसका तात्पर्य पुरुषोत्तम की प्राप्ति हो जानी ही है। यद्यपि पूर्व के श्लोक में(अर्थात् १२-३,४,५ वाले श्लोक में) भी भगवान ने "वे मुझे ही प्राप्त करते हैं" यह कहा है, जिससे एकबारगी यों लगता है कि इन श्लोकों में भी पुरुषोत्तम को ही प्राप्त करने की बात होगी, तथापि ध्यान दीजिए कि वहाँ "जो अक्षरब्रह्म" यों अक्षरब्रह्म के अर्थ में बात उठाकर "वे मुझे ही प्राप्त करते हे" यों कहा गया था इसलिये वहाँ "माम्" पद का अर्थ अक्षरब्रह्म ही है, पुरुषोत्तम नहीं। यहाँ तो "मयि एव मन आधत्स्व (मुझ में ही मन लगाओ)" ये वाक्य भगवान ने सुखरूप भक्तिमार्ग को उद्देश्य करके कहा गया है अतः इस श्लोक में "मयि" पद का अर्थ पुरुषोत्तम ही है। इस प्रकार से मर्यादामार्ग से विभेद करने वाली एक युक्ति कह कर अब "जो योगी मेरी भक्ति से युक्त और मेरे चिन्तन में मग्न रहता है, उसे मेरे ज्ञान अथवा वैराग्य की आवश्यकता नहीं होती(श्री०भा० ११-२०-३१)" इस श्लोक द्वारा आपश्री अन्य युक्ति भी कह रहे हैं। इस श्लोक के अनुसार जहाँ भक्ति करने वाले को मर्यादामार्गीयज्ञान की भी आवश्यकता नहीं होती भले ही वे कल्याणकारी धर्म क्यों न हों , तो वहाँ मर्यादामार्गीयज्ञान एवं उसके पश्चात् आनेवाला वैराग्य भी भक्ति का अंग नहीं बन सकता, इससे अधिक और क्या कहें-यह भी एक युक्ति है।

युक्त्यन्तरमपि । 'नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः । ज्ञानिनां चात्मपोतानां यथा भक्तिमतामिहे'त्यत्र 'गोपिकासुत' इति भगवति पूर्णपुरुषोत्तमत्वमुक्त्वा तस्य भक्तिमतां सुखावाप्तिकथनेन ज्ञानिनामक्षरप्राप्तौ क्लेशयुक्तसाधनत्वकथनेन भक्तिमार्गे पुरुषोत्तमः प्राप्यः, स च अनायासेनैव प्राप्यः । ज्ञानमार्गे अक्षरप्राप्तिः, सापि तु अधिकतरक्लेशेनेति भक्तिमार्गभेदिका युक्तयः किमतोधिकं वाच्या इति ज्ञापनायोक्तं भिन्नो **युक्त्या हि वैदिक** इति । पूर्वं **सूत्रतो हीति** हिशब्देन सूत्रप्रामाण्येन प्रवाहमार्गस्य भक्तिमार्गाङ्गत्वाभावस्य युक्तत्वं ज्ञापितम् । **युक्त्या हि वैदिक** इत्यत्र युक्तीनां गीताश्रीभागवतादिषु मर्यादामार्गस्य भक्तिमार्गाङ्गत्वाभावप्रसिद्धिद्योतनाय हिशब्दः ॥६॥

युक्तियाँ और भी हैं। जैसे "यह गोपिकासुत भगवान अपने अनन्यप्रेमियों के लिये जितने सुलभ हैं, उतने देहाभिमानी कर्मकाण्डियों एवं तपस्वियों और ज्ञानियों के लिये भी नहीं हैं(श्री०भा० १०-९-२१)" इस श्लोक में "गोपिकासुत" इस शब्द से भगवान को पूर्णपुरुषोत्तम बता दिया गया है एवं इस पुरुषोत्तम की प्राप्ति भक्ति करने वाले को बड़े सुखपूर्वक हो जायेगी- यह भी बता दिया गया है ; ज्ञानियों को अक्षरब्रह्म की प्राप्ति करने में बड़ा क्लेश होगा, यह भी कह दिया गया है। एवं भक्तिमार्ग में पुरुषोत्तम प्राप्त होते हैं और वह भी बिना प्रयास के ही। ज्ञानमार्ग में अक्षरब्रह्म की प्राप्ति होगी, वह भी अत्यधिक क्लेश से। अतः अब इससे अधिक भक्तिमार्ग को भिन्न बताने वाली और कितनी युक्तियाँ कहें , यह बताने के लिये आचार्यचरण भिन्नो युक्त्या हि वैदिकः यों कह रहे हैं। पूर्व में सूत्रतो हि में हि शब्द भक्तिसूत्र के प्रमाण द्वारा प्रवाहमार्ग को भक्तिमार्ग का अंग मानने का निराकरण करने के लिये प्रयुक्त हुआ है। एवं युक्त्या हि वैदिक में

---

१ 'एव'मित्यारभ्य 'आहु'रित्यन्तं 'तस्मान्मद्भक्ती'त्यादिग्रन्थस्य केनचिल्लिखित आभासो लेखकदोषान्मध्ये पतित इति भाति, असङ्गतत्वात् । इति टिप्पणं एकप्राचीनादर्शे । भगवत्कर्तृकत्वं वा कल्प्यं क्रियायाम् ।

प्रयुक्त हुआ हि शब्द युक्तियों द्वारा गीता, श्रीभागवत आदि में मर्यादामार्ग को भक्तिमार्ग का अंग मानने का निराकरण करने में प्रयुक्त हुआ है, अर्थात् यह बात तो गीता-भागवत सर्वत्र प्रसिद्ध ही है- इस अर्थ में ॥ ६ ॥

एवं सूत्रयुक्तिभ्यां प्रवाहमर्यादयोः पुष्टिमार्गाङ्गत्वाभावं निरूप्यातः परं पुष्टिमार्गस्थानां जीवदेहकृतीनां मार्गद्वयापेक्षया सर्वात्मना सर्वप्रकारकोत्कर्षज्ञापनाय मार्गद्वयस्थजीवदेहकृतीनां स्वरूपं निरूपयन्ति **जीवदेहकृतीनामिति** ।

जीवदेहकृतीनां च भिन्नत्वं नित्यता श्रुतेः ।
यथा तद्वत्पुष्टिमार्गे द्वयोरपि निषेधतः ॥७॥
प्रमाणभेदाद्भिन्नो हि पुष्टिमार्गो निरूपितः ॥७$^{1}/_{२}$॥

प्रवाहमार्गे जीवा आसुराः, दैवजीवेभ्यो भिन्नाः, तेषां देहा भगवद्भजनप्रातिकूल्यात् दैवदेहेभ्यो भिन्नाः । तेषां कृतिरपि स्वार्थं पशुहिंसादिरूपा दैवजीवकृतेः सकाशाद्भिन्ना एव । एवं मर्यादामार्गेपि मर्यादामार्गीया दैवजीवाः प्रवाहमार्गीयासुरजीवेभ्यो भिन्नाः । तेषां देहा अपि वैदिकधर्मभगवत्पूजाद्यानुकूल्यात् आसुरजीवदेहेभ्यो भिन्नाः । तेषां कृतिरपि अग्निहोत्रादिश्रौतकर्मकरणेन मर्यादामार्गोक्तभगवत्पूजादिकरणेन ज्ञानोत्पत्त्यनुकूलत्यागादिकरणेन च भिन्नैव ।

इस प्रकार सूत्र एवं युक्तियों द्वारा "प्रवाहमर्यादामार्ग भक्ति के अंग नहीं है" यह निरूपित करके अब आपश्री पुष्टिमार्गीयों की जीव-देह-कृति की इन दोनों मार्गों से सभी प्रकार से उत्कृष्टता बताने के लिये प्रवाहमार्गीय एवं मर्यादामार्गीयों की जीव-देह-कृति के स्वरूप का निरूपण **जीवदेहकृतीनां** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं- प्रवाहमार्ग के जीव आसुरी होते हैं, वे दैवजीवों से भिन्न होते हैं, उनकी देह भगवद्भजन के प्रतिकूल होने के कारण दैवीदेह से भिन्न होती है। उनकी कृति भी स्वार्थवश पशुहिंसा आदि करने वाली होती है, जो दैवजीव की कृति से भिन्न ही है। इस प्रकार, मर्यादामार्ग में भी मर्यादामार्गीय-दैवजीव प्रवाहमार्गीय-आसुरजीवों से भिन्न हैं। उनकी देह भी वैदिकधर्म-भगवत्पूजा इत्यादि के अनुकूल होने के कारण आसुरजीवों की देह से भिन्न होती है। उनकी कृति भी अग्निहोत्र आदि श्रौतकर्म करते होने के कारण, मर्यादामार्ग में कही भगवत्पूजा आदि करने के कारण एवं ज्ञानप्राप्ति के लिये त्याग किया जाता होने के कारण सबसे भिन्न ही है। ध्यातव्य है कि मर्यादामार्ग में ज्ञानप्राप्त करने के लिये त्याग किया जाता है और भक्तिमार्ग में विरह का अनुभव करने के लिये त्याग किया जाता है। अतः इस दृष्टि से भी ये दोनों मार्ग भिन्न हैं।

ननु भवता प्रवाहमर्यादयोर्जीवदेहकृतीनां भिन्नत्वं निरूपितम्, तत्र यथा मार्गद्वयेपि देहकृतीनानित्यत्वं प्रतीयते, तथा मार्गद्वयजीवानामप्यनित्यत्वं भवत्वित्याशङ्क्यां निराकुर्वन्ति **नित्यतेतिपदेन** । तत्र हेतुः श्रुतेः । तत्रेयं श्रुतिः । 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नो अभिचाकशीति' इतिश्रुत्या अन्तर्यामिनित्यत्ववत् जीवस्य नित्यत्वं साधितमिति न जीवानामनित्यत्वम् ।

अब कोई पूर्वपक्षी यह शंका करता है कि, आपने परस्पर प्रवाहमर्यादामार्गीयों के जीव-देह-कृति आदि भिन्नतया बताये ; किन्तु सामान्यतया प्रतीत यह होता है कि, इन दोनों ही मार्गों में देह और कृति अनित्य होती हैं। ठीक वैसे ही इन दोनों ही मार्गों के जीव भी अनित्य होने चाहिए !! (नित्य और अनित्य का अर्थ समझें। अनित्य का अर्थ है मिट जाने वाला या समाप्त हो जाने वाला एवं नित्य का अर्थ है शाश्वत या सदा विद्यमान रहने वाला। तात्पर्य यह कि देह एवं कृति तो अनित्य है अर्थात् मिट जाती है या समाप्त हो जाती है किंतु जीव की सत्ता बनी रहती है अर्थात् जीव नित्य है) इस शंका का निराकरण करते हुए आचार्यचरण **नित्यता** इत्यादि शब्दों से यह आज्ञा कर रहे हैं कि- इन मार्गों के जीव तो नित्य हैं एवं उनकी देह एवं कृति भी नित्य है। जीव एवं उनकी देहकृति ये सभी नित्य क्यों है ? इसका हेतु "मनुष्य शरीर मानो एक वृक्ष है एवं ईश्वर और जीव ये सदा साथ में रहनेवाले पक्षी हैं जो मनुष्य के हृदयरूपी घोसले में निवास करते हैं। जीव तो उस मनुष्यरूपी वृक्ष के सुखदुःखरूपी फलों को अपने कर्मों के अनुसार भोगता है परन्तु ईश्वर इनमें न जुड़ते हुए केवल देखता रहता है(मु० उप० ३-१-१)" इस श्रुति में दिया गया है, जहाँ अन्तर्यामि के नित्य होने की भाँति जीव को भी नित्य सिद्ध किया गया है, अनित्य नहीं।

अथवा । एवं मार्गद्वये जीवदेहकृतीनां भिन्नत्वं निरूप्य मार्गद्वयजीवदेहकृतीनां नित्यत्वकथनस्यायमाशयः । तत्र जीवानां नित्यत्वं सर्ववादिसम्मतमस्त्येव, परं यद्यपि देहकृतीनां नित्यत्वं न प्रतीयते, तथापि देहकृतीनां नित्यता श्रुतेरिति नित्यत्वकथनस्यायमाशयः ।

---

१. ज्ञानोत्पत्त्यनुकूलेति पाठः ।

प्रवाहमार्गीयो जीवो यदा उत्पद्यते, देहान्तरं गृह्णाति, तदा पूर्वदेहलक्षणयुक्तमेव देहं गृह्णाति, प्राचीनदेहकर्मानुसारेणैवं कर्म करोति, न तु पूर्वदेहपरावृत्तौ देहान्तरं प्राप्तमिति पूर्वदेहधर्मपरावृत्तिरपि भवति । एवमेव पूर्वकर्मणोपि । एवं प्रतिजन्मनि देहधर्मकर्मणां तादृशत्वम् । न तु विपर्यासः । एवं देहकृतीनां प्रावाहिकरीत्या नित्यत्वज्ञापनायोक्तं नित्यतेति । तत्र हेतुः श्रुतेरिति । श्रुतिश्च 'सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्, यदिदं किंच तत्सत्यमित्याचक्षते'इति ।

अथवा, तो आचार्यचरणों द्वारा प्रवाह-मर्यादा इन दोनों मार्गों के जीव-देह-कृति को भिन्न बता कर इन दोनों मार्गों के जीव-देह-कृति को नित्य कहने का आशय अब हम बताते हैं। वैसे जीवों के नित्य होने की बात तो सभी स्वीकारते हैं परंतु लोगों को देह-कृति के नित्य होने की बात समझ में नहीं आती तथापि आचार्यचरणों ने देहकृतीनां नित्यता श्रुतेः इत्यादि शब्दों से इन्हें नित्य बताया, उसका आशय यह है कि- प्रवाहमार्गीयजीव जब उत्पन्न होते हैं, तब वे कोई दूसरी देह लेकर उत्पन्न होते हैं ; किंतु फिर भी वे पूर्वदेह के लक्षणों से युक्त देह लेकर ही उत्पन्न होते हैं। वे फिर प्राचीनदेह के कर्मों के अनुसार ही कर्म करते हैं। ऐसा नहीं है कि पूर्वदेह न रही और नूतन देह प्राप्त हुई तो पूर्वदेह के धर्म भी नष्ट हो गये। पूर्वधर्म तो विद्यमान रहते ही हैं और इसी प्रकार पूर्वकर्म भी विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक जन्मों में देह-धर्म-कर्म इत्यादि वही के वही रहते हैं, बदलते नहीं। इस प्रकार से देह एवं कृति का प्रवाह चलता रहता है अतः उनकी प्रावाहिक रीति से नित्यता बनी रहती है- यह बताने के लिये आपश्री ने इनकी नित्यता कही है। इसका कारण स्वयं श्रुतिवाक्य है। श्रुति कहती है - "सत्यस्वरूप परमात्मा ही सत्य और झूठ- इन सबके रूप में हो गये। इसीलिये ज्ञानीजन कहते हैं कि यह जो कुछ देखने, सुनने और समझने में आता है, वह सब का सब सत्यस्वरूप परमात्मा है(तै०उ० २-६)"।

अथवा । देहकृतीनां नित्यता लिङ्गशरीराभिप्रायेण । एवं मर्यादामार्गेपि जीवदेहकृतीनां नित्यता ज्ञेया । एवं यथा प्रवाहमर्यादामार्गीययोर्जीवदेहकृतीनां भिन्नत्वं नित्यत्वं चोक्तम्, तथा पुष्टिमार्गेपि जीवदेहकृतीनां भिन्नत्वं नित्यत्वं चाहुः तद्वत्पुष्टिमार्ग इति । यद्यपि पुष्टिमार्गे जीवा दैवा एव, तथापि तेषां मर्यादामार्गीयदैवजीवेभ्यो वैलक्षण्यं दर्शयन्ति । यद्यपि मर्यादामार्गीयजीवा दैवाः, पुष्टिमार्गीया जीवाश्च दैवा एव, तथापि द्वयोरपि दैवजीवत्वेपि मर्यादामार्गीयजीवादीनां निषेधपूर्वकं पुष्टिमार्गीयजीवादीनां भिन्नत्वं चाहुः, द्वयोरपि निषेधत इति । तत्र भेदप्रकारः । दैवत्वेपि पुष्टिमार्गे 'अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक' इति वचनात् पुष्टिमार्गीयजीवानामनुग्रहविशिष्टत्वम्, न तु मर्यादामार्गीयजीववद्विध्यधीनत्वमपि । किञ्च । पुष्टिमार्गीयजीवानां 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति श्रुत्या साक्षात्पुरुषोत्तमवरणात् साक्षात्पुरुषोत्तमप्राप्तिरेव । मर्यादामार्गीयाणां तदभावादक्षरप्राप्तिरेव । यथा मर्यादामार्गीयदेहस्याग्निहोत्राद्यनुकूलत्वम्, तथा पुष्टिमार्गीयदेहस्य शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यप्रकटितभगवत्सेवापरत्वमेव, न त्वन्यपरत्वमिति देहभेदः । देहभेदनिरूपणेन कृतेरपि देहाधीनत्वात् 'कृतीनां भेदः सिद्ध एवेति नानुपपन्नं किञ्चित् ।

अथवा तो यों समझ लीजिए प्रवाहमार्गीयों कि देह-कृति की नित्यता लिंगशरीर के अभिप्राय से कही गयी है। नेत्रों से दिखाई देने वाले बाह्यशरीर को स्थूलशरीर कहते हैं। स्थूलशरीर के भीतर एक लिंगशरीर होता है, जो अंगुष्ठमात्र के आकार का होता है। इसी लिंगशरीर के भीतर आत्मा का निवास होता है। व्यक्ति के पाप-पुण्य दोनों का हिसाब हो जाने के पश्चात् यही लिंगशरीर फटता है और आत्मा मुक्त होकर ब्रह्म में मिल जाता है। इसे मर्यादामार्गीयमुक्ति कहते हैं। जाननेवाली बात यह है कि, चाहे लाखों-हजारों देह क्यों न बदल जाएँ किंतु लिंगशरीर तो वही का वही रहता है। इसी ढंग से मर्यादामार्ग में भी जीव-देह-कृति की नित्यता समझ लेनी चाहिए। इस प्रकार से जैसे प्रवाह-मर्यादामार्गीय जीव-देह-कृति की भिन्नता एवं नित्यता बतायी गयी, वैसे ही पुष्टिमार्ग में भी जीव-देह-कृति की अन्य मार्गों से भिन्नता एवं नित्यता आचार्यचरण तद्वत्पुष्टिमार्गे इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। यद्यपि पुष्टिमार्ग में जीव दैवी ही होते हैं , तथापि आचार्यचरणों ने मर्यादामार्गीय दैवीजीवों से इनकी विलक्षणता दिखाई है। अब मुद्दा यह है कि, यद्यपि मर्यादामार्गीयजीव दैवी हैं एवं पुष्टिमार्गीयजीव भी दैवी ही हैं, तथापि दोनों मार्गों के जीव दैवी होने पर भी आचार्यचरण मर्यादामार्गीयजीवों का निषेध करते हुए पुष्टिमार्गीय जीव-देह-कृति आदि की भिन्नता द्वयोरपि निषेधतः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। और इनका भेद इस प्रकार से है कि, दैवी होने पर भी पुष्टिमार्ग में "पुष्टिमार्ग में भगवान का अनुग्रह ही मूल कारण है(सि०मु०-१८)" इस वाक्यानुसार पुष्टिमार्गीयजीवों पर भगवान का विशेष अनुग्रह होता है ; मर्यादामार्गीयजीव की भांति वे विधि के अधीन नहीं होते। मर्यादामार्गीय जीवों को ब्रह्म की प्राप्ति वेद में कही विधि के अनुसार ही होगी, यह अर्थ है। मर्यादामार्ग में देवता आवाहन आदि प्रक्रिया से प्रकट होंगे, विसर्जन आदि से विसर्जित होंगे। विधिपूर्वक निवेदित की गयी वस्तु का ही अंगीकार करेंगे। विधिपूर्वक ही फल देंगे। मर्यादामार्ग में विधि की प्रधानता है, स्नेह की गौणता है। पुष्टिमार्ग में विधि की गौणता है एवं स्नेह की प्रधानता है ; कहीं कहीं तो विधि की तनिक भी

१. परावृत्तिरिति शेषः । २. ऐक्यनिषेधपूर्वकमित्यर्थः । ३. कृतिभेदः ।

आवश्यकता नहीं है। देखें "वैदिकतान्त्रिकदीक्षार्चनादिविधिभिर्यः अस्पृष्टो (भक्तिरंस)। और भी, "यह परमात्मा न तो वेद के प्रकर्ष वचनों द्वारा, न बहुत सुनने से, न बुद्धि से ही प्राप्त हो सकता है परन्तु यह परमात्मा जिसका वरण कर लेता है, उसी को प्राप्त हो सकता है(कठो०उप० १-२-२३)" इस श्रुति के अनुसार पुष्टिमार्गीयजीवों का साक्षात् पुरुषोत्तम द्वारा वरण होता है अतः उन्हें पुरुषोत्तम की ही प्राप्ति होती है ; मर्यादामार्गीयों का वरण साक्षात् पुरुषोत्तम द्वारा नहीं होता अतः उन्हें अक्षरब्रह्म की ही प्राप्ति होती है। जैसे मर्यादामार्गीयदेह अग्निहोत्रादि के अनुकूल होती है , वैसे पुष्टिमार्गीयदेह शुद्धपुष्टिमार्गीय-आचार्य द्वारा प्रकटित भगवत्सेवा के लिये ही होती है ; अन्य किसी के लिये नहीं - यह देह का भेद है। अब यदि देह का भेद है , तो कृति भी तो देह के अधीन है अतः कृतियों का भेद भी सिद्ध हो गया इसलिये आपश्री के कहे प्रकार में कुछ भी अनुचित नहीं है।

अथवा । यद्यपि पुष्टिमार्गीयजीवदेहकृतीनां पूर्वोक्तप्रावाहिकरीत्या नित्यत्वमस्त्येव, तथापि प्रकारान्तरेणापि नित्यत्वमुच्यते । साक्षात्पुष्टिपुष्टिभक्तानां साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धिफलानुभवयोग्यदेहानां नित्यत्वमेव । अन्यथा श्रीगोकुलवासिनां 'ते तु ब्रह्महृदं नीता'इति मुक्त्यनुभवकालेपि तेनैव देहेन मुक्त्यनुभवः । तदनन्तरं तेनैव देहेन सर्वेषां यथायोग्यं भक्तिमार्गीयफलानुभवः । यदि पुष्टिमार्गीयसाक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धिफलानुभवयोग्यदेहानां नित्यता न स्यात्, तदा मुक्त्यनुभवकाले स्थितिर्नस्यात् । तस्मात् पुष्टिमार्गीयदेहानां नित्यत्वमेवेति नानुपपन्नं किञ्चित् । एवं फलोपयोगिदेहनित्यत्वनिरूपणेनैव साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धिफलानुभवयोग्यकृतीनां नित्यत्वमनुक्तसिद्धमितिदिक् ।

अथवा यों अर्थ करें कि , यद्यपि पुष्टिमार्गीय के जीव-देह-कृति आदि भी पूर्व में कहे प्रवाहमार्ग की रीति से नित्य हैं ही, तथापि अब हम दूसरे प्रकार से भी इनकी नित्यता कह रहे हैं। साक्षात्पुष्टिपुष्टिभक्त अर्थात् साक्षात् पुरुषोत्तमसम्बन्धि-फलानुभव की योग्यता रखने वाली पुष्टिमार्गीयदेह की नित्यता तो है ही क्योंकि श्रीगोकुलवासियों को "जिस जलाशय में भगवान अक्रूरजी को ले गये थे, उसी ब्रह्मस्वरूप ब्रह्महृद में भगवान गोपों को ले गये। गोपों ने उसमें डुबकी लगायी और तब भगवान ने उन्हें बाहर निकाल कर उन्हें अपने परमधाम का दर्शन कराया(श्री०भा० १०-२८-१६)" इस वाक्य के अंतर्गत मुक्ति का अनुभव करते समय भी गोपों को उसी देह से मुक्ति का अनुभव हुआ ; वर्ना तो मुक्ति के समय देह की सत्ता ही नहीं रहती ! अतः इससे सिद्ध होता है कि पुष्टिमार्गीयों की देह नित्य होती है। इसके अनन्तर भी उसी देह के द्वारा उन सभी को यथायोग्य भक्तिमार्गीयफल का अनुभव हुआ। यदि साक्षात्पुरुषोत्तमसंबन्धि-फलानुभव की योग्यता रखने वाले पुष्टिमार्गीयों की देह नित्य न होती, तो मुक्ति का अनुभव करते समय उनकी देह निवृत्त हो गयी होती। अतः पुष्टिमार्गीय देहों की नित्यता तो है ही और इसमें कुछ भी अप्रामाणिक नहीं है। फलोपयोगिदेह की नित्यता का निरूपण करने से ही साक्षात्पुरुषोत्तमसंबन्धि-फलानुभव के योग्य उनकी कृतियों की नित्यता तो कहे बिना ही सिद्ध है।

एवं पुष्टिमार्गीयजीवदेहकृतीनां स्वरूपं निरूप्योपसंहरन्ति प्रमाणभेदादिति । 'अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक' इत्याद्युक्तप्रमाणैर्भेदनिरूपणात् प्रवाहमर्यादाभ्यां भिन्नः सर्वोत्कृष्टः शुद्धपुष्टिमार्गो निरूपितः । हि युक्तश्चायमर्थः । न हि साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धोपयोगिनो धर्माः मार्गान्तरेपि सम्भवन्तीति पुष्टिमार्गस्यैव सर्वोत्कृष्टत्वं युक्तमेवेति ज्ञापनाय हीत्युक्तम् ॥७[1]/२॥

तो, इस प्रकार से पुष्टिमार्गीयों के जीव-देह-कृतियों का स्वरूप निरूपित करके अब आचार्यचरण प्रमाणभेदात् इत्यादि शब्दों से उपसंहार कर रहे हैं अर्थात् यह आज्ञा कर रहे हैं कि प्रमाणों से भी इनका भेद सिद्ध होता है। तात्पर्य यह कि "पुष्टिमार्ग में भगवान का अनुग्रह ही मूल कारण है(सि०मु०-१८)" इत्यादि प्रमाणों द्वारा पुष्टिमार्ग को भिन्न बताया गया है अतः पुष्टिमार्ग प्रवाहमर्यादामार्ग से भिन्न एवं सर्वोत्कृष्ट निरूपित हुआ है- इस अर्थ की युक्तता बताने के लिये हि शब्द का प्रयोग है। साक्षात्पुरुषोत्तमसंबंध में उपयोगी धर्म अन्य दूसरे मार्गों में संभव ही नहीं होते अतः पुष्टिमार्ग की ही सर्वोत्कृष्टता युक्त है- यह बताने के लिये हि शब्द का प्रयोग है ॥ ७ १/२ ॥

एवं प्रमाणभेदेन मार्गत्रयभेदं निरूप्य एतदग्रे मार्गत्रयस्य सर्गान्तरसादृश्यनिराकरणपूर्वकं सर्गमारभ्य फलपर्यवसानपर्यन्तं भेदं निरूपयन्ति सर्गभेदमित्यादि ।

सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतम् ॥८॥
इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरिः ।
वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चयः ॥९॥

तत्र प्रथमं प्रवाहमार्गसर्गभेदमाहुः इच्छामात्रेणेति । हरिः इच्छामात्रेण कांश्चिज्जीवानासुरान् करिष्यामीतिच्छया मनसा प्रवाहमार्गसृष्टिं

---

१. जीवदेहानाम् ।

कृतवान् । एवं प्रवाहमार्गसृष्टिमुक्त्वा मर्यादामार्गसृष्टिप्रकारमाहुः **वचसेति** । वचसा वेदरूपवाण्या मर्यादामार्गं सृष्टवान् । मर्यादामार्गस्य वेदमूलकत्वप्रसिद्धिद्योतनार्थं हिशब्दः । एवं शरीरैकदेशाभ्यां मार्गद्वयसर्गमुक्त्वा पुष्टिमार्गसृष्टेः सर्वोत्कृष्टत्वज्ञापनाय पुष्टिमार्गसृष्टिमाहुः पुष्टिं कायेनेति । आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपेण सम्पूर्णकायेन पुष्टिमार्गसृष्टिं कृतवान् । मार्गत्रयप्रयोजनमग्रे वक्ष्यन्ति । सम्पूर्णदेहेन पुष्टिसर्गस्य कथनात् पुष्टिसर्गस्य सर्वोत्कृष्टत्वं निर्धारितमिति ज्ञापनायोक्तं **निश्चय** इति ॥९॥

इस प्रकार से प्रमाणभेद द्वारा तीनों मार्गों का भेद बता कर अब आगे आचार्यचरण यह बता रहे हैं कि, इन तीनों मार्गों के सर्ग(सृष्टि)भी समान नहीं है। अब आपश्री इन तीनों मार्गों के सर्ग से आरंभ करके इन मार्गों में होने वाली फलप्राप्ति तक के भेद का निरूपण **सर्गभेद** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

इसमें सर्वप्रथम प्रवाहमार्गीय सर्गभेद(सृष्टिनिर्माण की प्रक्रिया में अंतर को) **इच्छामात्रेण** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

अर्थ यह है कि, हरि ने अपनी इच्छामात्र से "कुछ जीवों को मैं आसुरी बनाउँगा" ऐसी इच्छा करके अपने मन से प्रवाहसृष्टि बनायी। इस प्रकार से प्रवाहमार्ग की सृष्टि कह कर आपश्री मर्यादामार्ग की सृष्टि का प्रकार **वचसा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। वचसा का अर्थ है- भगवान की अपनी वेदरूप वाणी द्वारा। इस वाणी द्वारा भगवान ने मर्यादामार्ग की सृष्टि की। मर्यादामार्ग वेदमूलकरूप से प्रसिद्ध है- यह बताने के लिये आपश्री ने **हि** शब्द का प्रयोग किया है। प्रवाहमार्ग एवं मर्यादामार्ग तो भगवान के शरीर के एक एक भाग से उत्पन्न हुए परंतु पुष्टिसृष्टि की इन सब से सर्वोत्कृष्टता बताने के लिये आपश्री पुष्टिसर्ग के लिये **पुष्टिं कायेन** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। तात्पर्य यह कि भगवान ने अपनी आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि सम्पूर्ण काया द्वारा पुष्टिमार्गीयसृष्टि का निर्माण किया। इन तीनों मार्गों को प्रकट करने का प्रयोजन आगे कहा जायेगा। भगवान की सम्पूर्ण देह द्वारा पुष्टिसर्ग का निर्माण होना बताया गया है अतः पुष्टिसर्ग की सर्वोत्कृष्टता निर्धारित है- यह बताने के लिये आपश्री ने **निश्चयः** यों कहा ॥ ९॥

एवं मार्गत्रयसर्गस्वरूपं निरूप्य मार्गभेदेन मार्गत्रयफलस्वरूपमाहुः **मूलेच्छात** इति ।

मूलेच्छातः फलं लोके वेदोक्तं वैदिकेपि च ।
कायेन तु फलं पुष्टौ भिन्नेच्छातोऽपि नैकता ॥१०॥

सृष्ट्यन्तर्गतानां केषांचित् जीवानामासुरत्वसम्पादिका या भगवदिच्छा सा मूलेच्छा, ततः तदिच्छया लोके प्रवाहमार्गे फलं अन्धन्तमःप्रवेशरूपं भवतीत्यर्थः । एवं प्रावाहिकाणां फलं निरूप्य मर्यादामार्गीयाणां फलं निरूपयन्ति **वेदोक्तं वैदिकेपि चेति** । वैदिके मर्यादाज्ञानमार्गे 'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति' इत्यादिश्रुतिप्रतिपाद्यमक्षरप्राप्तिरूपं फलमुक्तम् । एवं कर्ममार्गेपि 'अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'त्यादिश्रुत्या सकामस्य स्वर्गलोकप्राप्तिरूपं फलम्, निःकामयागकर्तुरपि स्वर्गलोककामनाभावात् स्वर्गलोकं च 'यत्र दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् । अभिलाषोपनीतं यत् तत्पदं स्वःपदास्पद'मिति स्वःपदलक्षणाभावात् आत्मसुखे च स्वःपदलक्षणयोगात् निःकामयागकर्तुरात्मसुखरूपं फलं भवति । चकारात्तादृशस्यापि भगवदनुग्रहेण भगवद्भक्तसङ्गेन भक्तिप्राप्तौ सत्यां मर्यादामार्गीयभक्तस्यापि मुक्तिरूपा पुरुषोत्तमप्राप्तिर्भवतीति ज्ञापनाय चकारः ।

इस प्रकार तीनों मार्गों के सर्ग(सृष्टि) का स्वरूप बता कर इन तीनों मार्गों की भिन्नता बताते हुए आचार्यचरण तीनों मार्गों में मिलने वाले फल का स्वरूप **मूलेच्छातः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। सृष्टि के अन्तर्गत किन्हीं जीवों को आसुरी बनाने की जो भगवदिच्छा है, वह मूलेच्छा है। उस मूलेच्छा के द्वारा लोक में अर्थात् प्रवाहमार्ग में ऐसे लोगों को अन्धन्तम नरक में प्रवेशरूपी फल प्राप्त होता है- यह अर्थ है। अन्धन्तम नामक एक नरक है। इसके लिये श्रुतियों में वर्णन आता है कि जहाँ केवल और केवल अन्धकार ही होता है और कुछ भी दिखाई नहीं देता। गीता के अनुसार भगवान आसुरीजीवों को इसी अन्धंतम नरक में गिरा देते हैं। श्रीप्रभुचरण भी वल्लभाष्टक(३) में आचार्यचरणों की आज्ञा से विपरीत जाने वाले के लिये इसी अन्धन्तम नरक में गिरने की बात कहते हैं। प्रवाहमार्ग में मिलने वाले फल का निरूपण करके अब मर्यादामार्गीयजीवों को मिलने वाले फल का निरूपण आचार्यचरण **वेदोक्तं वैदिकेपि च** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। **वैदिके** का अर्थ है - मर्यादामार्ग में ; अर्थात् "परमात्मा को जानकर ही जीव मृत्युरूप संसार-सागर से पार होता है , इसके अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा मार्ग नहीं है(श्वेता०उप० ६-१५)" इत्यादि श्रुतियों में प्रतिपादित अक्षरब्रह्म की प्राप्तिरूपी फल। इस प्रकार कर्ममार्ग में भी "अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत् (सामवेद-ज्योतिष्टोम-तांड्य ब्राह्मण-खंड-१८-७)" इत्यादि श्रुति का तात्पर्य यह है कि, यज्ञ तो सकाम व्यक्ति भी करते हैं एवं निष्काम व्यक्ति भी करते हैं परन्तु इनमें से सकामभक्त को तो स्वर्गलोक की प्राप्तिरूपी फल मिलेगा एवं निष्कामतया यज्ञ करने वाले को चूँकि स्वर्गलोक की कामना नहीं होती इसलिये उन्हें फल के रूप में

आत्मसुख की प्राप्ति होगी । विशेष समझने की बात यह है कि, "आत्मसुख को ही स्वर्ग कहते है । जो दुःखसहित नहीं है, जिस सुख को काल ग्रस नहीं सकता, जो सुख अभिलाषा करने से प्राप्त हो जाय, ऐसे सुख को "स्वर्ग" कहा जाता है(सर्व०-५)" इस वाक्य के अनुसार स्वर्गलोक का अर्थ "स्वर्ग" नाम का कोई विशिष्ट प्रकार का लोक नहीं है अपितु स्वर्ग का अर्थ है - आत्मसुख । तात्पर्य यह है कि, निष्कामतया यज्ञ करने वाले को वह स्वर्ग प्राप्त होगा जो ऊपर कहे "यन्न दुःखेन(सर्व०-५)" वाले वाक्य में "आत्मसुख" प्राप्त होने के नाम से कहा गया है । इसलिये फलितार्थ यह हुआ कि निष्कामरूप से यज्ञ करने वाले को आत्मसुखरूपी फल मिलता है । उपर कहे निष्कामभक्त को भी भगवान के अनुग्रह से किसी भगवद्भक्त का संग मिल जाने से भक्ति प्राप्त हो जाये, तो ऐसे मर्यादामार्गीयभक्त को भी मुक्तिरूपा पुरुषोत्तम की प्राप्ति होती है - यह बताने के लिये च शब्द का प्रयोग किया गया है । तात्पर्य यह कि ऐसा भक्त पुरुषोत्तम-भगवान के चरणों में लीन हो जाता है ।

एवं द्विविधमर्यादामार्गीयाणां द्विविधं वेदोक्तं फलं निरूप्य **पुष्टेः** फलं निरूपयन्ति **कायेन तु फलं पुष्टाविति । कायेन** आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपेण, सर्वेन्द्रियास्वाद्यस्वरूपानन्ददानरूपं फलम् । एतदतिरिक्तप्रकारस्य फलत्वाभावार्थं तुशब्दः । अत एव पुष्टिश्रुतिरूपाभिर्व्रजसीमन्तिनीभिः 'अक्षण्वतामिति' श्लोके सर्वश्रुतिविरोधपरिहारेण सर्वेन्द्रियास्वाद्यपुरुषोत्तमस्वरूपस्यैव फलत्वं निरूपितम् । ननु मर्यादामार्गीयभक्तेरपि पुरुषोत्तमप्रापकत्वात् पुष्टिमार्गीयभक्तेरपि पुरुषोत्तमप्राप्तिहेतुत्वात् उभयोरपि फलैक्यं भवत्वित्याशङ्कां परिहरन्ति **भिन्नेच्छातोपि नैकतेति** । तस्यायमर्थः । यद्यपि मर्यादामार्गीयभक्तस्यापि अन्ते पुरुषोत्तमप्राप्तिरस्ति, तथापि तस्य मुक्तिरूपैव प्राप्तिः, न तु पुष्टिमार्गीयभक्तवत् साक्षात्सम्बन्धरूपप्राप्तिः, यतो मर्यादामार्गीयभक्तस्यान्ते स्वप्राप्तौ तादृश्येव भगवदिच्छा । अत एव श्रीभागवते 'अनिच्छतोपि गतिमण्वीप्रयुंक्त' इति । पुष्टिमार्गीयस्य साक्षात् स्वरूपसम्बन्धानुभवरूपफलप्राप्तावेव भगवदिच्छा । यदि मार्गद्वयेपि एकमेवं फलं स्यात्, तदा मार्गभेदवैयर्थ्यमेव स्यादित्यत उक्तं 'भिन्नेच्छातोपि नैकते'ति ॥१०॥

यों दो प्रकार के मर्यादामार्गीयों को दो प्रकार के वेदोक्त फलों का निरूपण करके पुष्टिमार्ग का फल आचार्यचरण कायेन तु फलं पुष्टौ इत्यादि शब्दों से कह रहे है । कायेन का अर्थ है - आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि रूप द्वारा अर्थात् समस्त इन्द्रियों द्वारा जिसका आस्वादन किया जा सके ऐसे स्वरूपानन्द के दान का फल । पुष्टिमार्ग में इस फल के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा फल नहीं होता - यह बताने के लिये आपश्री ने यहाँ तु शब्द का प्रयोग किया है । अतएव पुष्टिश्रुतिरूपा व्रजसीमन्तिनियों ने "अरी सखियों ! हमने तो आँख वालों के जीवन की और आँखों की इतनी ही सफलता समझी है कि, गाएँ हाँकते जा रहे श्यामसुन्दर की झाँकी कर सकें(श्री०भा० १०-२१-७)" इस श्लोक में समस्त श्रुतिविरोध का परिहार करते हुए समस्त इन्द्रियों द्वारा जिस स्वरूप का आस्वादन किया जा सके, ऐसे भगवत्स्वरूप को ही गोपिकाओं ने फल के रूप में बताया । इस वाक्य में कहे "श्रुतिविरोध का परिहार" इत्यादि शब्दों का अर्थ समझने के लिये अध्येताओं को वेणुगीत की सुबोधिनी देखनी चाहिए जहाँ से उपर कहे "अक्षण्वतां(श्री०भा० १०-२१-७)" इस श्लोक का उदाहरण दिया गया है । इस श्लोक में गोपिकाएँ यह कह रही हैं कि, आँखवालों के लिये या देहधारियों का अथवा इन्द्रियधारियों के लिये जीवन में सबसे बड़ा लाभ यही है कि, वे वेणु बजाते हुए श्रीकृष्ण के मुखारविंद का दर्शन करें । इस श्लोक की सुबोधिनी में आचार्यचरण लिखते हैं - गोपिकाएँ श्रीकृष्ण के दर्शन को सर्वोच्च लाभ या मोक्ष मिलना क्यों कह रही हैं जबकि श्रुति तो "आत्मलाभान्न परं विद्यते" इस वाक्य द्वारा भगवान का सायुज्य मिल जाने को परमफल या मोक्ष कहती है ? तब आपश्री श्रुतिवाक्य में आनेवाले विरोध का परिहार करते हुए लिखते है कि - गोपिकाएँ यह कह रही है कि हम खुद भी श्रुतिरूपा है अतः हम जानती है कि इस श्रुति का अर्थ क्या है । वे कहती है कि इस श्रुति में ज्ञानीभक्तों की आत्मा ब्रह्म में सायुज्य/लीन हो जाने को परमफल बताया गया है परन्तु इन्द्रियधारियों के लिये परमफल या मोक्ष तो यही भगवान को साक्षात् वेणु बजाते हुए देख पाना है । विशेष जानने के लिये देखें सु० १०-१८-७ । किंतु शंका यह होती है कि, मर्यादामार्गीयभक्ति से भी पुरुषोत्तम की प्राप्ति होती है और पुष्टिमार्गीयभक्ति द्वारा भी पुरुषोत्तम की प्राप्ति होती है ; और जब दोनों ही मार्गों में पुरुषोत्तम की प्राप्ति होती है तो दोनों मार्गों का फल भी फिर एक समान ही हो गया, अंतर कहाँ रहा ? तो इस शंका का परिहार आपश्री भिन्नेच्छातोपि नैकता इत्यादि शब्दों से कर रहे है । इसका अर्थ यह है कि यद्यपि मर्यादामार्गीयभक्त को भी अन्त में पुरुषोत्तम की ही प्राप्ति होती है , तथापि उसे पुरुषोत्तम में लीन हो जानेवाली मुक्ति की ही प्राप्ति होती है ; पुष्टिमार्गीयभक्त की भाँति साक्षात् पुरुषोत्तम से संबंध होने वाले स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती । क्योंकि मर्यादामार्गीयभक्त को अन्त में पुरुषोत्तम में लीन/सायुज्य होने वाली मुक्ति की ही प्राप्ति हो, यही भगवान की इच्छा है । अतएव श्रीभागवत में "भगवान ने देवहूति से कहा- हे माता ! जिनका चित्त

---

१. गोपीधिरित्यधिकं क्वचित् ।

एकमात्र मुझमें ही लग गया है, उनकी इन्द्रियाँ मेरे दर्शनीय अङ्ग-प्रत्यङ्ग, हास-विलास, मनोहर चितवन और सुमधुर वाणी में फँस जाती हैं। और न चाहते हुए भी उन्हें मेरे परमपद की प्राप्ति हो जाती है(श्री०भा० ३-२५-३६)" इत्यादि वाक्य हैं और इसीलिये पुष्टिमार्गीय को अपने साक्षात् स्वरूप से संबंध का अनुभव होने वाले फल की प्राप्ति करवानी ही भगवदिच्छा है। यदि दोनों मार्गों का फल एक जैसा ही होता , तो मार्गों का भेद करना ही व्यर्थ हो जाता अतः आपश्री ने कहा **भिन्नेच्छातोपि नैकता** ॥ १० ॥

एवं मार्गत्रयस्य सर्गभेदं फलभेदं च निरूप्यैतेषां त्रयाणां स्वरूपाङ्गक्रिया निरूपयन्ति । तत्र प्रथमं प्रवाहमार्गीयाणां स्वरूपमाहुः **तानहं द्विषतो वाक्यादिति** ।

'तानहं द्विषतो' वाक्याद्भिन्ना जीवाः प्रवाहिणः ।
अत एवेतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्षप्रवेशतः ॥११॥
तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः ।
भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत् ॥१२॥

'तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् । क्षिपाम्यजस्रमसुरानासुरीष्वेव योनिषु आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि। मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गति'मिति प्रवाहमार्गीया जीवा मर्यादामार्गीयपुष्टिमार्गीयजीवेभ्यो भिन्ना आसुरा इत्यर्थः। अत एवेतरौ मर्यादामार्गीयपुष्टिमार्गीयजीवौ प्रवाहमार्गीयजीवेभ्यो भिन्नौ दैवावित्यर्थः । भेदप्रकारमाहुः **सान्ताविति** । तत्तन्मार्गीयफलपर्यवसानान्तौ । फलस्वरूपमाहुः **मोक्षप्रवेशत इति** । स्वस्वमार्गीयमोक्षप्रवेशत इत्यर्थः ।

इस प्रकार से तीनों मार्गों के सर्गभेद एवं फलभेद का निरूपण करके अब आपश्री इन तीनों मार्गों के स्वरूप-अंग-क्रिया का निरूपण कर रहे हैं। इसमें सर्वप्रथम आपश्री प्रवाहमार्गीयों के स्वरूप को **तानहं द्विषतो वाक्यात्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

भगवद्गीता के "मुझसे द्वेष करने वाले दुराचारी एवं क्रूरकर्मी नराधमों को मैं निरन्तर आसुरी योनियों में ही गिराता हूँ(भ०गी १६-१९)" इस वाक्यानुसार प्रवाहमार्गीयजीव तो मर्यादामार्गीय एवं पुष्टिमार्गीयजीवों से भिन्न हैं अर्थात् आसुरी हैं। अत एवेतरौ अर्थात् मर्यादामार्गीयजीव एवं पुष्टिमार्गीयजीव प्रवाहमार्गीयों से भिन्न हैं अर्थात् दैवी हैं। मर्यादामार्गीयजीव एवं पुष्टिमार्गीयजीव इन दोनों का प्रवाहमार्गीयजीवों से भेद आपश्री सान्तौ इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। सान्तौ का अर्थ है - ये मार्ग जीवों को अन्त तक ले जाकर इन मार्गों का फल प्राप्त करा देते हैं। आपश्री इनके फल का स्वरूप मोक्षप्रवेशतः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं ; तात्पर्य यह कि पुष्टिमार्गीयों एवं मर्यादामार्गीयों दोनों को अपने-अपने मार्गों के अनुरूप मोक्ष में प्रवेशरूपी फल मिलता है।

ननु प्रावाहिकाणां जीवानामपि तन्मार्गीयमोक्षप्राप्त्या सान्तत्वसम्भवेपि उभयोरेव सान्तत्वकथने को हेतुरिति चेत्, सत्यम्, यद्यपि तन्मार्गीयमुक्त्या तस्यापि सान्तत्वं सम्भवति, तथापि तन्मुक्तेरानन्दराहित्यान्मोक्षलक्षणाभावात्, किञ्च, 'ततो यान्त्यधमां गति'मिति तन्मुक्तेरधमगतित्वनिरूपणात् आनन्दरूपफलपर्यवसानाभावात्र सान्तत्वेन गणना, न सान्तत्वमिति उभावेव सान्तौ गणितौ, न तु प्रवाहोपि, इति ज्ञापनायोक्तं **सान्तौ मोक्षप्रवेशत इति** ।

परंतु यहाँ शंका यह होती है कि, प्रावाहिकजीवों को भी उनके अपने मार्ग के अनुसार मोक्ष तो मिलता ही है अतः प्रवाहमार्ग भी सान्त है अर्थात् प्रवाहमार्ग भी अपने मार्ग के अनुसार अंत तक फलप्राप्ति करवाता ही है अतः आचार्यचरण को प्रवाहमार्ग को भी सान्त कहना चाहिए था ? फिर आचार्यचरण केवल मर्यादामार्ग एवं पुष्टिमार्ग को ही सान्त क्यों कह रहे हैं ? आपकी बात ठीक है, परंतु ये समझिए कि यद्यपि प्रवाहमार्ग वाली मुक्ति मिलती होने के कारण प्रवाहमार्ग भी सान्त है, यानि कि अन्त तक ले जाकर फल प्राप्ति करा देता है, तथापि वह मुक्ति आनन्दरहित होने के कारण ऐसी मुक्ति को मोक्ष कहा ही नहीं जा सकता। और, "हे अर्जुन ! आसुरी योनि को प्राप्त हुए मूढ़ मनुष्य जन्म-जन्म में मुझे प्राप्त न होकर और फिर उससे भी अधम गति में गिरते हैं(भ०गी० १६-२०)" इस श्लोकानुसार भगवान ने ऐसी मुक्ति को अधमगति होने के रूप में बताया गया है एवं आनन्दरूप फल मिलना नहीं बताया गया अतः इस मुक्ति को सान्त नहीं कहा जा सकता। इस कारण मर्यादामार्ग एवं पुष्टिमार्ग केवल ये दोनों ही सान्त गिने गये हैं, प्रवाहमार्ग नहीं- यह बताने के लिये आचार्यचरणों ने केवल मर्यादामार्ग और पुष्टिमार्ग के लिये सान्तौ मोक्षप्रवेशतः यों कहा।

ननु 'मोक्षप्रवेशत' इति सामान्योक्त्या मोक्षस्य मार्गद्वयेपि एकरूपता भविष्यतीत्याशङ्कानिरासायाहुः **तस्मादिति** । यस्मात् पूर्वमेव पुष्टिमार्गीयाणां 'कायेन तु फलं पुष्टा'वित्यत्र फलभेदोपि निरूपित एव, तथापि पुनरपि यत् 'मोक्षप्रवेशत' इति सामान्योक्त्या फलैकत्वशङ्का तन्निरासाय विशेषस्तेषां पुष्टिमार्गीयजीवानां स्वरूपमाहुः **तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना इति** । मर्यादामार्गीयेभ्यो

भिन्ना एव, अत्युत्कृष्टा एवेत्यर्थः । तेषां कदाचिन्मार्गान्तरीयसङ्गेपि मार्गान्तरप्रवेशो न भवतीति ज्ञापनाय न संशय इत्युक्तम् ।

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, जब मर्यादामार्ग एवं पुष्टिमार्ग दोनों के ही लिये आपश्री ने **मोक्षप्रवेशतः** कहा तो फिर दोनों ही मार्गों को एकरूप या एक ही क्यों न समझ लिया जाय ? अर्थात् शंका यह है कि ,जब दोनों मार्गों का फल मोक्ष ही है, तो फिर इन दोनों को एक ही मार्ग क्यों न मान लिया जाय ? इस शंका का निराकरण करने के लिये आपश्री **तस्मात्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। चूँकि पुष्टिमार्गीयों का "कायेन तु फलं पुष्टौ" इत्यादि शब्दों द्वारा फलभेद तो आपश्री पूर्व में ही कह चुके हैं तथापि पुनः जो "मोक्षप्रवेशतः" इस शब्द को दोनों मार्गों के लिये प्रयोग कर देने से दोनों मार्गों में एक ही प्रकार का फल प्राप्त होने की शंका होती है, उस शंका का निराकरण करने के लिये आपश्री विशेषतः पुष्टिमार्गीयजीवों का स्वरूप **तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री का तात्पर्य यह है कि, पुष्टिमार्गीयजीव मर्यादामार्गीयजीवों से भिन्न ही हैं एवं उत्कृष्ट भी हैं। पुष्टिमार्गीयजीवों का अन्यमार्गीय जीवों से संग हो जाने पर भी उनका अन्यमार्ग में प्रवेश नहीं होता - यह बताने के लिये आपश्री ने उनके लिये **न संशयः** यह कहा।

अतः परं केवलपुष्टिसृष्टेः सर्वात्मना सर्वतो भेदेन सर्वोत्कृष्टत्वनिरूपणस्य प्रयोजनमाहुः भगवद्रूपसेवार्थमिति । यथा मर्यादासृष्टेः तन्मार्गीयधर्मकरणं प्रयोजनम्, तथा पुष्टिसृष्टेः भगवत्सेवाकरणमेव प्रयोजनमिति, अत उक्तं भगवद्रूपसेवार्थमिति । यद्यपि मर्यादामार्गे सेवा वर्तते, परं तत्र मनस्येव अङ्गुष्ठमात्रादिरूपकल्पनेन, न तु साक्षादानन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपेण प्रकटस्येति ज्ञापनाय स्वरूपपदमुक्तम् । नान्यथेति । एतत्प्रयोजनातिरिक्तप्रयोजनाभावार्थमुक्तं नान्यथेति । यदीदं प्रयोजनं न भवेत्, तदा पुष्टिसृष्टिरेव न भवेत्, अत उक्तं नान्यथा भवेदिति ॥१२॥

अतः केवल पुष्टिसृष्टि का सभी प्रकार से भेद करके उसकी सर्वोत्कृष्टता बताने का प्रयोजन आपश्री **भगवद्रूपसेवार्थं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। जैसे मर्यादामार्गीयसृष्टि का प्रयोजन उनके मार्ग में बताये गये धर्म का पालन करना है , वैसे ही पुष्टिसृष्टि का प्रयोजन भगवत्सेवा करना ही है अतः आपश्री ने पुष्टिमार्गीयसृष्टि के लिये **भगवद्रूपसेवार्थं** यों कहा। यद्यपि मर्यादामार्ग में भी भगवत्सेवा होती है परंतु वह मन में ही होती है एवं भगवान की अंगुष्ठामात्ररूपी कल्पना करने के द्वारा होती है , साक्षात् आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि रूप से प्रकट हुए प्रभु के स्वरूप की नहीं ; इसीलिये, इस बात को बताने के लिये आपश्री ने यहाँ स्वरूप पद कहा है। **नान्यथा** इत्यादि शब्दों का अर्थ समझें। ऐसे आनन्दस्वरूप प्रभु की सेवा के अतिरिक्त पुष्टिसृष्टि का अन्य कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है, यह बताने के लिये आचार्यचरणों ने नान्यथा यों कहा है। यदि यह प्रयोजन न होता तो पुष्टिसृष्टि बनायी ही न गयी होती, इसलिये आपश्री ने **नान्यथा भवेत्** यह कहा ॥ १२ ॥

सेवाकरणप्रकारमाहुः स्वरूपेणति ।

स्वरूपेणावतारेण लिङ्गेन च गुणेन च ।
तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा ॥१३॥
तथापि यावता कार्यं तावत्तस्य करोति हि ॥१३½॥

यद्यपि केवलस्वरूपपदं केवलजीवपरमपि भवति, तथाप्यत्र फलरूपसेवाकरणप्रकारनिरूपणे देहरहितकेवलजीवस्वरूपेण सेवाकरणासम्भवात् स्वरूपपदं लीलापयोगिदेहपरमेव । देहस्य फलरूपसेवोपयोगिफलोपयोगिफलरूपभजनोपयोगित्वकथनेन अविकृतत्वमानन्दमयत्वं नित्यत्वं च ज्ञापितम् । एवं साक्षाद्भजनोपयोगिदेहस्वरूपं निरूप्याविर्भावप्रकारमाहुः अवतारेणेति । अवतारेण साक्षात् फलरूपभजनोपयोगिसमाजमध्ये प्राकट्येन । भजनोपयोगिप्रकारान्तरमाहुः लिङ्गेनेति । भजनोपयोगिदेहचिह्नैरित्यर्थः । चकारस्तदुपयोगिवयःसमुच्चयार्थः ।

अब शुद्ध पुष्टिमार्गीयजीव किस प्रकार से भगवत्सेवा करते हैं , यह आचार्यचरण **स्वरूपेण** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

यद्यपि आचार्यचरणों ने केवल स्वरूप पद का प्रयोग किया है , जिसका अर्थ केवल जीव भी हो सकता है तथापि यहाँ आपश्री फलरूपसेवा का प्रकार बताना चाह रहे है अतः यहाँ स्वरूप पद का अर्थ भगवान की लीला में उपयोगी देह ही है क्योंकि देह के बिना केवल जीवस्वरूप से तो भगवत्सेवा हो ही नहीं सकती। यहाँ कही जा रही पुष्टिदेह फलरूपासेवा में उपयोगी है , सेवाफल प्राप्त करने में उपयोगी है, एवं फलरूपभजन में उपयोगी है अतः इससे आपश्री ने पुष्टिदेह की अविकृतता, आनन्दमयता एवं नित्यता बतायी है। इस प्रकार साक्षात्भगवद्भजन में उपयोगी पुष्टिदेह के स्वरूप का निरूपण करके अब आपश्री इसके आविर्भाव का प्रकार अवतारेण

इत्यादि शब्दों से कह रहे है। अवतारेण इन शब्दों का अर्थ है - पुष्टिमार्गीयदेह का प्राकट्य फलरूपी-भजन में उपयोगी भक्तमंडल के अंतर्गत होता है। भगवद्भजन में उपयोगी अन्य प्रकारों को आपश्री लिङ्गेन इत्यादि शब्दों से बता रहे है। लिङ्गेन का अर्थ है - भगवद्भजन में उपयोगी देह के चिन्ह। च शब्द से भजन में उपयोगी आयु भी बतायी जा रही है - यह समझ लें।

पुनः प्रकारान्तरमाहुः गुणेनेति । गुणाः सौन्दर्यरसोद्बोधकचातुर्यभावादयः । फलभोगस्य सर्वाज्ञातत्वप्रकारज्ञापनाय चकारः । ('यतोऽयं रसः सर्वात्मना गोपनीय एव, भगवतो रसपोषाय । अत एव फलप्रकरणीयलीलारम्भे मुख्यभक्तानां भगवन्निकटागमनसमये 'ता वार्यमाणा' इति भर्त्रादीनां तदागमनज्ञानानन्तरमपि रसपोषाय योगमायाद्वारा तथा प्रभुः सम्पादितवान्, यथा तेषां 'मन्यमानाः स्वपार्श्वस्था'निति वचनात् तदागमनज्ञानसम्भावनापि नाभूत् । यदि तेषां तदागमनज्ञानसम्भावनापि स्यात्, तदा रसाभासः स्यात् । अतः सर्वाज्ञानमावश्यकम् ।)

इनके अतिरिक्त अन्य प्रकार गुणेन इत्यादि शब्दों से बता रहे है। गुण का अर्थ है - पुष्टिमार्गीयजीवों की देह सौंदर्य एवं रसोद्बोधक चातुर्य आदि गुण के सहित प्रकट होती है। यहाँ गुणेन शब्द के पश्चात् आये च शब्द का अर्थ यह है कि इस ग्रन्थ में बताये गये भगवत्सेवा के फलभोग का प्रकार शुद्धपुष्टिजीवों के अतिरिक्त अन्य किसी को ज्ञात नहीं है।(क्योंकि यह रस सभी प्रकार से गोपनीय ही है क्योंकि इस मार्ग में भगवान को भक्तों में रस का पोषण करना है। इसी कारण फलप्रकरणलीला के आरम्भ में पुष्टिमार्ग की मुख्यभक्त व्रजगोपिकाएँ जब भगवान के निकट पहुँचीं, तब "गोपियों को उनके पिता, पति, भाई और जाति बन्धुओं ने भगवान के पास जाने से रोका परन्तु वे इतनी मोहित हो गयीं थी कि रोकने पर भी न रुकीं। रुकतीं कैसे? विश्वमोहन श्रीकृष्ण ने उनके प्राण, मन और आत्मा सभी कुछ हर लिया था(श्री०भा० १०-२९-८)" इस श्लोकानुसार उनके पतियों को उनके भगवान के पास जाने की बात मालूम पड़ी तो सही, किन्तु व्रजगोपिकाओं में रस का पोषण करने के लिये भगवान ने अपनी योगमाया द्वारा कुछ ऐसा किया जिससे उन्हें "भगवान की योगमाया से मोहित होकर गोप यही समझ रहे थे कि, हमारी पत्नियाँ हमारे पास ही है(श्री०भा० १०-३३-३८)" इत्यादि शब्दों के अनुसार अपनी पत्नियों के कहीं और जाने की संभावना भी नहीं रही एवं उन्हें यही भ्रम रहा कि वे उनके पास ही है। यदि उन्हें अपनी पत्नियों के चले जाने की संभावना भी रही होती तो रसाभास हो जाता। अतः यह आवश्यक है कि अन्य किसी को भी इस प्रकार की भगवल्लीला में उपयोगी बात का पता न चले।

ननु पुष्टिमार्गीयफलानुभवः भोक्तृभोग्यसाम्ये सति सम्पूर्णो भवति, न तु यत्किञ्चित्तारतम्येन । प्रभोरगणितानन्दस्वरूपत्वेन भजनरसानुभवकर्तृणां तत्समत्वाभावात् पूर्णरसानुभवो न भविष्यतीत्याशङ्कापरिहाराय स्वरूपेणेत्यादिना भजनरसानुभवकर्तृयोग्यताप्रकारं निरूप्य पूर्णरसानुभवसिद्धिहेतुमाहुः तारतम्यं न स्वरूप इति । पूर्वोक्तरसानुभवकर्तृयोग्यताप्रकारैः पूर्ण स्वरूपरसानुभवसिद्धिप्रतिबन्धहेतुतारतम्याभाव उक्तः । तारतम्यं न स्वरूप इति । स्वरूपे । यथा आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादेर्भगवतः आत्मनि देहे वा आनन्दमयत्वेन तारतम्याभावः, तथा साक्षात्फलानुभवकर्तृभक्तेष्वपि [2]आत्मनि आत्मस्वरूपे देहे वा आनन्दमयत्वादिना तारतम्याभावः । ननु प्राकृतदेहवत् देहात्मनोस्तारतम्यमपि । अत एव जन्मोत्सवाध्याये शुकदेवैरपि 'गोप्यश्चाकर्ण्य मुदिता' इतिश्लोके एतासां देहस्यालौकिकानन्दमयत्वज्ञापनाय 'आत्मानं भूषयाञ्चक्रु'रित्युक्तम्, न तु देहं भूषयाञ्चक्रुरिति । तेनात्मपदोपादानात् यथा आत्मा नित्य आनन्दमयः अविकृतः, तादृश एवैतासां देह इति ज्ञापितम् । यद्येवं न स्यात्, तदा 'ते तु ब्रह्महृदं नीता' इत्यत्र मुक्तिसुखानुभवसमये तद्देहस्थितिर्न स्यात् । मुक्त्यनुभवानन्तरमपि तेनैव देहेन मुक्त्यधिकपूर्णभजनानन्दानुभवो न स्यात् । एतदेवाभिप्रेत्याचार्यैरुक्तं तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वेति । अन्यथा उभयत्र पूर्णरसानुभवो न स्यात् । एवं देहात्मनोस्तारतम्याभावमुक्त्वा तत्क्रियास्वपि तारतम्याभावमाहुः तत्क्रियास्विति। क्रियासु तारतम्याभावप्रकारविशेषः । यथा भगवत्कर्तृकरसोपयोगिक्रियाविशेषैर्भक्तेषु परमानन्दरसानुभवः, तथा भक्तकर्तृकरसोपयोगिक्रियाविशेषैर्भगवति परमानन्दरसानुभव इति तारतम्याभावः, तथा सर्वत्र तारतम्याभावज्ञापनाय वाशब्दः ।

किंतु शंका यह होती है कि शुद्ध पुष्टिमार्गीय फलानुभव संपूर्णतया तो तब होता है जब भोक्ता एवं भोग्य दोनों एक समान हों, यदि दोनों में अंतर हो तो नहीं। प्रभु तो अगणितानान्दस्वरूप हैं और भक्त उनके समान अगणितानन्द नहीं हैं अतः ऐसे प्रभु के भजनरस का अनुभव करने वाले को भगवान के समान हुए बिना पूर्णरस का अनुभव नहीं होगा- इस शंका का परिहार करने के लिये आपश्री स्वरूपेण इत्यादि शब्दों से भजनरस का अनुभव करने वाले पुष्टिमार्गीयभक्त की योग्यता का प्रकार निरूपित करके तारतम्यं न स्वरूपे इत्यादि शब्दों द्वारा यह बता रहे हैं कि उसे पूर्णरस का अनुभव क्यों और किस प्रकार से होगा। आगे आपश्री ने पूर्व में कहे रसानुभव

---

१. चिह्नान्तर्गतं नास्ति क्वचित् । २. पूर्णरसः ।

करने वाले की योग्यता के प्रकारों द्वारा यह बताया कि, भक्त और भगवान में रहने वाला तारतम्य/अंतर जो पूर्णरसानुभवसिद्धि होने में प्रतिबन्ध है , वह तारतम्य अब भक्त एवं भगवान में नहीं है। इसे आपश्री ने **तारतम्यं न स्वरूपे** इत्यादि शब्दों से कहा है। जैसे आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि वाले भगवान की आत्मा एवं देह केवल आनन्दमय है और इस कारण भगवान की आत्मा और देह दोनों में कोई अंतर नहीं है , वैसे ही साक्षात्फल का अनुभव करने वाले भक्तों की देह एवं आत्मा भी आनन्दमय होने के कारण ऐसे शुद्धपुष्टिभक्त की देह और आत्मा में भी अंतर नहीं है। शुद्धपुष्टिजीव की भी देह और आत्मा भगवान की ही भाँति आनन्दमय है अतः इस तुलना से भगवान एवं शुद्धपुष्टिजीवों के बीच कोई अंतर नहीं है। शुद्धपुष्टिमार्गीयजीवों में प्राकृतदेह की भाँति देह एवं आत्मा का भेद नहीं है। इसी कारण जन्मोत्सव वाले अध्याय में श्रीशुकदेवजी ने भी "यशोदाजी के यहाँ पुत्र हुआ है, यह जानकर गोपियों को बड़ा आनन्द हुआ। उन्होंने सुन्दर वस्त्र, आभूषण और अञ्जन से अपनी आत्मा का श्रृंगार किया (श्री०भा० १०-५-९)" इस श्लोक में इन व्रजगोपिकाओं की देह को अलौकिक आनन्दमय बताने के लिये "भगवान के दर्शन करने जाने के लिये गोपिकाओं ने अपनी आत्मा को सजाया(श्री०भा० १०-५-९)" यह कहा। यह नहीं कहा कि उन्होंने अपनी देह को सजाया। वहाँ आत्मा पद का प्रयोग किया होने के कारण यह बताया गया है कि, जैसे आत्मा नित्य, आनन्दमय एवं अविकृत है वैसे ही इन गोपिकाओं की देह भी नित्य, आनन्दमय एवं अविकृत है। यदि ये सच न होता तो, "जिस जलाशय में भगवान अक्रूरजी को ले गये थे, उसी ब्रह्मस्वरूप ब्रह्महृद में भगवान गोपों को ले गये। गोपों ने उसमें डुबकी लगायी और तब भगवान ने उन्हें बाहर निकाल कर उन्हें अपने परमधाम का दर्शन कराया(श्री०भा० १०-२८-१६)" इस श्लोक में कहे मुक्तिसुख का अनुभव करते समय गोपबालकों की देह टिकी न रहती। क्योंकि मुक्ति के समय तो देह नष्ट हो जाती है। मुक्ति का अनुभव करने के पश्चात् भी उन्हें उसी देह के द्वारा मुक्ति से भी अधिक पूर्णभजनानन्द का अनुभव न हुआ होता, यह समझ लें। इसी अभिप्राय को बताने के लिये आचार्यचरणों ने **तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा** यह कहा। इस प्रक्रिया के बिना भक्त एवं भगवान दोनों को पूर्णरस का अनुभव नहीं हो सकता। इस प्रकार शुद्धपुष्टिमार्गीयों की देह, आत्मा भगवान से भिन्न नहीं है - यह कह कर अब आपश्री आगे **तत्क्रियासु वा** इत्यादि शब्दों द्वारा यह बता रहे हैं कि उनकी क्रियाएँ भी भगवत्क्रियायों से भिन्न नहीं हैं। उनकी क्रियायों में अंतर न होने का एक विशेष प्रकार है , और वह यह कि, जिस प्रकार भगवान द्वारा की जाने वाली रसोपयोगी विशेष क्रियायों द्वारा भक्तों को परमानन्द का अनुभव होता है, वैसे ही शुद्धपुष्टिभक्तों द्वारा की जाने वाली रसोपयोगी विशेष क्रियायों द्वारा भगवान को भी परमानन्द का अनुभव होता है ; अतः आपश्री ने कहा - इन दोनों की क्रियायों में भी कोई अंतर नहीं है। इस प्रकार भगवान एवं शुद्धपुष्टिजीवों में सर्वत्र कहीं भी कोई अंतर नहीं है - यह बताने के लिये आपश्री ने **वा** शब्द का प्रयोग किया है।

यद्यपि सर्वत्र तारतम्याभावोऽस्त्येव, तथापि भगवान् ततोपि अनिर्वचनीयपरमकाष्ठापन्नरसानुभवार्थं तारतम्यमपि करोतीत्याहुः तथापि यावतेति । यथा फलप्रकरणीयप्रथमाध्याये 'बाहुप्रसारपरिरम्भे'ति श्लोके 'उत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकारे'ति स्वरमणेन पूर्णरसानुभवं कारयित्वा, अग्रिमश्लोके 'आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योभ्यधिकं भुवी'ति 'स्वरूपपरावृत्तिरूपेण[1] पूर्णरसानुभवं कारयित्वापि, पुनश्च फलप्रकरणीयचतुर्थाध्याये 'तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुज' इतिश्लोके 'मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययु'रित्यनेन भक्तमनोरथागम्यमपि पूर्वानुभूतपूर्णरसतारतम्यं ज्ञापयितुं स्वरूपानन्दं दत्तवानितिप्रकारं ज्ञापयितुमुक्तं यावतेति । यावता तारतम्येन तस्य भक्तस्य कार्यं मनोरथान्तरूपं स्वरूपानन्दानुभवं सिध्यति, तावत्तारतम्यं करोति । यत्र पूर्णरसदानार्थं तारतम्याभावं येषु भक्तेषु सम्पादितवान्, तेषु मनोरथान्तं स्वरूपानन्ददानं युक्तमेवेति ज्ञापनार्थं हिशब्दः ॥१३[1]/२॥

यद्यपि कहीं भी कोई भी अंतर नहीं है , फिर भी भगवान अनिर्वचनीय परमकाष्ठापन्न रसानुभव कराने के लिये अपने एवं शुद्धपुष्टिजीवों के बीच कुछ अंतर कर भी देते हैं - यह बात आपश्री **तथापि यावता** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। जैसे कि फलप्रकरण के प्रथमाध्याय में 'हाथ फैलाना, गोपिकाओं का आलिङ्गन करना, उनकी चोटी, जाँघ, नीवी और स्तन आदि का स्पर्श करना, नखक्षत करना इत्यादि कामक्रीड़ाओं के द्वारा उत्तेजित करते हुए भगवान गोपिकाओं को आनन्दित करने लगे(श्री०भा० १०-२९-४६)" इस श्लोक के अंतर्गत "उत्तम्भयन्" इन शब्दों के अनुसार भगवान ने गोपिकाओं के संग स्वयं रमण करके उन्हें पूर्णरसानुभव कराया ; तत्पश्चात् अग्रिमश्लोक में "जब श्रीकृष्ण ने गोपिकाओं का ऐसा सम्मान किया तो गोपिकाओं को अभिमान आ गया(श्री०भा० १०-२९-४७)" इस श्लोकानुसार अपने स्वरूप को बदल कर भी पूर्णरसानुभव कराया। पुनश्च, फलप्रकरण के चतुर्थाध्याय में "हे परीक्षित् ! श्रीकृष्ण के दर्शन से गोपिकाओं के हृदय में इतने आनन्द और इतने रस का उल्लास हुआ कि उनके हृदय की सारी आधि-व्याधि मिट गयी(श्री०भा० १०-३२-१३)" इस श्लोक में "मनोरथान्तं"

---

१. स्वरूपाद्भगवद्रूपादपि परावृत्तिः पूर्वरूपापेक्षया स्वस्वरूपपरावृत्तिर्वा तत्पूर्वकमित्यर्थः ।

इत्यादि वाक्यानुसार भक्त मनोरथ भी न कर सके ऐसे स्वरूपानन्द का दान दिया, जो पहले दिये रस की अपेक्षा कुछ अलग था - इतने सभी अंतर की वाते आचार्यचरण यावता इत्यादि शब्दों से वताना चाह रहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि, जितना अंतर करने से उस भक्त का स्वरूपानन्दानुभव करने का मनोरथ सिद्ध हो सके, भगवान उतना अंतर कर देते हैं। अरे ! जहाँ पूर्णरसदान करने के लिये भगवान ने इन शुद्धपुष्टिजीव एवं अपने वीच रहे समस्त अंतर ही मिटा दिए , ऐसे भक्तों को वे अपने सर्वश्रेष्ठ स्वरूपानन्द का दान दें - यह वात तो विल्कुल युक्त ही है। इस युक्तता को वताने के लिये हि शब्द का प्रयोग है॥ १३ १/२॥

एवं प्रकारभेदेन शुद्धमार्गत्रयाणां फलपर्यवसानमुक्त्वा शुद्धमिश्रभेदेन मार्गत्रयेपि द्वैविध्यमाहुः|ते हि द्विधेति ।

ते हि द्विधा शुद्धमिश्रभेदान्मिश्राश्चिधा पुनः ॥१४॥
प्रवाहादिविभेदेन भगवत्कार्यसिद्धये ।
पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः ॥१५॥
मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णातिदुर्लभाः ॥१५१/२॥

एवं द्वैविध्ये शुद्धभेदप्रकारस्य पूर्वोक्तत्वादतः परं मिश्रभेदस्य भेदत्रयमाहुः मिश्राश्चिधा पुनरिति । मिश्रेषु त्रैविध्यं दर्शयन्ति प्रवाहादिविभेदेनेति । त्रैविध्यदर्शनप्रयोजनमाहुः भगवत्कार्यसिद्धय इति । भगवत्कार्यं मार्गत्रयसर्गरूपम्, तत्सिद्धये मार्गत्रयविवेकज्ञानसिद्धयर्थमित्यर्थः । अथवा । भगवत्कार्यं लीलारूपम् तत्सिद्धये क्रीडारससिद्धयर्थमित्यर्थः । अत एव श्रीभागवते विन्ध्यावल्याप्युक्तं 'क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्य'रिति ।

इस तरह से तीनों शुद्धमार्गों का (अर्थात् शुद्धपुष्टिमार्ग, शुद्धमर्यादामार्ग एवं शुद्धप्रवाहमार्ग का) प्रकारभेद करके उन तीनों को फलपर्यंत कह कर अव आचार्यचरण इन तीनों मार्गों में से प्रत्येक के शुद्ध और मिश्र यों दो प्रकार के भेद ते हि द्विधा इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। ध्यातव्य है कि टीकाकार को पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा इन तीनों मार्गों के दो ही भेद अपेक्षित है। तात्पर्य यह कि यदि पुष्टिमार्ग के भेद करने है तो एक शुद्धपुष्टि और दूसरा मिश्रपुष्टि। प्रवाहमार्ग के भेद करने है तो एक शुद्धप्रवाह और दूसरा मिश्रप्रवाह। मर्यादामार्ग के भेद करने है तो एक शुद्धमर्यादा और दूसरा मिश्रमर्यादा। जवकि आगे के टीकाकारों ने मिश्रपुष्टि के भी पुष्टिपुष्टि-प्रवाहपुष्टि-मर्यादापुष्टि यों तीन भेद किये हैं। इसी प्रकार मिश्रप्रवाह के प्रवाहप्रवाह-मर्यादाप्रवाह-पुष्टिप्रवाह यों तीन भेद किये है। और, मिश्रमर्यादा के मर्यादामर्यादा-पुष्टिमर्यादा-प्रवाहमर्यादा यों तीन भेद किये है। परन्तु इस टीका के टीकाकार तीनों मार्गों के केवल दो ही भेद मानते है - शुद्धमार्ग और मिश्रमार्ग। देखें तालिका.....

पुष्टिमार्ग		मर्यादामार्ग		प्रवाहमार्ग	
शुद्धपुष्टिमार्ग	मिश्रपुष्टिमार्ग	शुद्धमर्यादामार्ग	मिश्रमर्यादामार्ग	शुद्धप्रवाहमार्ग	मिश्रप्रवाहमार्ग

इन दो प्रकारों में से शुद्धभेद तो आपश्री पहले वता चुके है अतः अव इनके मिश्रभेद के भी तीन भेद **मिश्राश्चिधा पुनः** इत्यादि शब्दों से वता रहे हैं।

मिश्रमार्गों की त्रिविधता आपश्री **प्रवाहादिविभेदेन** इत्यादि शब्दों से दिखा रहे हैं। मिश्रमार्ग की त्रिविधता वताने का प्रयोजन है - भगवत्कार्य की सिद्धि के लिये। अर्थात् भगवान मिश्रमार्गों का अनुगमन करने वाले इतने सभी जीव इसलिये वनाते हैं ताकि भगवत्कार्य सिद्ध हो सके। भगवत्कार्य का अर्थ है- भगवान का रमण। तात्पर्य यह कि भगवान रमण करने के लिये इतने प्रकार के जीवों की सृष्टि वनाते है। भगवत्कार्यं का अर्थ है - तीनों मार्गों की सृष्टि ; **तत्सिद्धये** का अर्थ है - सभी को तीनों मार्गों का विवेक हो जाय, ज्ञान हो जाये इसलिये। अथवा तो भगवत्कार्यं का अर्थ है - भगवान की लीला ; भगवल्लीला की सिद्धि के लिये अर्थात् भगवान का क्रीड़ारस सिद्ध हो पाये इसलिये भगवान इतने प्रकार के जीवों की सृष्टि करते हैं। इसी कारण भागवत में विन्ध्यावली ने भी "हे प्रभो ! आपने अपनी क्रीड़ा के लिये ही इस संपूर्ण विश्व को वनाया है परन्तु जो कुवुद्धि है, वे अपने आप को ही इसका स्वामी मानते हैं। वास्तव में तो आप ही इस जगत् के कर्ता, भर्ता और संहर्ता है(श्री०भा० ८-२२-२०)" यह कहा है।

मिश्राणां त्रैविध्यं दर्शयन्ति पुष्ट्याविमिश्रा इति । ये सर्वज्ञास्ते सर्वज्ञत्वेन पुष्टिमार्गोत्कर्षं ज्ञात्वा पुष्ट्या विमिश्रा भवन्ति, यथा नारदप्रह्लादादयः, ये पूर्णज्ञानफलनिष्ठाः सन्तः पुष्टिस्वरूपाभिज्ञास्ते पुष्ट्या विमिश्रा भवन्ति । पुष्टिमार्गाभिज्ञत्वे हेतुः सर्वज्ञा इति । 'ज्ञाननिष्ठा तदा ज्ञेया सर्वज्ञो हि यदा भवेत्' । ये स्वभावतः पूर्णज्ञाननिष्ठाः सन्तः सर्वज्ञत्वात् पुष्टिमार्गस्वरूपाभिज्ञास्त एवोक्ताः

पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञा इति । अतः परं प्रवाहविमिश्रणप्रकारमाहुः **प्रवाहेण क्रियारता** इति । ये स्वभावतः काम्यकर्मरताः काम्यकर्मनिष्ठाः सन्तः प्रवाहेण मिश्रा [1]जाताः, तदा विशेषेण काम्यकर्मनिष्ठाः काम्यकर्मरताः काम्यकर्मजडा एव भवन्ति । यथा सर्वज्ञाः पुष्ट्या विमिश्रा भवन्ति, तद्वदेव प्रवाहेण विमिश्रास्ते कर्मजडा एव भवन्ति । न तु मार्गान्तरविमिश्रा भवन्ति । त एवोक्ताः **प्रवाहेण क्रियारता** इति । एवं प्रवाहविमिश्रणप्रकारमुक्त्वा मर्यादाविमिश्रणप्रकारमाहुः **मर्यादया गुणज्ञा** इति । ये शुद्धमर्यादामार्गीयास्ते मर्यादामार्गीयभक्तसङ्गविमिश्रणेन भगवद्गुणपरा भवन्ति **भगवद्गुणज्ञा** इति ।

मिश्रकोटि के मिश्रपुष्टि-मिश्रप्रवाह-मिश्रमर्यादा ये तीन प्रकार आपश्री **पुष्ट्या विमिश्रा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। जो सर्वज्ञाः होते हैं वे सर्वज्ञ होने के कारण पुष्टिमार्ग का उत्कर्ष जानकर मिश्रितपुष्टिजीव बन जाते हैं ; जैसे कि नारदजी एवं प्रह्लाद आदि थे ; ये वे मिश्रपुष्टिजीव होते हैं, जो पूर्णज्ञान से प्राप्त होने वाले फल में निष्ठा रखते हुए पुष्टिस्वरूप को जानते होते हैं और इस प्रकार वे मिश्रितपुष्टिजीव होते हैं। ये पुष्टिमार्ग को कैसे जान पाते हैं ? तो आचार्यचरण आज्ञा करते हैं - क्योंकि ये सर्वज्ञ होते हैं। और आचार्यचरणों ने कहा भी है - "जब भक्त सर्वज्ञ हो जाये तो समझना चाहिए कि उसमें ज्ञान के प्रति निष्ठा है(शा०प्र०-१७)" । इसलिये जो स्वभाव से ही पूर्णज्ञान में निष्ठ होकर सर्वज्ञता के कारण पुष्टिमार्ग के स्वरूप को जानते हैं , उनके लिये ही आचार्यचरण **पुष्ट्या विमिश्रा सर्वज्ञा** यों कह रहे हैं। इसके पश्चात् आपश्री शुद्धप्रवाहमार्ग में विमिश्रण का प्रकार **प्रवाहेण क्रियारता** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। जो स्वभाव से ही सकामकर्म(कामनापूर्ति के लिये किये जाने वाले कार्य)में रत हैं और सकामकर्म में निष्ठा रखते हैं, वे प्रवाह से मिश्रित जीव होते हैं। इन कार्यों में स्वार्थ रखते हुए वे विशेषरूप से सकामकर्म में निष्ठ होते हैं, सकामकर्म में रत सकामकर्मजड़ ही होते हैं। जैसे पुष्टि से मिश्रित सर्वज्ञ होते हैं, वैसे प्रवाह से मिश्रित कर्मजड़ ही होते हैं। तात्पर्य यह कि प्रवाही होने के कारण वे सकामकर्म से ही जुड़े ; न पुष्टि से जुड़े और न ही मर्यादा से। इन्हीं जीवों को आचार्यचरणों ने **प्रवाहेण क्रियारता** कहा है। इस प्रकार शुद्धप्रवाह में मिश्रण बता कर अब आपश्री शुद्धमर्यादामार्ग में होनेवाले मिश्रण का प्रकार **मर्यादया गुणज्ञाः** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। जो शुद्धमर्यादामार्गीय होते हैं , वे मिश्रमर्यादामार्गीय भक्त के संग मिल कर भगवद्गुणगान करने वाले हो जाते हैं- उन्हें आपश्री भगवद्गुणज्ञा शब्द से बता रहे हैं।

एवं मिश्रभेदान्निरूप्य सर्वतः सर्वोत्कृष्टत्वज्ञापनाय केवलपुष्टिमार्गीयान् निरूपयन्ति शुद्धाः प्रेम्णेति । शुद्धाः प्रेम्णा पुष्टिमार्गीयभावातिरिक्तभावान्तररहितास्ते अतीव दुर्लभाः । **अतीव दुर्लभाः** इत्यत्रातीवशब्दात् भगवदनुग्रहैकलभ्या इत्यर्थः । एवं मिश्रभेदप्रकारेण मार्गत्र[2]यं निरूप्य शुद्धपुष्टिप्रकारनिरूपणेन पुष्टिमार्गस्य सर्वोत्कृष्टत्वं निरूपितम् ॥१५१/२॥

इस प्रकार से मिश्रमार्गों के भेदों का निरूपण करके आपश्री इन सभी की तुलना में सभी तरह से पुष्टिमार्गीयों को सर्वोत्कृष्ट को बताने के लिये केवल शुद्ध पुष्टिमार्गीयों का निरूपण **शुद्धाः प्रेम्णाति** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इन्हें **शुद्धाः** इसलिये कहा गया क्योंकि ये भगवान से केवल प्रेम करना जानते हैं और पुष्टिमार्गीयभाव के अतिरिक्त अन्य सभी भावों से रहित होते हैं। ऐसे शुद्धपुष्टिजीव बड़े ही दुर्लभ होते हैं। आपश्री के अतीव दुर्लभाः इन शब्दों में इन्हें अति दुर्लभ कहने का अर्थ यह है कि, ऐसे शुद्धपुष्टिजीव वहीं मिलेंगे जहां भगवान का अनुग्रह होगा, सर्वत्र नहीं मिलेंगे। इस प्रकार से आचार्यचरणों ने मिश्रभेदों का प्रकार बता कर तीनों मार्गों का निरूपण किया और शुद्धपुष्टिमार्ग को बता कर पुष्टिमार्ग की सर्वोत्कृष्टता भी निरूपित की ॥ १५ १/२ ॥

एवं तेषां मार्गत्रयाणां सर्गभेदप्रकारमुपसंहरन्ति **एवं सर्ग** इति ।

एवं सर्गस्तु तेषां हि फलं त्वत्र निरूप्यते ॥१६॥
भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद्भुवि ।
गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत् ॥१७॥
आसक्तौ भगवानेव शापं दापयति क्वचित् ।
अहङ्कारेऽथवा लोके तन्मार्गस्थापनाय हि ॥१८॥
न ते पाषण्डतां यान्ति न च रोगाद्युपद्रवः ।
महानुभावाः प्रायेण शास्त्रं शुद्धत्वहेतवे ॥१९॥
भगवत्तारतम्येन तारतम्यं भजन्ति हि ।
लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथा ॥२०॥

---

१. जीवाः । २. त्रयभेदम् ।

वैष्णवत्वं हि सहजं ततोऽन्यत्र विपर्ययः ॥२०१/२॥

एवं अनेन प्रकारेण सर्गभेदमुपसंहृत्य तेषां फलनिरूपणं प्रतिजानते फलं त्वत्र निरूप्यत इति । अत्र मार्गत्रयनिरूपणप्रस्तावे मार्गत्रयस्य फलं निरूप्यते । तत्र पूर्वं पुष्टिमार्गस्य फलमाहुः भगवानेव हि फलमिति । अत्र भगवत्पदेन साक्षात्पुरुषोत्तम उक्तः । एवकारेण साक्षात् स एवानन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपेण प्रकट एव फलम् । स यथा पूर्वोक्तस्वरूप एव भुवि पुष्टिमार्गीयभक्तस्थितिस्थाने आविर्भवेत् प्रकटो भवेत् ।

इन मार्गों की सृष्टि का प्रकार बताने का उपसंहार आपश्री एवं सर्गः इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

एवं सर्गः का अर्थ है- इस प्रकार से सर्गभेद कहना समाप्त करके अब उनका फल आपश्री फलं त्वत्र निरूप्यते इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री को तीनों मार्गों का निरूपण करना है अतः वे इन मार्गों का फल बता रहे हैं। इनमें सबसे पहले पुष्टिमार्ग का फल भगवानेव हि फलं इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यहाँ भगवान पद का अर्थ साक्षात् पुरुषोत्तम ही है। एव शब्द से यह समझना चाहिए कि, पुष्टिमार्ग में आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि रूप से साक्षात् पुरुषोत्तम का प्रकट हो जाना ही फल है। इससे आपश्री का तात्पर्य यह है कि पूर्व में कहे साक्षात् पुरुषोत्तमस्वरूप से ही प्रभु भुवि अर्थात् पुष्टिमार्गीयभक्त के निवासस्थान में आविर्भूत/प्रकट होते हैं।

कदाचित् ज्ञानिभक्तन्यायेन हृद्येव भावनाप्रकारेण प्राकट्यं भविष्यतीत्याशङ्कानिरासायाहुः गुणस्वरूपभेदेनेति । गुणाः ईक्षणभाषणादिलीलारूपाः, स्वरूपं तु पूर्वोक्तमेव, तद्भेदेन तत्तत्प्रकारभेदेन यथा प्रकटो भवेत्, तथा तेन प्रकारेण प्रकारभेदेन तेषां फलानुभवहेतुर्भवेदित्यर्थः । पुष्टिमार्गीयाणां साक्षात्सम्बन्धस्यैव फलत्वमेव युक्तमितिज्ञापनाय हिशब्दः ।

इसमें यदि किसी को यह शंका होती हो कि, जैसे ज्ञानीभक्त के लिये भगवान हृदय में ही भावना द्वारा प्रकट होते हैं , तो पुष्टिमार्ग में भी कदाचित् वैसे ही प्रकट होते होंगे - तो इस शंका का निराकरण आपश्री गुणस्वरूपभेदेन इत्यादि शब्दों द्वारा कर रहे हैं। गुणाः का अर्थ है- भगवान के गुण। भगवान का अपने गुणों के सहित प्रकट होने का अर्थ है - भगवान का अपने भक्त को देखना, भगवान का अपने भक्त से वार्तालाप करना इत्यादि प्रकार से भगवान का अपने भक्त के संग लीला करनी ; कहने का अर्थ यह है कि, शुद्धपुष्टिमार्ग में भगवान भावनारूप से नहीं अपितु साक्षात् रूप से प्रकट होते हैं। स्वरूपं का अर्थ तो पूर्व में हम बता ही चुके हैं कि शुद्धपुष्टि में भगवान पूर्णपुरुषोत्तमस्वरूप से प्रकट होते हैं। इन गुणों एवं स्वरूपों के भेदों से जिस-जिस प्रकार से भगवान प्रकट होते हैं, उन्हीं प्रकारों एवं उन्हीं भेदों के अनुसार भगवान उन शुद्धपुष्टिजीवों के फलानुभव का कारण बनते हैं- यह अर्थ है। ऐसे शुद्धपुष्टिमार्गीयजीवों को भगवान का साक्षात् सम्बन्धरूपी फल प्राप्त होना तो युक्त ही है - यह बताने के लिये हि शब्द का प्रयोग है।

ननु पुष्टिमार्गस्य सर्वोत्कृष्टत्वं यद्यपि सर्वप्रमाणसिद्धम्, तथापि तन्मार्गीयस्यापि वृत्रस्यासुरयोनिप्रवेशे को हेतुरित्याशङ्कानिरासायाहुः आसक्तावपीति । पुष्टिमार्गीयस्य स्वमार्गीयभगवत्स्वरूपातिरिक्तासक्तेरनुचितत्वात् वृत्रस्य पूर्वजन्मनि सङ्कर्षणस्वरूपासक्तत्वात् तस्य च साक्षात् पुरुषोत्तमत्वाभावात् तदासक्तिनिवृत्त्यर्थं शापं दापितवान् । अथवा । अहङ्कारे सत्यपि क्वचित् लोके भक्ताय शापं दापयति । यथा परीक्षिति । क्वचिदितिपदात् अहङ्काराभावेपि क्वचित् शापो दृश्यते । यथेन्द्रद्युम्ने अगस्त्यशापः । शापायोग्येष्वपि भगवद्भक्तेषु शापानिमित्तोद्गमनदर्शनेन यत् शापदानम्, तद्भगवदिच्छयैव, ननु प्रकारान्तरेणेति ज्ञापनाय भगवानेवेत्यत्र एवकारः । तत्र शापदाने हेतुमाहुः तन्मार्गस्थापनाय हीति । यस्य यस्मिन् मार्गे अङ्गीकारः, तस्य शापानन्तरमपि तन्मार्गाङ्गीकारस्य नित्यत्वेन तन्मार्ग एव स्थापनम्, न तु मार्गान्तरसम्बन्धस्तदर्थमित्यर्थः । नित्यपदार्थस्य परावृत्त्यभावो युक्त इति ज्ञापनायोक्तं हीति ।

एक प्रश्न यह होता है कि, पुष्टिमार्ग की सर्वोत्कृष्टता तो यद्यपि समस्त प्रमाणों से सिद्ध है तथापि पुष्टिमार्गीय होने पर भी वृत्र को आसुरीयोनि में प्रवेश मिलने का क्या कारण हो सकता है ? इस शंका का निराकरण आचार्यचरण आसक्तावपि इत्यादि शब्दों द्वारा कर रहे हैं। ऐसा इसलिये हुआ क्योंकि एक पुष्टिमार्गीय के लिये स्वमार्गीय भगवत्स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी स्वरूप में आसक्ति रखनी तो अनुचित है ; वृत्रासुर अपने पूर्वजन्म में भगवान के सङ्कर्षणस्वरूप में आसक्त था और सङ्कर्षणस्वरूप में साक्षात् पुरुषोत्तमस्वरूप का स्वरूप नहीं है अतः उसकी सङ्कर्षणस्वरूप में रही आसक्ति को दूर करने के लिये भगवान ने उसे शाप दिलवाया। अथवा तो आपश्री आज्ञा करते हैं कि भक्त में अहंकार आ जाने पर भी भगवान उसे शाप दिलवा देते हैं , जैसे राजा परीक्षित को दिलवाया। क्वचित् पद से यह भी ज्ञात होता है कि, कभी-कभी लोक में ऐसा भी दिखाई देता है कि भक्त में अहंकार न भी हो, तथापि भगवान उसे शाप दिलवा देते हैं , जैसे इन्द्रद्युम्न को अगस्त्य ऋषि ने शाप दे दिया। किन्तु जो भगवद्भक्त शाप दिलाने के योग्य नहीं हैं, उन्हें भी जब शाप मिलता है, तब तो वहाँ भगवदिच्छा ही माननी चाहिए। वहाँ भगवदिच्छा के अतिरिक्त और कोई दूसरा कारण नहीं है , यह बताने के लिये आपश्री ने भगवानेव

इस शब्द में एवकार का प्रयोग किया है। ऐसे भक्त को भगवान द्वारा शाप दिलाये जाने का कारण आपश्री **तन्मार्गस्थापनाय हि** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। भगवान ने जिसे जिस मार्ग में अंगीकार/स्वीकार किया है, उसे शाप दिलवाने के बाद भी भगवान उसे उसी मार्ग के द्वारा स्वीकार करते हैं अतः उसका उस मार्ग द्वारा उद्धार होना मार्ग की नित्यता बताता है अतः उस मार्ग में दृढ़ करने के लिये ही भगवान उसे शाप दिलवाते हैं ; ऐसा नहीं है कि शाप मिलने के पश्चात् उसका किसी और मार्ग से संबन्ध हो जाता हो। भगवान द्वारा अंगीकार होना नित्य है, वह बदल नहीं हो सकता - यह बताने के लिये **हि** शब्द का प्रयोग है।

अतःपरं शापानन्तरमपि मार्गाङ्गीकारस्थितिनित्यत्वज्ञापनप्रकारमाहुः न ते पाषण्डतां यान्तीति । यदि भगवदङ्गीकारस्य नित्यत्वं न स्यात्, तदा तेषां भगवत्सम्बन्धाभावात् पाषण्डित्वमेव स्यात् । यदि तेषां भगवदङ्गीकारो न स्यात्, तदा कल्माषपादवत् ब्रह्मद्रोहरूपं दुष्टकर्माचरणं स्यात् । अत एवोक्तं न ते पाषण्डतां यान्तीति । ते पाषण्डमार्गप्रविष्टा न भवन्तीत्यर्थः । एवमेकं मार्गाङ्गीकारनित्यत्वज्ञापकलक्षणमुक्त्वान्यान्यपि लक्षणान्याहुः । शापस्य क्लेशहेतुत्वमाशङ्क्याङ्गीकारनित्यत्वेन तदभावमाहुः न च रोगाद्युपद्रव इति । तेषां व्याध्याद्युपद्रवो न भवति । अत एव वृत्रस्य सर्वाभिभावुकत्वम्, न तु केनाप्यभिभाव्यत्वम् । लक्षणान्तरमाहुः महानुभावा इति । महान् अनुभावो येषाम् । यद्यपि शापयुक्तास्तथापि ते महानुभावा एव । अत एव भगवन्मार्गतत्त्वज्ञैर्महादेवैः शापदानानन्तरं पार्वतीं प्रति तेषामनुभाव उक्तः । 'दृष्टवत्यसि सुश्रोणि हरेरद्भुतकर्मणः । माहात्म्यं भृत्यभृत्यानां निःस्पृहाणां महात्मनाम् । नारायणपरा लोके न कुतश्चन बिभ्यति । स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन 'इति ।

इसके पश्चात् ,अब शाप दिलवाने के बाद भी उस भक्त की मार्ग में स्थिति किस प्रकार से बनी रहती है, यह आपश्री **न ते पाषण्डतां यान्ति** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इसमें आपश्री का तात्पर्य यह है कि, शाप के प्रभाव से भी उन भक्तों में पाखंडता नहीं आती। यदि भगवान द्वारा उनका अंगीकार किया जाना नित्य न होता, तो शाप मिलने के कारण भगवान से दूर हो जाने के पश्चात् उनमें पाखंडता आ गयी होती। यदि भगवान शाप दिलवाने के पश्चात् उसे छोड़ देते होते, तो वह कल्माषपाद की भाँति ब्रह्मद्रोहरूप दुष्ट आचरण करता। इसी कारण आपश्री ने कहा कि **न ते पाषण्डतां यान्ति** अर्थात् शाप मिलने के बाद भी वे पाखण्ड के रास्ते पर नहीं चलते। इस प्रकार से मार्ग में भगवान द्वारा अंगीकार की नित्यता बताने वाले एक लक्षण को कह कर अब आपश्री आगे अन्य लक्षणों को भी कह रहे हैं। परंतु शाप मिलने से क्या वे दुखी होंगे ? तो आपश्री भगवान द्वारा अंगीकार किये जाने की नित्यता बताने के लिये **न च रोगाद्युपद्रवः** इत्यादि शब्दों से यह कह रहे हैं कि वे दुखी नहीं होंगे। तात्पर्य यह कि उन्हें आधि-व्याधि का उपद्रव नहीं होता। इसी कारण वृत्रासुर शाप मिलने के बाद भी किसी से पराजित नहीं हुआ अपितु सभी उससे पराजित हुए। अन्य लक्षणों को आपश्री **महानुभावाः** इन शब्दों से कह रहे हैं। महानुभाव का अर्थ है - जिसका अनुभाव/प्रभाव महान हो। तात्पर्य यह कि भले ही वे शापयुक्त हों तथापि वे महानुभाव ही बने रहते हैं। इसी कारण भगवन्मार्ग के तत्त्वज्ञ महादेवजी ने भी "हे पार्वती ! भगवान के दासानुदासों की महिमा तुमने अपनी आँखों से देख ली। जो लोग भगवान के शरणागत होते हैं, वे किसी से भी नहीं डरते। क्योंकि उन्हें स्वर्ग, मोक्ष, और नरकों में भी केवल भगवान के ही दर्शन होते हैं(श्री०भा० ६-१७-२७)" इस श्लोकानुसार पार्वतीजी द्वारा वृत्रासुर को शाप दिये जाने पर भी वृत्रासुर को महानुभाव ही कहा।

ननु यदि तेषां महानुभावत्वं तर्हि कथं शापसम्भव इत्यतः आहुः प्रायेण शास्त्रं शुद्धत्वहेतवे इति । शास्यते अनेनेति व्युत्पत्त्या शास्त्रमिति, शापस्य शास्त्ररूपत्वात् पूर्वजन्मापराधनिवृत्तिहेतुत्वेन शुद्धिहेतुत्वमुक्तम् । प्रायेणेति सम्भावना । एवं भगवदङ्गीकारस्य नित्यत्वं मर्यादामार्गेपि ज्ञेयम् । नित्यत्वज्ञापका धर्माः 'न ते पाषण्डतां यान्ती'त्यादयो मर्यादामार्गेपि ज्ञेयाः । परीक्षिति गजेन्द्रे च । ननु यदि शापानन्तरमपि भगवदङ्गीकारस्य नित्यत्वेन त्रिष्वपि पूर्वधर्मसमानत्वम्, तर्हि फलेपि साम्यं भविष्यतीत्याशङ्कानिरासायाहुः भगवत्तारतम्येनेति । भगवत्स्वरूपतद्भजनप्रकारतारतम्येन फलेपि भक्तास्तारतम्यं भजन्ति हि । तत्र भजनतारतम्यप्रकारः । पुष्टिमार्गभजने स्नेह एव नियामकः । मर्यादामार्गीयभक्तभजने मर्यादामार्गीयभक्तस्य यद्यपि भजनीयः पुरुषोत्तम एव तथापि तत्र विधिरेव नियामकः, न तु स्नेहोपीति तारतम्यम् । इन्द्रद्युम्नस्य पूजापरत्वात्, तत्र पूज्यस्य पुरुषोत्तमविभूतिरूपत्वात् पूजायाश्च कर्ममार्गत्वात् तत्रापि विधिरेव नियामक इति । भगवत्स्वरूपतद्भजनप्रकारतारतम्येन तारतम्यं भजन्ति । भजनतारतम्येन फलतारतम्यस्य युक्तत्वज्ञापनाय हिशब्दः । फलतारतम्यं तु 'गजेन्द्रो भगवत्स्पर्शाद्विमुक्तोऽज्ञानबन्धनात् । प्राप्तो भगवतो रूपं पीतवाश्चतुर्भुज'मित्यादिवाक्येषु प्रसिद्धमिति नात्र विचारः ।

किंतु शंका यह होती है कि , यदि भक्त महानुभाव ही होते हैं, तो फिर उन्हें शाप दिया ही क्यों जाता है ? इसका कारण आपश्री **प्रायेण**

शास्त्रं शुद्धत्वहेतवे इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। शास्त्र शब्द का अर्थ है - जिससे किसी पर शासन किया जा सके। इस परिभाषा के अनुसार शाप दिलवाने का अर्थ है -शासन करना। और, पूर्वजन्म में किये अपराधों की निवृत्ति कराने के लिये भगवान उसे प्रायः शुद्ध बनाने के लिये शाप दिलवाते हैं। प्रायेण शब्द के प्रयोग से ज्ञात होता है कि, संभव है भगवान शुद्ध बनाने के लिये ही उसे शाप दिलवाते हों। ठीक इसी प्रकार से समझना चाहिए कि , मर्यादामार्ग में भी भगवान द्वारा अंगीकार किया जाना नित्य ही है। तात्पर्य यह कि, "न ते पाषण्डतां यान्ति" इत्यादि शब्दों से कहे गये भगवान के अंगीकार की नित्यता बताने वाले धर्म मर्यादामार्ग में भी हैं। उदाहरण के रूप में जैसे परीक्षित् एवं गजेन्द्र को शाप लगने के बाद भी वे भक्त ही बने रहे एवं उनमें पाखंडता इत्यादि विरुद्ध धर्म नहीं आये। किंतु यहाँ शंका यह होती है कि, यदि शाप दिलाने के बाद भी भगवान द्वारा अंगीकार किया जाना बदलता न हो, तो फिर वृत्रासुर, परीक्षित् और गजेन्द्र ये तीनों तो एक समान ही हो गये और तब ऐसी परिस्थिति में फिर इन्हें मिलने वाला फल भी समान ही होना चाहिए !! तो इस शंका का निराकरण आपश्री भगवत्तारतम्येन इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि, यदि भगवत्स्वरूप एवं उनके भजन के प्रकारों में अंतर है, तो फिर इनके फलों में भी अंतर होगा। इन तीनों भक्तों के भजन के प्रकारों में क्या अंतर है, यह समझें। पुष्टिमार्गीयभजन में स्नेह ही मुख्य पदार्थ है। मर्यादामर्गीयभक्त के भजन में यद्यपि मर्यादामार्गीयभक्त के भजनीय तो पुरुषोत्तम ही हैं , तथापि मर्यादामर्गीयभजन में विधि ही प्रधान है स्नेह नहीं - यह दोनों में अंतर है। चूँकि इन्द्रद्युम्न पूजा में आसक्त था और उसकी पूजा भी पुरुषोत्तम के विभूतिरूप की थी। और पूजा चूँकि कर्ममार्गीय है एवं कर्ममार्ग में विधि ही प्रधान होती है, भगवान के प्रति स्नेह प्रधान नहीं होता अतः भगवत्स्वरूप में अंतर है। और यदि भजन के प्रकार में अंतर है तो फल में भी अंतर आ जाता है - यह बताने के लिये हि शब्द का प्रयोग है। और, फलों में अंतर होता है, यह बात तो "गजेन्द्र भी भगवन का स्पर्श पा कर अज्ञान के बन्धन से मुक्त हो गया। उसे भगवान का ही रूप प्राप्त हो गया(श्री०भा० ८-४-६)" इत्यादि वाक्यों में प्रसिद्ध है ही अतः इसमें किसी विचार की कोई आवश्यकता नहीं है।

ननु यदि तेषां केवलं भगवत्परत्वमेव, तर्हि श्रौतस्मार्तकर्माचरणे को हेतुरिति चेत्, तत्राहुः लौकिकत्वं वैदिकत्वमिति । यद्यपि ज्ञानमार्गीयस्यापि भक्तस्य 'तावत्कर्माणि कुर्वीते'त्यनेन श्रौतस्मार्तकर्माचरणस्यानावश्यकत्वं श्रूयते, पुष्टिमार्गीयाणामपि 'यानास्थाये'तिवाक्यात् । अत्र 'आस्थाये'ति, आस्थानं नाम कायवाङ्मनसां तदेकपरत्वम्, तादृशानामपि श्रौतस्मार्तकर्माचरणानावश्यकत्वेपि यत्कर्माचरणं तत्र को हेतुरित्याशङ्क्य हेतुमाहः वैदिकत्वं लौकिकत्वं कापट्यादिति । वैदिकत्वं वैदिककर्माचरणम्, लौकिकत्वं लौकिकव्यवहारादिप्रतिपालनम्, तत्तेषु कापट्यात् कापट्याद्धेतोरित्यर्थः। कापट्यं नाम लोकसङ्ग्रहः ।अत एव भगवताप्युक्तं 'सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत। कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम् । न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् । जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् 'इति भगवद्वाक्यात् तत्तन्मार्गीयपूर्णभक्तिमतां लौकिकवैदिककर्माचरणं लोकसङ्ग्रहार्थमेव, न तु कर्मासक्तानामिव परमपुरुषार्थरूपत्वेन ।

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, यदि पुष्टिमार्गीयभक्त केवल भगवत्पर ही होते हैं, तो वे श्रौतस्मार्त इत्यादि कर्म क्यों करते हैं ? इसका उत्तर आपश्री लौकिकत्वं वैदिकत्वं इत्यादि शब्दों द्वारा दे रहे हैं। यद्यपि ज्ञानमार्गीयभक्त को भी "कर्म तब तक ही करने चाहिए, जब तक मेरी लीलाकथा के श्रवणकीर्तन आदि में श्रद्धा न हो जाय(श्री०भा० ११-२०-९)" इत्यादि वाक्यानुसार श्रौतस्मार्त कर्मों को करने की आवश्यकता नहीं बतायी गयी है एवं पुष्टिमार्गीयभक्त के लिये "हे राजन् ! इन भागवतधर्मों का अवलम्बन करके मनुष्य कभी विघ्नों से पीड़ित नहीं होता और नेत्र बंद करके दौड़ने पर भी अर्थात् विधि-विधानों में चूक हो जाने पर भी न गिरता है और न ही फिसलता है(श्री०भा० ११-२-३५)" इत्यादि वाक्यों में केवल भगवत्पर होने की बात बतायी गयी है ; और, इस श्लोक में तो "आस्थाय" शब्द का अर्थ काया-वाणी-मन से केवल भगवत्पर हो जाना है , तो ऐसे पुष्टिमार्गीय भक्तों को तो श्रौतस्मार्त इत्यादि कर्मों को करने की आवश्यकता यद्यपि नहीं है, तथापि पुष्टिमार्गीयभक्त ये लौकिक-वैदिक कार्य क्यों करते हैं, इसका हेतु आपश्री वैदिकत्वं लौकिकत्वं कापट्यात् इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। वैदिकत्वं का अर्थ है - वैदिककर्मों का आचरण। लौकिकत्वं का अर्थ है - लौकिकव्यवहारों का प्रतिपालन करना। ये दोनों कार्य पुष्टिमार्गीय कपटरूप से करते हैं अर्थात् लोकसंग्रह के लिये करते हैं , लोक को दिखाने मात्र के लिये। अत एव भगवान ने भी "जिस प्रकार फल में आसक्त अज्ञानी कर्म करते हैं, वैसे ज्ञानी को भी अनासक्तभाव से लोकशिक्षा के लिये कर्म करना चाहिए (भ०गी० ३-२५)" यह कहा है। इस भगवद्वाक्यानुसार पुष्टिमार्ग एवं मर्यादामार्ग इन दोनों मार्गों के पूर्णभक्तिवान लौकिकवैदिक कर्मों का आचरण लोकसंग्रह के लिये ही करते हैं ; कर्मासक्त जीवों की भाँति कर्मों को परमपुरुषार्थ समझ कर नहीं।

यद्यपि तेषां पूर्वोक्तकर्मकरणमनासक्तिपूर्वकं लोकसङ्ग्रहार्थमेवेत्युक्तम्, तर्हि तेषां कस्मिन् कर्मणि आसक्तिपूर्वकं करणमिति चेत्,

तत्राहुः **वैष्णवत्वं हि सहजमिति** । वैष्णवत्वं नाम पुष्टिमर्यादामार्गप्रवर्तकाचार्योपदेशपूर्वकं तदुक्तप्रकारेण तन्मार्गानुवर्तित्वम्, तदेव तेषां सहजो धर्मः स्वाभाविको धर्मः, सहजमिति । तेन तन्मार्गीयाणामेव धर्माणामासक्तिपूर्वकं करणम्, ततोऽन्यत्र ततः वैष्णवधर्मातिरिक्तधर्मेषु विपर्ययः पूर्वोक्तप्रकारः अनासक्तिपूर्वकं करणम्, लोकसङ्ग्रहार्थं करणमित्यर्थः ॥२०१/२॥

यद्यपि पुष्टिमार्गीयजीव लौकिकवैदिककर्म तो उनमें आसक्त हुए बिना करते हैं एवं लोक को दिखाने मात्र के लिये करते हैं- यह कहा गया परंतु जिज्ञासा यह होती है कि फिर वे कौन से कार्य आसक्ति रखते हुए करते हैं ? इस प्रश्न का समाधान आपश्री **वैष्णवत्वं हि सहजं** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। **वैष्णवत्वं** का अर्थ है- पुष्टिमार्ग और मर्यादामार्ग के प्रवर्तक आचार्यों के उपदेशों का पालन करते हुए , उनके द्वारा कहे प्रकार से, उनके बताये मार्ग का अनुसरण करना। पुष्टिमार्गीयों का वैष्णवता का यही सहज धर्म अर्थात् स्वाभाविक धर्म होता है - यह बताने के लिये आपश्री ने **सहजं** कहा। इसका तात्पर्य यह है कि, अपने आचार्य द्वारा कहे मार्ग के धर्मों को आसक्तिपूर्वक करना और वैष्णवधर्म से अतिरिक्त धर्मों में पूर्व में कहे अनुसार आसक्ति न रखते हुए करने का अर्थ है - लोक को दिखाने मात्र के लिये करना ॥ । २० १/२॥

एवं मार्गद्वयजीवानां फलपर्यवसानान्तां कृतिं निरूप्य पुष्टिमर्यादामार्गाङ्गीकाररहितानां दैवजीवानां साधारणानां स्वरूपं कृतिं चाहुः **सम्बन्धिनस्त्विति** ।

सम्बन्धिनस्तु ये जीवाः प्रवाहस्थास्तथापरे ॥२१ ॥
चर्षणीशब्दवाच्यास्ते ते सर्वे सर्ववर्त्मसु ।
क्षणात् सर्वत्वमायान्ति रुचिस्तेषां न कुत्रचित् ॥२२॥
तेषां क्रियानुसारेण सर्वत्र सकलं फलम् ॥२२१/२॥

सम्बन्धिनः दैवजीवत्वेन पुष्टिमर्यादामार्गाङ्गीकृतजीवसम्बन्धिनो, न तु तन्मार्गप्रवृत्ताः । तथा अपरे प्रवाहस्थाः । ते सर्वे चर्षणीशब्दवाच्याः सर्वमार्गेषु परिभ्रमणशीलाः । त एव सर्ववर्त्मसु मार्गत्रयेष्वपि क्षणात् कालविशेषं प्राप्य सर्वत्वं तत्तन्मार्गीयत्वं प्राप्नुवन्ति, तत्तन्मार्गीयधर्मानुकरणं कुर्वन्ति । ते मार्गत्रयधर्मानुकरणमेव कुर्वन्ति । न तु तेषां कुत्रचित् रुचिः । रुचिः क्वापि न भवतीत्यर्थः । न तु क्वापि श्रद्धेत्यर्थः । तेषां फलपर्यवसानमाहुः **तेषां क्रियानुसारेणेति** । तेषां तत्तन्मार्गीयक्रियानुकरणेन सर्वत्र सकलं कामितं कामनाविषयं फलं भवतीत्यर्थः । तेषां भगवदङ्गीकृतानां साधारणानां कामासक्तत्वात् तत्तत्क्रियानुसारेण सकलं तत्तत्कामितं फलं भवतीत्यर्थः ॥२२१/२॥

इस प्रकार से पुष्टि एवं मर्यादा इन दोनों मार्गों की फलपर्यंत कृति का निरूपण करके पुष्टिमार्ग एवं मर्यादामार्ग में अंगीकार से रहित साधारण दैवीजीवों के स्वरूप एवं उनकी कृति के विषय में आचार्यचरण **सम्बन्धिनस्तु** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

सम्बन्धिनः शब्द का अर्थ है - दैवीजीव होने के कारण पुष्टिमर्यादामार्ग में अंगीकृतजीवों से संबंधित होने वाले साधारण दैवीजीव। ये केवल उनसे संबंधित होते हैं ,उनके मार्गों में प्रवृत्त नहीं होते। उसी प्रकार **अपरे प्रवाहस्थाः** अर्थात् दूसरे प्रवाहमार्गीय होते हैं , जो **चर्षणी** नाम से जाने जाते हैं ; ये सभी मार्गों में परिभ्रमण करते रहते हैं। ये चर्षणी इन तीनों ही मार्गों में कुछ समय के लिये आते हैं और कुछ समय के लिये पुष्टिमार्गीय या मर्यादामार्गीय ही बन जाते हैं एवं उन-उन मार्गों में कहे धर्मों का अनुकरण करने लगते हैं। किन्तु वास्तव में इनकी रुचि कहीं नहीं होती। अर्थात् इन्हें किसी भी मार्ग में श्रद्धा नहीं होती। इन्हें जो फल प्राप्त होता है, उसे आपश्री **तेषां क्रियानुसारेण** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। तात्पर्य यह कि, इनको उन-उन मार्गों की क्रिया का अनुकरण करने के द्वारा कामना किये गये समस्त फल प्राप्त होते हैं। भगवान द्वारा अंगीकार किये जाने वाले इन साधारण जीवों को, कारण कि ये कामासक्त होते हैं अतः उन-उन क्रियाओं के अनुसार इन्हें कामना किये गये सकल फल प्राप्त होते हैं- यह अर्थ है ॥ २२ १/२॥

एवं सम्बन्धिनां स्वरूपमुक्त्वा केवलप्रवाहस्थानां स्वरूपमाहुः **प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामीति** ।

प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रिययुतान् ॥२३॥
जीवास्ते ह्यासुराः सर्वे 'प्रवृत्तिं चे'ति वर्णिताः ।
ते च द्विधा प्रकीर्त्यन्ते ह्यज्ञदुर्ज्ञविभेदतः ॥२४॥
दुर्ज्ञास्ते भगवत्प्रोक्ता ह्यज्ञास्ताननु ये पुनः ।
प्रवाहेऽपि समागत्य पुष्टिस्थस्तैर्न युज्यते ॥२५॥
सोपि तैस्तत्कुले जातः कर्मणा जायते यतः ॥२५१/२॥

कथनप्रकारमाहुः स्वरूपाङ्गक्रियायुतानिति । तेषां स्वरूपमाहुः जीवा इति ।
ते प्रवाहस्था जीवा आसुराः, ते सर्वे भगवतैव 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चे'ति वर्णिताः । आसुरेष्वपि प्रकारभेदमाहुः ते द्विधेति । द्वैविध्यमेव प्रदर्शयन्ति ह्यज्ञदुर्ज्ञविभेदत इति । यथा दैवजीवेष्वपि केचन पण्डिताः, केचन न, तद्वत् केचन आसुरेष्वपि दुर्ज्ञाः, केचन अज्ञाः । दुर्ज्ञानां लक्षणमाहुः दुर्ज्ञास्त इति । 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चे'ति भगवत्प्रोक्तलक्षणा दुर्ज्ञाः । अज्ञानाहुः तानन्विति । ये तान् अनु तदुक्तप्रकारानुवर्तिनस्ते अज्ञाः ।
इस प्रकार पुष्टिप्रवाहमर्यादामार्गों से संबंधित जीवों का स्वरूप कह कर अब आचार्यचरण उन जीवों के विषय में कह रहे हैं, जो केवल प्रवाहमार्गीय होते हैं। इसे वे प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। अज्ञ का अर्थ होता है - अज्ञानी। दुर्ज्ञ का अर्थ होता है - जिसका ज्ञान दुष्ट हो।
प्रवाहस्थ जीवों को कहने का प्रकार आपश्री स्वरूपाङ्गक्रियायुतान् शब्द द्वारा कह रहे हैं। इनके स्वरूप को जीवाः शब्द से बता रहे हैं। अर्थ यह है कि- ये प्रवाहीजीव आसुरी होते हैं और इन सबके विषय में भगवान ने गीता में "धर्म में प्रवृति एवं अधर्म से निवृत्ति को आसुरी नहीं जानते। उनमें न अन्तःकरण की शुद्धि, न सदाचार और न ही सत्य ही होता है(भ०गी० १६-७)" इस श्लोक द्वारा बताया है। इन आसुरों के भी दो प्रकार के भेद हैं, जिसे आपश्री ने ते द्विधा इत्यादि शब्दों द्वारा बताया है। उन्हीं दो प्रकारों को आपश्री ह्यज्ञदुर्ज्ञविभेदतः शब्द द्वारा दिखा रहे हैं। जैसे दैवीजीवों में भी कुछ जीव पंडित होते हैं और कुछ नहीं, उसी प्रकार आसुरीजीवों में भी कुछ दुर्ज्ञ होते हैं और कुछ अज्ञ। दुर्ज्ञजीवों के लक्षण आपश्री ने दुर्ज्ञास्ते इत्यादि शब्दों से कहे हैं। मूलश्लोक में आपश्री लिखते हैं - भगवान ने "प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च(भ०गी० १६-७)" इस श्लोक द्वारा दुर्ज्ञ-आसुरीजीवों के लक्षण कहे हैं। अज्ञ-आसुरीजीवों के लक्षण आपश्री तान्नु इस शब्द द्वारा बता रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि- ये वो अज्ञजीव होते हैं, जो दुर्ज्ञजीवों के कहे का अनुकरण करते हैं।
नन्वासुरेष्वपि जीवेषु म्लेच्छादिषु कस्यचिद्भगवत्परतादर्शने को हेतुरित्याशङ्क्यायामुच्यते । वस्तुतस्तु स नैवासुरजीवः, शुद्ध आसुरजीवे भगवद्भावस्यासम्भवात् । किन्तु भगवदपराधाद्भगवद्भक्तापराधाद्वा सोपि पुष्टिमार्गीयः प्रवाहे समागत्य प्रवाहस्थैः सङ्गं प्राप्यापि, तत्कुले जन्म वा प्राप्यापि, तैर्न युज्यते, आसुरभावैर्योगं न प्राप्नोति । ननु यदि स आसुरभावैर्न युज्यते, तर्हि तस्यासुरकुलोत्पत्तौ को हेतुरिति चेत्, तत्राहुः कर्मणा जायते यत इति । कर्मणा पूर्वोक्तभगवदपराधरूपेण, अथवा, तज्जनितप्रारब्धकर्मणा जन्मनः प्रारब्धकर्माधीनत्वात् । तत्रासुरकुले जन्मानन्तरमपि तद्भावसम्बन्याभावः कथं सम्भवतीति चेत्, उच्यते । तस्य पूर्वजन्मनि पुष्टिमार्गीयत्वेन भगवदङ्गीकृतत्वात् । भगवदङ्गीकारस्य नित्यत्वात् । अत एव गीतायां भगवताप्युक्तम् 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भया'दिति । तस्य पूर्वजन्मनि भगवद्धर्माचरणाख्यसंस्कारस्य बलिष्ठत्वात् आसुरकुले जन्मानन्तरमपि नासुरभावप्रवेशः ।
अब यहाँ प्रश्न यह होता है कि, कुछ आसुरी म्लेच्छजीवों में भी भगवत्परता दिखाई देती है, तो इसका क्या कारण है ? इसका उत्तर यह है कि, वास्तव में वे आसुरीजीव होते ही नहीं क्योंकि शुद्ध-आसुरीजीवों मे भगवद्भाव होना तो संभव ही नहीं है। किन्तु ऐसे जीव ने भगवद्-अपराध अथवा तो भक्त-अपराध किया होने के कारण और वह भी पुष्टिमार्गीय होकर ऐसा अपराध किया होने के कारण वह प्रवाहमार्गीयों के संग रहता हुआ भी अथवा तो प्रवाहमार्ग में जन्म लेकर भी प्रवाहमार्गीयों में जुड़ता नहीं है अर्थात् उसमें आसुरीभाव नहीं पनपता। किन्तु पुनः यह शंका होती है कि, यदि उसमें आसुरीभाव नहीं पनपता, तो फिर उसका प्रवाहमार्गीय या आसुरीजीवों के कुल में जन्म लेने का क्या कारण हो सकता है ? तो इस शंका का समाधान आपश्री कर्मणा जायते यतः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। कर्मणा का अर्थ है - पूर्व में कहे भगवद्-अपराध या भक्त-अपराध के कारण अथवा तो इन अपराधों के कारण उत्पन्न हुए प्रारब्धकर्मों के कारण उसका प्रवाह/आसुरी कुल में जन्म हो जाता है। क्योंकि अंततोगत्वा जन्म तो प्रारब्धकर्मों के अधीन ही होता है। अब प्रश्न यह होता है कि, आसुरकुल में जन्म लेकर भी उस पर आसुरीभाव का असर क्यों नहीं पड़ता ? तो अब हम इसका उत्तर दे रहे हैं। इसका कारण यह है कि, वह पूर्वजन्म में तो पुष्टिमार्गीय ही था अतः भगवान ने उसका अंगीकार किया ही था और भगवान द्वारा अंगीकार किया जाना कभी भी विफल नहीं होता, नित्य होता है। अत एव गीता में भगवान ने भी "कृष्णभावना के लिये जो कुछ भी साधन किया जाता है, उसका न कभी नाश होता है और न ह्रास ही होता है। इस पथ में की गयी अल्प प्रगति भी महान भय से रक्षा करती है(भ०गी० २-४०)" यह कहा है। उस जीव के पूर्वजन्म के भगवद्धर्मरूपी संस्कार इतने बलिष्ठ होते हैं कि, आसुरकुल में जन्म लेकर भी उसमें आसुरीभाव का प्रवेश नहीं होता।
किञ्च । गीतायां 'अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानस' इत्यारभ्य 'त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते' इत्यन्तेन पार्थपृष्टेन

भगवता 'पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते । न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति । प्राप्य पुण्यकृतान् लोकान् उषित्वा शाश्वतीः समाः । शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोभिजायते । अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् । एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् । तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम् । यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन । पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोपि सः । जिज्ञासुरपि योगस्य परं ब्रह्मातिवर्तते' इत्यन्तेन पार्थसंशयो निवारितः । यत्र योगभ्रष्टस्यापि पूर्वजन्मयोगधर्माचरणसंस्कारानिवृत्तिः, तत्र भगवदङ्गीकृतस्य पुष्टिमार्गीयस्य पूर्वजन्माचरितभगवद्धर्मस्य सर्वतोधिकप्राबल्यात् आसुरसङ्गेन तत्कुलजन्मनापि पूर्वजन्मसंस्कारनिवृत्त्यभावात्, यावज्जीवं तत्संस्कारवत्त्वेन अन्तकालेपि तत्संस्कारस्य विद्यमानत्वात्, 'अन्ते या मतिः सा गतिरिति शास्त्रात् 'यं यं वापि स्मरन् भाव'मिति भगवद्वाक्याच्च तस्य भगवत्प्राप्तिरेव, न तु आसुरभावजनितः कोप्यन्तराय इति सर्वमनवद्यम् ॥२५१/२॥

और भी, गीता में "हे माधव ! शिथिल यत्न वाले श्रद्धावान योगी की क्या गति होती है, जो आरंभ में तो स्वरूप-साक्षात्कार का मार्ग ग्रहण करता है और फिर बाद में चित्त की आसक्ति विषयों में हो जाने के कारण योग से विचलित हो जाता है ?(भ०गी० ६-३७)" इस श्लोक से आरंभ करके "हे कृष्ण ! आपके अतिरिक्त अन्य कोई मेरे संशय को दूर नहीं कर सकता(भ०गी० ६-३९)" इस श्लोक तक अर्जुन द्वारा पूछे जाने पर भगवान ने "हे पार्थ ! कल्याणकारी कर्म करने वाले योगी का इस लोक में अथवा परलोक में भी विनाश नहीं होता। सदाचारी का कभी भी अमंगल नहीं होता। हे पार्थ ! योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यात्माओं के लोकों में अनेक वर्षों तक सुख को भोग कर सदाचारी धनवानों के कुल में जन्म लेता है। अथवा तो ज्ञानियों के कुल में ही जन्म लेता है। ऐसा जन्म मिलना अति दुर्लभ है। हे अर्जुन ! उस देह में वह जन्मान्तर के बुद्धियोग को फिर प्राप्त हो जाता है और इस प्रकार योगयुक्त होकर पूर्णसिद्धि के लिये आगे साधन करता है। अपने पूर्वजन्म के संस्कार के कारण वह अपने आप योग की ओर आकृष्ट हो जाता है। योग के लिये प्रयास करने वाला ऐसा जिज्ञासु योगी भी शास्त्र के कर्मकाण्ड का उल्लंघन कर जाता है(भ०गी० ६-४०, ४१, ४२, ४३, ४४)" यहाँ तक के वाक्यों द्वारा अर्जुन का संशय दूर किया। जहाँ योगभ्रष्ट व्यक्ति की भी पूर्वजन्म में किये गये योगधर्माचरण के संस्कार की निवृत्ति नहीं होती , वहाँ स्वयं भगवान द्वारा अंगीकार किये जाने के पश्चात् पुष्टिमार्गीय के पूर्वजन्म में किये भगवद्धर्म के आचरण का प्रभाव तो सबसे अधिक प्रबल होता है और ऐसा कि आसुरसंग से आसुरीकुल में जन्म लेने के बाद भी उसके पूर्वजन्म के संस्कार नहीं मिटते। अतः जीवनपर्यंत उन्हीं संस्कारों से जुड़े रहने के कारण और अन्तकाल में भी वही संस्कार विद्यमान रहते होने के कारण उसे भगवत्प्राप्ति ही होती है ; जैसा कि "अन्त में जैसी मति वैसी गति(न्याय)" , "जिस-जिस भी भाव का स्मरण करते हुए जीव देह का त्याग करता है, वह भाव निःसंदेह ही उसको प्राप्त होता है(भ०गी० ८-६)" इत्यादि वाक्यों में कहा गया है। इन सभी के अनुसार उसे भगवत्प्राप्ति ही होती है , आसुरभाव के कारण उसे भगवत्प्राप्ति में कोई विघ्न नहीं आते अतः मेरा कहा सभी कुछ उचित ही है॥ २५ १/२॥

यद्यप्यत्र ग्रन्थोपसंहारदर्शनाभावादग्रेपि ग्रन्थोस्तीति ज्ञायते, तथाप्यग्रिमग्रन्थस्याप्रसिद्धत्वाद्यावत्प्रसिद्ध एव व्याख्यात इति नानुपपत्तिः काचित् ।

श्रीमत्कृष्णास्यवागर्थो दुर्बोधः सर्वथा स्वतः ।
तत्कृपातस्तदीयस्य बुद्धिगम्यो न चान्यथा ॥१॥
नत्वा पितृपदाम्भोजं कृपामधुसुपूरितम् ।
तदालोडितबुद्ध्यैव श्रीमदाचार्यभाषितम् ॥२॥
पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदकं शास्त्रमद्भुतम् ।
श्रीवल्लभेन व्याख्यातं तत्कृपातो यथामति ॥३॥
तेनाचार्याः प्रसीदन्तु मयि निःसाधने स्वतः ।
तेनैव मम नैश्चिन्त्यमैहिके पारलौकिके ॥४॥

इति श्रीपितृचरणैकतानश्रीवल्लभविरचितं पुष्टिप्रवाहमर्यादाविवरणं समाप्तम् ।

यद्यपि इस ग्रन्थ में कोई उपसंहार दिखाई नहीं पड़ता अतः यह पता चल ही जाता है कि इससे आगे भी और अधिक ग्रन्थ होना चाहिए , तथापि इससे आगे का ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता अतः जितना उपलब्ध है , उतने ही ग्रन्थ की व्याख्या मैंने की है इसलिए इसमें कुछ भी अयुक्त नहीं है।

श्रीकृष्ण के मुखारविंदस्वरूप आचार्यचरणों की वाणी का अर्थ करना स्वयं के लिये तो सर्वथा दुर्बोध है
तथापि आपकी ही कृपा से मुझ तदीय के लिये यह बुद्धिगम्य बना, अन्यथा न बनता ॥ १ ॥

कृपामधु से पूरित पितृचरणकमलों को नमस्कार करके
उन चरणकमलों से ओतप्रोत बुद्धि द्वारा श्रीमदाचार्यचरणों द्वारा कहे , ॥ २ ॥
पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदक अद्भुत शास्त्र की ,
मुझ श्रीवल्लभ ने उनकी कृपा से यथामति व्याख्या की ॥ ३ ॥
मेरी इस व्याख्या से आचार्यचरण मुझ निःसाधन पर प्रसन्न हों ,
और आपकी ही प्रसन्नता से मैं ऐहिक-पारलौकिक सभी में निश्चिन्त हूँ ॥ ४ ॥
यह श्रीपितृचरणकमलों में एकनिष्ठ श्रीवल्लभविरचित पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थ का विवरण समाप्त हुआ ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

पुष्टिप्रवाहमर्यादा ।

श्रीरघुनाथकृतविवरणसमेता ।

नमो भक्तभयाभावभाविने [1]भक्तिदायिने ।
श्रीमदग्निकुमाराय पारावाराय[2] सत्कृते ॥१॥

इदानीं भगवत्प्राप्तिलक्षणमुख्यफलतदभावौ किंनिबन्धाविति संशयं निवारयितुं मार्गभेदविचारमारभन्ते **पुष्टिप्रवाहमर्यादा** इति ।

पुष्टिप्रवाहमर्यादा विशेषेण पृथक् पृथक् ।
जीवदेहक्रियाभेदैः प्रवाहेण फलेन च ॥१॥
वक्ष्यामि सर्वसन्देहा न भविष्यन्ति यच्छ्रुतेः[3] ।

पुष्टिरनुग्रहो धर्म्येकनिष्ठः, स एको मार्गः । प्रवाहो 'जायस्व म्रियस्वे'त्येवंरूपः । **मर्यादा** वेदोक्तवचनोत्थो मार्गः । एतान् पृथक् पृथक् प्रत्येकं तेषामसाधारणलक्षणैर्जीवदेहप्रवाह[4]क्रियाफलरूपैर्विशिष्य यथा ज्ञायन्ते, तथा वक्ष्यामि, [5]यतो यच्छ्रवणानन्तरं पूर्वसन्देहाः सर्वविषयका न भविष्यन्तीत्यर्थः । अत्र जीवप्रवाहयोर्विशेषणविशेष्यभावेनैक्यं ज्ञेयम्, न भेदः । देहक्रिययोरप्येवमेव ज्ञेयम् । भेदानग्रे स्वयमेव वदिष्यन्ति ॥१॥

भक्तभय को दूर करने वाले एवं भक्तिप्रदाता
सत्कर्म करने एवं वाले संसार से पार लगाने वाले श्रीमदग्निकुमार-श्रीप्रभुचरणों को नमस्कार ॥ १ ॥

अब यह विचार करते हैं कि भगवत्प्राप्तिरूपी मुख्यफल क्या है एवं उस फल के प्राप्त न होने का कारण क्या है। इस संशय का निवारण करने के लिये आचार्यचरण विभिन्न मार्गों का भेद बताते हुए **पुष्टिप्रवाहमर्यादा** इत्यादि शब्दों से आरंभ कर रहे हैं।

पुष्टि शब्द का अर्थ है - अनुग्रह अर्थात् केवल धर्मिस्वरूप में निष्ठता होनी ; ऐसा पुष्टिमार्ग एक प्रकार का मार्ग है। प्रवाह का अर्थ है - "जो दुष्ट कर्म करते हैं, उनका "उत्पन्न होओ और मरो" यही तृतीयस्थान होता है(छा०५-१०-८)"- इत्यादि वाक्यों में कहा गया मार्ग। मर्यादा का अर्थ है - वेद में कहे वचनों द्वारा उत्पन्न हुआ मार्ग। आचार्यचरण आज्ञा करते हैं -ये सभी मार्ग पृथक्-पृथक् रूप से अर्थात् इन मार्गों के जीव-देह-प्रवाह-क्रिया-फल इत्यादि असाधारण अलग अलग लक्षणों द्वारा जिस प्रकार से समझ में आ जाएँ, उस प्रकार से कह रहे हैं ; जिसको सुनने के पश्चात् अगले-पिछले किसी भी प्रकार के संदेह नहीं होंगे। इस श्लोक में कहे जीव को "प्रवाह" शब्द से जोड़ दें एवं देह को "क्रिया" शब्द से। फलितार्थ यह हुआ कि , इन मार्गों में किस प्रकार के जीवों का प्रवाह चलेगा एवं इन मार्गों में रही देह क्या कार्य करेंगी- इन भेदों के विषय में आचार्यचरण आगे स्वयं ही कहेंगे॥ १॥

मार्गत्रयसद्भावं प्रमाणयन्ति **भक्तिमार्गस्येति** ।

भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः ॥२॥
'द्वौ भूतसर्गा'[6]वित्युक्तेः प्रवाहोपि व्यवस्थितः ।
वेदस्य विद्यमानत्वान्मर्यादापि व्यवस्थिता ॥३॥

कथनादिति । श्रीभागवतगीतादौ । अत्र भक्तिरूपकार्येण कारणं पुष्टिरस्तीति निश्चीयते । इदं धर्मिनिष्ठं पुष्टिमार्गे प्रमाणमुक्तम् । **'द्वौ भूतसर्गौ लोकेस्मिन् दैव आसुर एव चे'** त्याद्युक्तेः प्रवाहाख्योपि मार्गः प्रमाणसिद्धोस्तीति निश्चीयते । काण्डत्रयात्मकवेदस्य[7] विद्यमानत्वाच्छ्रूयमाणत्वान्मर्यादामार्गेपि सप्रमाणत्वं सिद्धम् ॥३॥

इन मार्गों की सत्ता विद्यमान है, इसका प्रमाण आपश्री **भक्तिमार्गस्य** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

आपश्री लिखते हैं **कथनात्** इससे आपश्री का तात्पर्य है - इन मार्गों की सत्ता श्रीभागवत एवं गीता इत्यादि शास्त्रों में कही गयी है इसलिये भक्तिमार्ग का विद्यमान होना सिद्ध हो जाता है। जहाँ-जहाँ भक्तिरूप कार्य होगा, वहाँ उसका कारण पुष्टि होगी- यह निश्चित होता है। [illegible] जब उस पर भगवान पुष्टि/अनुग्रह करेंगे। सो, पुष्टि या अनुग्रह कारण है एवं भक्ति

---

१. मुक्तिदायिने । २. पारः संसारस्तदुत्तारकायेत्यर्थः । ३. प्रवाहेतिनास्ति ४. अतः । ५. वेदेति नास्ति क्वचित् ।

उस कारण से उत्पन्न होने वाला कार्य है। यह "अनुग्रह" नामक तत्त्व धर्मिस्वरूप-भगवान में रहता है और यही जीवों पर भगवान का अनुग्रह करना ही पुष्टिमार्ग की सत्ता होने में प्रमाण है। 'हे अर्जुन ! इस संसार में दैवी और आसुरी ये दो प्रकार की सृष्टि होती है(भ०गी० १६/५)" इस वाक्यानुसार प्रवाह नाम का भी एक प्रमाणसिद्ध मार्ग है , यह निश्चित होता है। तीन काण्डों वाले वेद(अर्थात् कर्म, ज्ञान और उपासना काण्ड) की भी सत्ता विद्यमान होने के कारण मर्यादामार्ग भी प्रमाणसहित सिद्ध है॥ ३॥

त्रयाणामसङ्कीर्णमितरेतरभेदकं लक्षणमाह **कश्चिदिति** ।

कश्चिदेव हि भक्तो हि 'यो मद्भक्त' इतीरणात् ।
सर्वत्रोत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः ॥४॥
न सर्वोतः प्रवाहाद्धि भिन्नो वेदाच्च भेदतः ।
'यदा यस्ये'ति वचना'न्नाहं वेदै'रितीरणात् ॥५॥

'मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रिय' इति वचनाद्भक्तिमार्गीया विरला एव भवन्ति । न हि भगवत्प्रियत्वं स्वल्पसाध्यम्, अतः प्रवाहाद्भिन्नः पृथगेव । प्रवाहस्य सर्वसाधारणत्वाद्भक्तेरनुग्रहैकलभ्यत्वान्महानेव भेदोस्तीति मन्तव्यम् । मर्यादयाप्यसङ्कीर्णत्वं वेदाच्च भेदत इत्यारभ्य **निश्चय** इत्यन्तेनाह । **'यदा यस्य'**ति श्रीभागवते । **'नाहं वेदैर्न तपसे'** ति गीतायाम् । सर्वत्र भगवच्छास्त्रादौ भक्तिमार्गस्य कर्माद्यपेक्षयोत्तमत्वकथनात् पुष्टिमार्गो भिन्नोस्तीति निर्धारितम् । अभेदे तूत्कर्षवैयर्थ्यात् ॥५॥

इन तीनों मार्गों को भिन्न-भिन्न बताने वाले लक्षण आपश्री **कश्चित्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

इनमें सर्वप्रथम तो "जिसने अपनी मन-बुद्धि को मुझ में ही अर्पण कर रखा है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है(भ०गी० १२/१४)" इस वचनानुसार भक्तिमार्गीय बड़े विरले ही होते हैं। भगवान का प्रिय बनना कोई सरल कार्य नहीं है अतः भक्तिमार्ग प्रवाहमार्ग से भिन्न है। प्रवाहमार्ग तो सर्वसाधारण सभी जीवों में पाया जाता है और इसकी तुलना में भक्ति तो केवल भगवत्कृपा से ही प्राप्त हो सकती है अतः इन दोनों मार्गों में यह महान भेद तो मानना ही पड़ेगा। मर्यादामार्ग की भिन्नता आपश्री ने **वेदाच्च भेदतः** इत्यादि शब्दों से लेकर **निश्चयः** यहाँ तक के शब्दों से कही है। "यदा यस्य(४-१९-४६)" यह श्लोक भागवत का है एवं "नाहं वेदैर्न तपसा(११/५३)" यह श्लोक गीता का है। भगवत्छास्त्रों में सर्वत्र भक्तिमार्ग को कर्म आदि मार्गों की तुलना में उत्तम कहा गया है अतः पुष्टिभक्तिमार्ग इन सभी से भिन्न है- यह निर्धारित होता है। यदि पुष्टिभक्तिमार्ग इन सभी के जैसा ही होता , तो ये सभी शास्त्र व्यर्थ में भक्तिमार्ग का उत्कर्ष क्यों बताते ?॥ ५॥

मर्यादाप्रवाहयोर्भक्तावन्तर्भावमाशङ्क्य निषेधन्ति **मार्गैकत्वेनेति** ।

मार्गैकत्वेन चेदन्यौ तनू भक्त्यागमौ मतौ ।
न तद्युक्तं सूत्रतो हि भिन्नो युक्त्या हि वैदिकः ॥६॥
जीवदेहकृतीनां च भिन्नत्वं नित्यता श्रुतेः ।
यथा तद्वत्पुष्टिमार्गे द्वयोरपि निषेधतः ॥७॥
प्रमाणभेदाद्भिन्नो हि पुष्टिमार्गो निरूपितः ।

अन्यौ प्रवाहमर्यादे । तनू भक्तिं प्रत्यङ्गभूते, साधने इति यावत् । एवंविधे भूत्वा भक्त्यागमौ भक्तिशास्त्ररूपौ मतौ चेत्, तन्न युक्तमिति योजना । तत्कुतो नेत्याशङ्क्याह **सूत्रतो हीति** । वैदिको मर्यादामार्गो भिन्नः, भक्तेः पृथगित्यर्थः । अत्र प्रमाणं ब्रह्मसूत्राणि । द्वितीयं तदर्थानुरुद्धा युक्तयः साधकवाक्यानि । तत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादिषु जीवब्रह्माभेदः प्रतिपाद्यते । भक्तौ तु तवाहमिति स्वस्वामिसम्बन्धः प्रतिपाद्यते, अतः स्फुटो भेदः । युक्तयस्तत्तर्कास्ते च शास्त्र(प्र)सिद्धा ज्ञेयाः । भक्तेरपि शाण्डिल्यसूत्रतो वैलक्षण्यं श्रूयते । तथाहि । 'अथातो भक्तिजिज्ञासा' इत्युपक्रम्य 'सा परानुरक्तिरीश्वरे', 'द्वेषप्रतिपक्षाद्रसभावाच्च राग' इति द्वितीयतृतीयसूत्राभ्यां स्नेहरूपत्वमुक्तम् । तच्च कर्मज्ञानकाण्डादिविरुद्धमेव । अतोपि मर्यादायाः पृथक्त्वम् । **हि** शब्द उभयत्रापि प्रसिद्ध्यर्थः ।

अब यदि कोई मर्यादामार्ग एवं प्रवाहमार्ग को भक्ति में ही मिला हुआ समझने की बात कहता हो , तो आचार्यचरण इसका निषेध **मार्गैकत्वेन** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

सबसे पहले ऊपर कही गयी शंका के शब्दों का अर्थ समझें। **अन्यौ** का अर्थ है - प्रवाहमार्ग एवं मर्यादामार्ग। **तनू** का अर्थ है - ये दोनों भक्ति के अंग हैं अर्थात् भक्ति के साधन हैं। यों यदि इन दोनों को भक्ति के ही अंतर्गत मान लिया जाता हो , तो आचार्यचरण

---

१. भक्त्या त्वनन्ययेति गीतायाम् ।

आज्ञा करते हैं कि ऐसा मानना ठीक नहीं है। आपश्री क्यों मना कर रहे हैं, यह सूत्रतो हि इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। तात्पर्य यह है कि वैदिक-मर्यादामार्ग भिन्न है, भक्ति से अलग है - इस बात का प्रमाण ब्रह्मसूत्रों में दिया गया है। इस अर्थ को बताने वाली युक्तियाँ या साधकवाक्य इसका दूसरा प्रमाण है। जैसे कि "अब ब्रह्म की जिज्ञासा का विचार आरंभ किया जाता है (ब्र०सू०१-१-१)" इत्यादि सूत्रों में जीव एवं ब्रह्म का अभेद बताया गया है अर्थात् ये एक ही हैं, यह बताया गया है। जबकि भक्तिमार्ग में तो "हे प्रभु ! मैं तुम्हारा हूँ" इस प्रकार से भगवान को अपना स्वामी मानना बताया जाता है अतः इस दृष्टि से इन दोनों मार्गों का भेद या भिन्नता तो स्पष्ट ही है। इस अर्थ को बताने वाली युक्तियाँ या तर्क इत्यादि सभी शास्त्रों में प्रसिद्ध ही हैं। शाण्डिल्यसूत्रों द्वारा भी भक्ति की विलक्षणता ज्ञात होती है। जैसे कि "अब भक्ति की जिज्ञासा का विचार आरंभ किया जाता है (शांडि० भ०सू०-१)" यहाँ से लेकर "ईश्वर में परम अनुरक्ति हो जानी ही भक्ति है(शांडि० भ०सू०-२)" , "द्वेषप्रतिपक्षात् (शांडि० भ०सू०-६)" इन द्वितीयतृतीय सूत्रों के द्वारा भक्ति का अर्थ भगवान में स्नेह हो जाना बताया गया है। यह बात तो कर्मज्ञानकाण्ड इत्यादि से विरुद्ध ही है, इसलिये भी भक्ति मर्यादामार्ग से अलग ही है। इन मार्गों का भेद बताने वाले ब्रह्मसूत्र एवं शास्त्रों में बतायी गयी युक्तियाँ प्रसिद्ध है - यह बताने के लिये हि शब्द का प्रयोग है।

भेदकान्तरमप्याह जीवेति । आसुरजीवानां दैत्यदानवप्रभृतीनामपि वेदेधिकारप्रवर्त्ती दृश्येते । भक्तिमार्गे तेषां गन्धोपि न । प्रत्युत तद्वत्सु द्वेष एव, अतो जीवभेदः स्फुटः । वेदे स्त्रीशूद्रादीनामनधिकारः श्रूयते । भक्तौ तु ब्राह्मणादिसाधारण्येन स[1] दैवजीवमात्रस्य । 'देवोऽसुरो मनुष्यो वे'ति वचनात् । 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः', 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य' इत्यादौ तथैवाम्नानात् । भक्तौ स्नेहनिबन्धनकृतेरियत्ताया अभावाद्देहवत् कृतिभेदोपि स्फुटः । किञ्च । श्रुतेर्वेदस्य नित्यता । अकरणे प्रत्यवायजनकत्वात् श्रुतिपदेन तदुक्तधर्मा उच्यन्ते । उक्तप्रकारेण वेदे अन्य मार्गापेक्षया यथा भेदः, तद्वत् तथैव पुष्टिमार्गे भेद इति शेषः ।

इन दोनों का अन्य दूसरा भेद भी आपश्री जीव इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। दैत्यदानव जैसे आसुरीजीवों की भी वेद में अधिकार एवं वेद में प्रवृत्ति होनी देखी गयी है किन्तु भक्तिमार्ग की तो उनमें गन्ध भी नहीं होती उल्टे वे भक्तिमार्ग से द्वेष ही करते हैं। अतः आसुरीजीव एवं भक्तिमार्गीयजीवों के बीच का अंतर तो स्पष्ट ही है। वेद में तो स्त्रीशूद्र इत्यादि का अधिकार न होना सुना गया है। किन्तु चाहे ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि वर्ण हों या कैसी भी देह क्यों न हो, भक्तिमार्ग में तो समस्त दैवीजीवों का अधिकार है। जैसा कि "देवता, दैत्य, मनुष्य, यक्ष अथवा गन्धर्व कोई भी क्यों न हो- जो भगवान के चरणकमलों का भजन करता है, वह हमारे समान ही कल्याण का भाजन होता है(श्री०भा० ७-७-५०)", "जिसने अपनी मन-बुद्धि को मुझ में ही अर्पण कर रखा है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है(भ०गी० १२/१४)", "हे पार्थ ! मेरी शरण होकर तो पापयोनि वाले, स्त्री, वैश्य, और शूद्र भी परमगति को प्राप्त हो जाते हैं(भ०गी० ९/३२)" इत्यादि वाक्यों में भी कहा गया है। भक्तिमार्ग में भगवान से स्नेह कितना किया जाता है इसका कोई परिमाण ही नहीं है अतः जैसे देह का भेद है , वैसे ही इनकी कृति में भी अंतर स्पष्ट ही है। और भी , श्रुति/वेद की नित्यता बतायी गयी है एवं वेद की आज्ञा न मानने से दोष भी लगता है। यहाँ श्रुति शब्द से आपश्री वेद में कहे धर्मों के विषय में कह रहे हैं। ऊपर कहे प्रकारों के अनुसार यह समझिए कि जैसे वेद में कही बात अन्य दूसरे मार्गों से भिन्न है , वैसे ही पुष्टिमार्ग भी अन्य दूसरे मार्गों से भिन्न है।

कथमित्यपेक्षायां द्वयोरपीति । द्वयोर्मर्यादाप्रवाहयोर्निषेधतः तल्लक्षणा[2]प्रवेशादित्यर्थः । प्रमाणभेदादिति । वस्तुसाधकं प्रमाणमित्युच्यते । वेदे तु स्वतः प्रामाण्यम् । तद्विरोधिप्रत्यक्षादीनामप्यतथात्वम् । पुष्टौ तु धर्मितदनुग्रहभक्तानुभवातिरिक्तप्रमाणाभावात् साधकभेदादपि पुष्टिमार्गो भिन्नो भवतीत्यर्थः । अत एवैतन्मार्गीयाणां वैलक्षण्यं भगवतैवोक्तम् । तथाहि 'केवलेन हि भावेन', 'ते नाधीतश्रुतिगणा' इति । नहीदं मर्यादयोपपद्यते, कुतस्तरां तुच्छः प्रवाहः ॥७॥

किनसे भिन्न है ? तो आपश्री द्वयोरपि कह रहे हैं अर्थात् मर्यादामार्ग एवं प्रवाहमार्ग से भिन्न है क्योंकि इनके लक्षण पुष्टिमार्ग से मेल नहीं खाते। प्रमाणभेदात् इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। वस्तु जिससे सिद्ध होती हो , उसे प्रमाण कहते हैं। वेद को किसी भी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है ,वेद तो स्वयं ही प्रमाण है। वेद को प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से भी सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु पुष्टि में तो स्वयं धर्मिस्वरूप प्रमाण है एवं धर्मिस्वरूप का अनुग्रह जिस भक्त पर हो गया हो ऐसे भक्त का अनुभव ही प्रमाण है अन्य कुछ भी नहीं अतः इन साधकभेदों के कारण भी पुष्टिमार्ग अन्य सभी मार्गों से भिन्न है- यह अर्थ है। अत एव एतन्मार्गीयों की विलक्षणता तो स्वयं भगवान ने भी "गोपियाँ, गाएँ , यमलार्जुन आदि वृक्ष, व्रज के हरिण, कालियनाग इत्यादि ने केवल भाव के कारण मेरी प्राप्ति कर ली(श्री०भा० ११-१२-८)" , "वृत्रासुर, प्रह्लाद, बाणासुर, कुब्जा, व्रजकी गोपियाँ, यज्ञपत्नियाँ इत्यादि ने न वेद पढ़े न किन्हीं

---

१. अधिकावृत्ती अधिकारप्रवृत्तिरिति, पाठद्वयम् । २. दैवेति पाठः । ३. लक्षणप्रवेशादिति पाठः ।

महापुरुषों की उपासना की। न कोई व्रत किये न कोई तपस्या। बस, सत्सङ्ग के प्रभाव से ये मुझे प्राप्त हो गये(श्री०भा० ११-१२-७)" इत्यादि वाक्यों से कही है। ऐसा सब मर्यादामार्ग में ही नहीं होता, फिर तुच्छ प्रवाहमार्ग की तो बात ही दूर रही ॥ ७ ॥

प्रवाहमार्गमाह सर्गभेदमिति ।

सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतम् ॥८॥
इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरिः ।
वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चयः ॥९॥

सर्गशब्देन लौकिकः प्रवाह उच्यते । अत्रापि स्वरूपाङ्गक्रियाशब्दैर्यथाक्रमं जीवदेहकृतयो विवक्षिताः स्वरूपं जीवः, अङ्गं देहः, क्रिया कृतिः, एतैर्युतं विशिष्टमित्यर्थः । ननु प्रवाहः सर्ग उक्तः । स च पुष्टिमर्यादयोरप्यस्तीति कथं वैलक्षण्यमितिचेत्, तत्राह इच्छामात्रेणेति । 'सोऽकामयत, बहु स्यां प्रजायेयेति', "स द्वितीयमैच्छत्, स हैतावानास", इत्यादिभिर्भगवान् सङ्कल्पमात्रेण मनसैव बाह्योपादानकारणानपेक्षेण प्रवाहाख्यं सृष्टवान् । मनसः सृष्टिकर्तृत्वं सर्वस्यापि मनोजन्यत्वं श्रुतिराह 'असतोऽधि मनोऽसृजत, मनः प्रजापतिमसृजत, प्रजापतिः प्रजा असृजत, तद्वा इदं मनस्येव परमं प्रतिष्ठित' मिति, 'मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते,' 'मनसो वशे सर्वमिदं बभूव', 'कामस्तदग्रे समवर्ततताधी'त्यादि ज्ञेयम् । एवं कारणभेदान्न सर्गैक्यम् ।

अब आगे के श्लोकों में आचार्यचरण प्रवाहमार्ग के सर्ग(सृष्टि) को कह रहे हैं।

आपश्री यहाँ सर्ग शब्द से लौकिकजीवों के प्रवाह को कह रहे हैं। आपश्री को यहाँ इस श्लोक में भी स्वरूपाङ्गक्रिया शब्द से क्रमशः जीव-देह-कृति बतानी है। अर्थात् "स्वरूप" शब्द से जीव का स्वरूप, "अङ्ग" शब्द से उनकी देह एवं "क्रिया" शब्द से उनके कर्म बताने हैं। तात्पर्य यह कि प्रवाहसृष्टि के लिये आपश्री को इन सभी से युक्त लक्षणों वाली प्रवाहसृष्टि का निरूपण करना है। किन्तु किसी को शंका यह होती है कि, आपने प्रवाह का सर्ग(सृष्टि)बताया परंतु सर्ग तो पुष्टिमार्ग का भी है एवं मर्यादामार्ग का भी ? फिर आपश्री सर्ग बताने के माध्यम द्वारा इन सभी के बीच का अंतर कैसे बता सकेंगे क्योंकि सर्ग/सृष्टि तो सभी मार्गों की होती है ? तो आपश्री इच्छामात्रेण इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री का तात्पर्य यह है कि, "उस ब्रह्म ने कामना की कि मेरा दूसरा शरीर उत्पन्न हो(वृ० १-२-४ ; तै०ब्रा० २-२-२-४)" , "उसने ईक्षण किया- मैं अनेक हो जाऊँ(छा० ६-२-३)" , "अकेला रमण नहीं कर सकता अतः ब्रह्म ने दूसरे की इच्छा की और वह उतना ही बन गया, जितना आलिङ्गित स्त्री और पुरुष होते हैं(वृ० १-४-३)" इत्यादि श्रुतियों के अनुसार भगवान केवल सङ्कल्प के द्वारा मन से ही अर्थात् बाहरी किसी भी साधनों का आश्रय लिये बिना प्रवाह नामक सृष्टि की रचना करते हैं। भगवान का अपने मन द्वारा सृष्टि उत्पन्न करने की बात एवं सभी कुछ भगवान के मन से ही उत्पन्न होता है, यह बात श्रुति "असतोऽधि मनोऽसृजत.....प्रतिष्ठितम् (तै०ब्रा० २-२-९-१०)", "मन ही ब्रह्म है। मन से ही यह समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होकर मन से ही जीते हैं तथा मन से ही प्रयाण करते हुए मन में ही सब प्रकार से प्रविष्ट हो जाते हैं(तैति० ३-४-१)", "मनसो वशे(?)", "कामस्तदग्रे समवर्ततताधि(तै०आ० १-२३-१)" इत्यादि वाक्यों द्वारा कहती है। इस प्रकार समझिए कि भिन्न-भिन्न सृष्टि उत्पन्न होने के कारण भी भिन्न हैं अतः इन-इन मार्गों के सर्ग(सृष्टि) एक जैसे नहीं हो सकते।

मर्यादासर्गमाह वचसेति । वाण्या मूलभूतवागिन्द्रियेण वेद एव मार्गस्तं सृष्टवान् । हिशब्दः पुराणादिप्रसिद्ध्यर्थः । पुष्टिसर्गमाह पुष्टिमिति । साक्षादव्यवहितस्वरूपेणेत्यर्थः । इतिनिश्चयः । 'फलमत उपपत्ते' रित्यादिनेश्वर एव शुभाशुभफलदातेति सिद्धम् ॥९॥

मर्यादामार्ग का सर्ग(सृष्टि) उत्पन्न होने के विषय में आचार्यचरण वचसा इस शब्द से कह रहे हैं। अर्थ यह है कि, भगवान ने अपनी वाणी द्वारा अर्थात् अपनी मूलभूतवागिन्द्रिय द्वारा वेदमार्ग की सृष्टि की। यह बात पुराण आदि में प्रसिद्ध है- यह बताने के लिये आपश्री ने हि शब्द का प्रयोग किया है। इसके पश्चात् आपश्री पुष्टिसर्ग की उत्पत्ति के विषय में पुष्टिं इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इस कारिका से आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, पुष्टिसृष्टि की रचना भगवान ने अपने साक्षात् अव्यवहितस्वरूप द्वारा अर्थात् बिना किसी भी साधन के अपने मूलस्वरूप द्वारा की है- यह निश्चित है। "जीवों के कर्मों का फल परब्रह्म से ही प्राप्त होता है(ब्र०सू० ३-२-३८)" इस ब्रह्मसूत्र के द्वारा यह सिद्ध है कि , समस्त शुभ-अशुभ फलों को देने वाले ईश्वर ही हैं ॥ ९ ॥

तत्र मार्गत्रये केन रूपेण कुत्र फलदानमिति संशये निश्चितमाह मूलेच्छात इति ।

मूलेच्छातः फलं लोके वेदोक्तं वैदिकेपि च ।

---

१. पुष्टिमार्गीययोरिति पाठः ।

कायेन तु फलं पुष्टौ भिन्नेच्छातोऽपि नैकता ॥१०॥
'तानहं द्विषतो' वाक्याद्भिन्ना जीवाः प्रवाहिणः ।
अत एवेतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्षप्रवेशतः ॥११॥
तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः ।
भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत् ॥१२॥

लोके प्रवाहाख्ये मार्गे, मूलेच्छा पुष्टिमर्यादातिरिक्तसाधनसाध्यफलभावनेच्छा, यथा 'तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् । क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु' इति । वैदिके मार्गे वेदोक्तं तत्तत्काण्डाभिनिविष्टस्य तत्तदनुरूपं स्वर्गादिकं फलं तत्तत्साधनसापेक्षेच्छात इत्यर्थः । कायेन साक्षात् स्वरूपेण सच्चिदानन्दविग्रहेण । स्वरूपमात्रनिष्ठलीलाभिनिविष्टभक्तभाव-सापेक्षेच्छातः फलं पुष्टावित्यर्थः ।

अब यदि यह संशय होता हो कि, इन तीनों मार्गों में भगवान किस रूप द्वारा एवं किसे फलदान करते हैं ? तो इसका उत्तर आपश्री मूलेच्छातः इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं।

उपर्युक्त कारिका में कहे लोके का अर्थ है - प्रवाहमार्ग में ; इस मार्ग में भगवान अपनी मूलेच्छा के अनुसार फल देते हैं। मूलेच्छा का अर्थ है - ऐसे प्रवाहमार्गीयों को पुष्टि एवं मर्यादामार्ग से अतिरिक्त दूसरे साधनों से साध्य होने वाले फल दिलाने की भगवान की इच्छा। जैसा कि भगवान ने गीता में "मुझसे द्वेष करने वाले दुराचारी एवं क्रूरकर्मी नराधमों को मैं निरन्तर आसुरी योनियों में ही गिराता हूँ(भ०गी १६-१९)" यों कहा है। प्रवाहमार्गीयों को ऐसा आसुरीयोनि मिलने वाला फल मिलता है- यह अर्थ है। और, वैदिकमार्ग में अर्थात् मर्यादामार्ग में भगवान वेदों में बताये गये तीनों काण्डों में से जिसे जैसी रुचि है और जो जिस प्रकार के साधन करता है, भगवान उसे उसी प्रकार से स्वर्ग-इत्यादि फल देते हैं। कायेन का अर्थ है - पुष्टिमार्गीयों को भगवान अपनी कायेन अर्थात् साक्षात् स्वरूप से अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप के माध्यम से फल देते हैं। केवल भगवान के स्वरूप में निष्ठ एवं भगवान की लीला में अभिनिविष्ट जीवों को उनके भावों के अनुसार फल देते हैं - यह अर्थ है।

भिन्ना इति । दैवाद्भिन्ना आसुरा इत्यर्थः, 'द्वौ भूतसर्गौ' वित्युक्तत्वात् । उक्तरीत्या पुष्टेर्धर्मिमात्रनिष्ठत्वेनेतरापेक्षयाभ्यर्हितत्वं ज्ञेयम् । अत एवेति । यत उक्तरीत्यान्योन्यं लक्षणाप्रवेशाद्वैलक्षण्यमत एव इतरा मर्यादाप्रवाहौ पुष्टेः परस्परं च भिन्नौ । अन्तपदेन पर्यवसानमुच्यते । तेन सान्तौ अन्तसहितौ । कस्य कुत्रेत्याकाङ्क्षायां मोक्षप्रवेशतः मोक्षात् प्रवेशाच्चेत्यर्थः । प्रवेशपदेन प्राकृतो लयो विवक्षितो, न मोक्षः । तत्र वैदिकस्य मोक्षे पर्यवसानम्, प्रवाहस्य(प्रकृतौ) लय इति विवेकः । यथा द्वयोः सान्तत्वम्, न तथा पुष्टेः, मोक्षोत्तरकालमपि विद्यमानत्वात् । अत एवोक्तं 'आत्मारामाश्च मुनयः' इत्यादौ । यतो मुक्तानामपि अधिकारो भक्तौ । अत एव तन्मार्गीया जीवाः भिन्नाः, ब्रह्माण्डादपि बहिर्भूताश्चेत्, किं वाच्यं मर्यादाप्रवाहातिरिक्तत्वे । अत एव वाराहेप्युक्तम्, 'भिन्नैव काचित् सा सृष्टिर्विधातुर्व्यतिरेकिणी'ति । एवंविधपुष्टिस्थजीवानां सर्गो भगवता स्वात्मभजनार्थमेव कृत इति सङ्गच्छते, नत्वन्यथापीत्यर्थः ॥१२॥

भिन्ना का अर्थ है - दैवीजीवों से आसुरीजीव भिन्न हैं क्योंकि यही बात 'हे अर्जुन ! इस संसार में दैवी और आसुरी ये दो प्रकार की सृष्टि होती है(भ०गी० १६/५)" इस श्लोक में कही गयी है। उपर कही रीति अनुसार चूँकि पुष्टिमार्गीयजीव केवल धर्मिस्वरूप में निष्ठ होते हैं अतः ये जीव अन्य जीवों की तुलना में विशेष हैं, यह समझना चाहिए। अत एव का तात्पर्य है - चूँकि उपर कही रीति अनुसार तीनों मार्गों के लक्षण परस्पर मेल नहीं खाते अत एव इतरौ अर्थात् मर्यादामार्ग एवं प्रवाहमार्ग दोनों पुष्टिमार्ग से भिन्न हैं एवं परस्पर एक दूसरे से भी भिन्न हैं। अन्त शब्द का अर्थ है - परिणिति या परिणाम की अवस्था तक। तात्पर्य यह कि मर्यादामार्ग एवं प्रवाहमार्ग अन्तसहित हैं। अर्थात् एक विशेष परिस्थिति के पश्चात् मर्यादामार्ग एवं प्रवाहमार्ग समाप्त हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि एक बार फलप्राप्ति हो जाने के पश्चात् इन मार्गों का कोई भी प्रयोजन शेष नहीं रह जाता। इसलिये आचार्यचरण इन्हें सान्त(अन्त सहित) कह रहे हैं। मोक्ष मिल जाने के पश्चात् मर्यादामार्ग में कोई प्रयोजन शेष नहीं रह जाता और अन्धन्तमप्रवेशरूपा मुक्ति मिल जाने के पश्चात् प्रवाहमार्ग में कोई प्रयोजन शेष नहीं रह जाता इसलिये आचार्यचरणों ने इन्हें सान्त कहा है। किन्तु पुष्टिमार्गीयजीव भगवान की काया से प्रकट होते हैं अतः पुष्टिजीवों के संग भगवल्लीला नूतन-नूतन भावों के अनुसार सदैव चलती रहती है अतः पुष्टिमार्ग का अंत कभी नहीं आता- यह अर्थ है। तो फिर किस मार्ग का कहाँ जाकर अंत हो जाता है ? तो आपश्री आज्ञा करते हैं- मोक्षप्रवेशतः अर्थात्

मर्यादामार्ग का अंत मोक्ष मिलने पर हो जाता है एवं प्रवाहमार्ग का अंत अन्धन्तमरूप नरक में प्रवेश हो जाने के बाद हो जाता है। मूलश्लोक में "प्रवेश" पद का अर्थ प्राकृतलय होना है , मोक्ष होना नहीं। अर्थात् वैदिकमार्ग मोक्ष मिलने पर पूरा हो जाता है और प्रवाहमार्ग जीव का प्राकृतलय हो जाने पर पूरा हो जाता है–यह विवेक/अंतर है। जैसे मर्यादा एवं प्रवाह इन दोनों मार्गों का अंत हो जाता है वैसे पुष्टिमार्ग का अन्त नहीं होता क्योंकि यह तो मोक्ष मिल जाने के पश्चात् भी विद्यमान रहता है। इसी कारण "जो ज्ञानी हैं, जिनकी अविद्या की गाँठे खुल गयी है और जो सदा आत्मा में रमण करते हैं, वे भगवान की निःस्वार्थ भक्ति किया करते हैं(श्री०भा०)" इत्यादि वाक्य कहे गये है। क्योंकि मुक्तजीवों का भी भक्ति में अधिकार है। इसलिये पुष्टिमार्गीयजीव अन्य दूसरे जीवों से भिन्न होते हैं। जब वे इस ब्रह्माण्ड से ही अलग हैं तो फिर मर्यादामार्ग एवं प्रवाहमार्ग से अतिरिक्त होने में और क्या प्रमाण दिया जाय ? अत एव वाराहपुराण में भी "यह विधाता द्वारा बनायी गयी सृष्टि से अलग ही कोई सृष्टि है" ये बात कही गयी। अतः उपर्युक्त चर्चा-विमर्शो से यह सिद्ध हो जाता है कि, पुष्टिमार्गीयजीवों की सृष्टि भगवान ने अपनी सेवा के लिये ही बनायी है, किसी अन्य हेतु के लिये नहीं ॥ १२ ॥

एवंविधभक्तानां सर्वांशेन भगवत्साम्यमाह स्वरूपेणेति ।

स्वरूपेणावतारेण लिङ्गेन च गुणेन च ।
तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा ॥१३॥
तथापि यावता कार्यं तावत्तस्य करोति हि ।

स्वरूपमन्तरात्मस्वरूपम् । यथा काष्ठं वह्निसाद्भवति, एवं भक्ता अपि स्वरूपैकनिष्ठास्सन्तस्तदभिनिविष्टास्तदात्मत्वमेवाभिपद्यन्ते । अत एवोक्तं 'यो यच्छ्रद्धः स एव स' इति । यथा भगवदवतारो धर्मसद्रक्षणार्थम्, तद्विरुद्धोत्सादनार्थं च, एवं भक्तानामपि अवतारो जीवोद्धारार्थमेवेत्यवतारेणापि साम्यम् । लिङ्गं वेषस्तच्चिह्नानि सर्वाण्यपि । तद्यथा । 'तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं व्रजस्त्रियः प्रलम्बबाहुं नवकञ्जलोचनम् । पीताम्बरं पुष्करमालिन' मित्यादि । गुणाः पतितपावनत्वादि, भगवच्चेष्टितान्यपि विज्ञेयानि । तथापीति । एवं सर्वांशेनान्यूनत्वेपि यावता न्यूनत्वादिना स्वरमणसिद्धिः, तावदेव तस्य स्वापेक्षया सेवकत्वसिद्ध्यर्थमुभयरसार्थं च तारतम्यं करोति । अत एवेदमपि सङ्गच्छते, 'नोद्धवोण्वपि मन्न्यूनः,' 'मद्भक्तपूजाभ्यधिके'ति, 'न पारयेहं निरवद्यसंयुजा' मित्यादि । 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यह' मित्यादौ प्रसिद्ध्यर्थो हिशब्दः ॥१३॥

आगे आचार्यचरण स्वरूपेण इत्यादि शब्दों से यह बता रहे हैं कि, ऐसे पुष्टिभक्त सभी प्रकार से भगवान के समान होते हैं।

यहाँ "स्वरूप" शब्द से आपश्री का तात्पर्य है- पुष्टिमार्गीयजीव भगवान के अन्तरात्मा का स्वरूप होते हैं। तात्पर्य यह कि जैसे काष्ठ को अग्नि में डाल दिया जाय, तो वह अग्नि ही बन जाता है , वैसे ही केवल भगवत्स्वरूप में निष्ठा वाला पुष्टिभक्त भी भगवान में अभिनिविष्ट होकर भगवान की आत्मा ही बन जाते हैं। इसी कारण गीता में "जो जीव जिस प्रकार के राजस-तामस या सात्विक गुणों वाला होता है, उसकी श्रद्धा भी उन्हीं गुणों के अनुरूप होती है(भ०गी० १७-३)" यों कहा गया है। जैसे भगवान का अवतार तो धर्म एवं सज्जनों की रक्षा करने के लिये एवं अधर्म एवं दुष्टों के नाश के लिये होता है , वैसे ही पुष्टिभक्तों का अवतार भी अन्य जीवों के उद्धार के लिये ही होता है अतः अवतार लेने के अर्थ में भी वे भगवान के समान ही होते हैं। लिङ्ग का अर्थ है पुष्टिजीवों का वेश अर्थात् इनके चिन्ह ; इनके सभी चिन्ह "गोपियों ने देखा कि श्रीकृष्ण के सेवक उद्धवजी की आकृति और वेषभूषा बिल्कुल श्रीकृष्ण से मिलती-जुलती है। घुटनों तक लम्बी भुजाएँ हैं, कमल के समान नेत्र है , शरीर पर पीताम्बर धारण किये हुए हैं(श्री०भा० १०-४७-१)" इस वाक्यानुसार भगवान जैसे ही होते हैं। गुणाः अर्थात् पुष्टिजीवों में भी भगवान की भाँति पतित को पावन करने जैसे गुण होते हैं एवं उसकी चेष्टाएँ भी भगवान के जैसी ही होती हैं, यह समझना चाहिए। यद्यपि टीकाकार ने पुष्टिजीवों की चेष्टाएँ किस प्रकार से भगवान के समान होती है, इस विषय में कुछ लिखा नहीं है परन्तु यदि आपाततः समझना हो तो ये समझा जा सकता है कि, जैसे भगवान अलौकिक एवं सर्वसामर्थ्यवान होते हुए भी उनकी चेष्टाएँ एक सामान्य व्यक्ति की भाँति होती है, उसी प्रकार पुष्टिजीव अलौकिक होते हुए भी उनकी चेष्टाएँ एक सामान्य व्यक्ति की भाँति ही होती हैं। यही बात इस ग्रन्थ में भी "लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात् तेषु नान्यथा" इत्यादि शब्दों द्वारा कही गयी है। **तथापि** का अर्थ यह है कि - उपर्युक्त प्रकार से भले ही वे संपूर्ण अंशों में भगवान के समान होते हों किन्तु फिर भी जितने अंश में जीव को अपने से न्यून बना कर भगवान उससे रमण कर सकें उतने अंश में भगवान अपने में एवं पुष्टिजीव में कुछ अंतर पैदा कर देते है ताकि उसमें सेवक की भावना बनी रहे एवं सेवक-स्वामी दोनों प्रकार के रस की सिद्धि हो सके। इसी कारण "उद्धवजी मुझसे अणुमात्र भी कम नहीं हैं(३-४-३१)" , "जो मेरी भक्ति करना चाहता हो, वो मेरे भक्तों की पूजा मेरी

पूजा से भी बढ़ कर करे(श्री०भा० ११-१९-२१)" , "प्यारी गोपियों ! मैं तुम्हारे प्रेम और सेवा का बदला चुकाना चाहूँ तो भी नहीं चुका सकता । मैं जन्म-जन्म के लिये तुम्हारा ऋणी हूँ(श्री०भा० १०-३२-२२)" इत्यादि वाक्य भी संगत होते हैं । "जो मुझे भक्ति से भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें(भ०गी ९-२९)" इस वाक्य में कहा गया अर्थ उपर्युक्त वाक्यों में सर्वत्र प्रसिद्ध है , इसको बताने के लिये हि शब्द का प्रयोग है ॥ १३ ॥

तेहि द्विधा शुद्धमिश्रभेदान्मिश्राश्चिधा पुनः ॥१४॥
प्रवाहादिविभेदेन भगवत्कार्यसिद्धये ।

ते हीति । ते पूर्वोक्तास्त्रयोपि मार्गा द्वेधा द्विप्रकाराः, ये मार्गान्तरसंवलितास्ते **मिश्राः**, ये पुनस्तन्मात्रास्ते **शुद्धाः** । मिश्रणमपि प्रत्येकं त्रिभिस्त्रयाणामपीत्येकैकशश्चिप्रकाराः । एवं भेदानां प्रयोजनं किमित्याकाङ्क्षायां **भगवत्कार्यसिद्धिरेवेति** मतम् । तच्च कार्यं रमणरूपमेव । **'क्रीडाभाण्डमिदं विश्वम्', 'एकाकी स न रमत'** इत्यादौ प्रसिद्धम् ॥१४½॥

ते हि का अर्थ है - पूर्व में कहे गये वे तीनों मार्ग दो प्रकार के हैं । जो मार्ग अन्य मार्गों से मिल जाएँ, वे मार्ग मिश्रमार्ग कहलाते हैं और जो केवल वही के वही बने रहते हैं अर्थात् अन्य मार्गों से मिलते नहीं , वे मार्ग शुद्धमार्ग कहलाते हैं, जैसे शुद्धपुष्टि या शुद्धमर्यादा या शुद्धप्रवाह । देखें तालिका .....

पुष्टिमार्ग		प्रवाहमार्ग		मर्यादामार्ग	
शुद्धपुष्टिमार्ग	मिश्रपुष्टिमार्ग	शुद्धप्रवाहमार्ग	मिश्रप्रवाहमार्ग	शुद्धमर्यादामार्ग	मिश्रमर्यादामार्ग

तीनों शुद्धमार्गों का मिश्रण प्रत्येक तीन मार्गों से होता है अतः प्रत्येक शुद्धमार्ग के और तीन-तीन प्रकार हो जाते हैं । मिश्रण हो जाने के पश्चात् उन्हें मिश्रमार्ग कहेंगे । जैसे .....

मिश्रपुष्टि			मिश्रप्रवाह			मिश्रमर्यादा		
पुष्टिपुष्टि	प्रवाहपुष्टि	मर्यादापुष्टि	प्रवाहप्रवाह	मर्यादाप्रवाह	पुष्टिप्रवाह	मर्यादामर्यादा	पुष्टिमर्यादा	प्रवाहमर्यादा

आखिरकार भगवान ने इतने मार्ग एवं इन मार्गों के इतने भेद क्यों किये ? तो आपश्री इसका उत्तर देते हुए कहते हैं **भगवत्कार्यसिद्धये** अर्थात् इतने भेद करने का कारण यही है कि , इन सबसे भगवत्कार्य ही सिद्ध होगा और वह भगवत्कार्य है - रमण । अर्थात् भगवान इतने सब विभाग करके रमण करते हैं इसलिये जीवों और मार्गों के इतने विभाग बनाते हैं । यह बात "हे प्रभु ! यह सम्पूर्ण विश्व आपके खेल की सामग्री है(श्री०भा० ४-७-४३)" , "अकेला रमण नहीं कर सकता अतः ब्रह्म ने दूसरे की इच्छा की और वह उतना ही बन गया, जितना आलिङ्गित स्त्री और पुरुष होते हैं(बृ० १-४-३)" इत्यादि वाक्यों में प्रसिद्ध ही है ॥ १४ १/२ ॥

पुष्टेर्भेदानाह पुष्ट्येति ।

पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः ॥१५॥
मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णातिदुर्लभाः ।

पुष्टिस्थास्तु पूर्वमनुगृहीता एव भवन्ति । पुनरनुग्रहान्तरं यदा तेषु प्रविशति, तदा ते पूर्वपुष्ट्यतिरिक्तपुष्टिसद्भावात् **पुष्ट्या विमिश्रा** भवन्ति । तल्लक्षणं **सर्वज्ञा इति** । एवंविधत्व प्रह्लादादौ प्रसिद्धम् । **प्रवाहेण** मिश्रिताः लोकवेदक्रियारता भवन्तीति तेषामेतल्लक्षणम् । **मर्यादया** मिश्रा **गुणज्ञाः** भगवन्माहात्म्ययाथातथ्यज्ञा इति लक्षणम् । **प्रेम्णा** स्वरूपैकनिष्ठा इति लक्षणम् । ते **शुद्धपुष्टिमार्गीयास्तेत्यन्तदुर्लभा** एवेत्यर्थः ॥१५½॥

अब आगे आपश्री पुष्टि के भेदों को **पुष्ट्या** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं ।

सर्वप्रथम पुष्टिपुष्टि के लक्षण बता रहे हैं । पुष्टिजीव तो पहले से ही अनुग्रहीत होते हैं । किन्तु जब अनुग्रह दूसरी बार उनमें प्रविष्ट होता है, तब वे पहले की गयी पुष्टि के अतिरिक्त और अधिक पुष्टि वाले बन जाते हैं, इन्हें आचार्यचरण **पुष्ट्या विमिश्राः** कह रहे हैं ।पुष्टि पुष्टिजीवों को जानने का लक्षण उनका सर्वज्ञ हो जाना है । ऐसी पुष्टिपुष्टि प्रह्लाद आदि भक्तों में थी । अब आपश्री प्रवाह से मिश्रित प्रवाहपुष्टि के विषय में बता रहे हैं । प्रवाहपुष्टि के जीव लोकवेद की क्रियाओं में रत होते हैं, इन्हें पहचानने का यही लक्षण है । मर्यादा से मिश्रित अर्थात् मर्यादापुष्टिजीव **गुणज्ञाः** अर्थात् भगवान के माहात्म्य को यथार्थरूप से जाननेवाले होते हैं- यह इनका लक्षण है । और, केवल प्रेम के कारण भगवान के स्वरूप में निष्ठा रखने वाले शुद्धपुष्टिमार्गीय तो अत्यन्त दुर्लभ ही होते हैं- यह अर्थ है ॥ १५ १/२ ॥

एवं सर्गस्तु तेषां हि फलं त्वत्र निरूप्यते ॥१६॥
भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद्भुवि ।
गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत् ॥१७॥

एवमिति । उक्तप्रकारेण तेषां त्रयाणां सर्ग: सहेतुक: निरूपित इति शेष: । अत्र शुद्धमिश्रपुष्टौ फलं निरूप्यते **भगवानिति** । गुणा: ऐश्वर्यादयो धर्मा:, स्वरूपं धर्मी । भवन्ति भावा अस्मिन्निति भूरन्त:करणं विवक्षितम्, तदुपलक्षितहृदयदेशो वा । तेनायमर्थ: भगवानैश्वर्यादिषड्गुणोपेतो यस्य भक्तस्यान्त:करणे यथा येन भावेन प्रकटो भवति, तत्प्रियं कर्तुं तत्स्वरूपमेव फलमित्यर्थ: । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैवे'ति प्रतिज्ञानात् ॥१७॥

एवं का अर्थ यह है कि- उपर्युक्त प्रकार से आचार्यचरणों ने इन तीनों मार्गों के सर्ग(सृष्टि) का कारण बताते हुए निरूपण किया। अब अत्र शब्द से आपश्री शुद्धपुष्टि एवं मिश्रपुष्टि के फलों का निरूपण कर रहे हैं। श्लोक में कहे गुण शब्द का अर्थ है - भगवान के ऐश्वर्यादि धर्म। और स्वरूप का अर्थ है - धर्मिस्वरूप भगवान। और, भुवि शब्द का अर्थ है - अन्त:करण। क्योंकि जिसमें भाव उत्पन्न होते हों उसको अन्त:करण ही कहा जायेगा। अथवा अन्त:करण के संकेत द्वारा भक्त का हृदय समझ लीजिए अत: भुवि शब्द का अर्थ भक्त का हृदय है। इन सभी से आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि अपने ऐश्वर्यादि छह गुणों के सहित भगवान जिस भक्त के अन्त:करण में जैसे जिस प्रकार के भाव से प्रकट होते हैं, भगवान का वह स्वरूप ही उसके लिये फल है, वही भगवत्स्वरूप उस भक्त के समस्त प्रिय कार्य संपूर्ण करेगा- यह अर्थ है। भगवान ने गीता में भी "जो जिस भाव से मेरी शरण होते है, उसी के अनुरूप मैं उन्हें फल देता हूँ(भ०गी ४-११)" इस वाक्यानुसार ऐसी ही प्रतिज्ञा की है ॥ १७ ॥

आसक्तौ भगवानेव शापं दापयति क्वचित् ।
अहङ्कारेऽथवा लोके तन्मार्गस्थापनाय हि ॥१८॥
न ते पाषण्डतां यान्ति न च रोगाद्युपद्रवः ।
महानुभावाः प्रायेण शास्त्रं शुद्धत्वहेतवे ॥१९॥
भगवत्तारतम्येन तारतम्यं भजन्ति हि ।
लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथा ॥२०॥
वैष्णवत्वं हि सहजं ततोन्यत्र विपर्ययः ।
सम्बन्धिनस्तु ये जीवाः प्रवाहस्थास्तथापरे ॥२१॥
चर्षणीशब्दवाच्यास्ते ते सर्वे सर्ववर्त्मसु ।
क्षणात् सर्वत्वमायान्ति रुचिस्तेषां न कुत्रचित् ॥२२॥
तेषां क्रियानुसारेण सर्वत्र सकलं फलम् ।

आसक्ताविति । पुष्टिस्थस्य **अहङ्कारे** तत्पूर्वककार्ये, **अथवा लोके** भजनविरुद्धे **आसक्तौ** सत्यां तद्दोषपरिहाराय, अत एव **तन्मार्गस्थापनाय** तत्र स्थिरीकरणाय ब्राह्मणादिद्वारा **भगवानेव क्वचित्**, न सर्वत्र, **शापमन्तरायापादकं दापयति** । पुनरेवं कदापि न कुर्यामिति यथा तस्य मनसि सततमनुवर्तेत । यथेन्द्रद्युम्नस्यागस्त्यमुखाद्गजेन्द्रत्वम् । एवं शिक्षाकरणे भक्ता: **पाषण्डतां न यान्ति** । अब हम आसक्तौ इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। श्लोक का अर्थ यह है कि, पुष्टिमार्गीय यदि अहंकार करे अथवा लोक में आसक्त हो जाय जो भगवद्भजन से विरुद्ध है, तो उसके इन दोषों को दूर करने के लिये और उसे पुष्टिमार्ग में स्थापित करने के लिये अर्थात् पुष्टिमार्ग में स्थिर करने के लिये भगवान कभी-कभार किसी ब्राह्मण इत्यादि से उसे शाप दिलवा देते हैं। किन्तु भगवान सभी भक्तों के संग ऐसा नहीं करते। शाप दिला कर फिर भगवान उसे अपने से दूर कर देते हैं, जिससे फिर वह मन में सतत विचार करे कि, अब से मैं ऐसी भूल कभी नहीं करूँगा। उदाहरण के लिये जैसे अगस्त्य ऋषि ने इन्द्रद्युम्न को शाप दिया और वो गजेन्द्र बन गया। आपश्री कहते हैं कि, शाप के पश्चात् सबक मिलने पर भी ऐसे पुष्टिभक्त के मन में पाखण्डता नहीं आती।

नापि तज्जनितापराधभोगाय[1] **रोगाद्युपद्रवस्तत्पीडानुभवः** । एवंविधाः शास्त्रोल्लङ्घनाद्भवन्ति । **ये पुनर्महानुभावाः** नारदादयस्ते प्रायेण बाहुल्येन, भगवदधीनत्वात् प्रायिकत्वोक्तिः, **शुद्धत्वहेतवे** देहान्त:करणादिशुद्ध्यर्थं शास्त्रं भगवदीयं गीताभागवतादिकं भजन्ति

---

१. भोगरोगेति पाठः ।

सेवन्ते सततमवगाहन्त इत्यर्थः । किञ्च । येषु येषु भक्तेषु यथा यथा भगवदाविर्भावः, तेन तारतम्येन स्वस्मिन् तरतमभावमपि भजन्ते स्वीकुर्वन्ति, न तु स्वस्मिन्नाधिक्यं सदप्युद्भावयन्ति । सर्वदा भगवत्सम्बन्धिषु नम्रा एव भवन्तीत्यर्थः । तेषु महानुभावेषु यल्लोकवेदकुलप्राप्ताचारदर्शनमात्रेण लौकिकत्वं वैदिकत्वं च व्यवह्रियते, तत्कापट्यात् अज्ञानादेव । नान्यथा अन्यप्रकारेण नेत्यर्थः । वैष्णवत्वं तेषु सहजं नैसर्गिकम्, तल्लक्षणसद्भावात् । वैष्णवलक्षणं श्रीभागवतविष्णुपुराणादितोवगन्तव्यम् । ततः महानुभावेभ्यः अन्यत्र अन्येषु विपर्ययः कापट्याद्वैष्णवत्वम् । लौकिकत्वं वैदिकत्वं सहजमित्यर्थः ।

और अपने अपराध को भोगने के लिये उस पर रोगों का उपद्रव भी नहीं होता एवं पीड़ा भी नहीं होती। शाप की परिस्थिति तब बनती है, जब भक्त शास्त्र का उल्लंघन करता है। और जो महानुभाव होते हैं , वे प्रायः अधिकतर अपने देह-अन्तःकरण आदि की शुद्धि करने के लिये गीताभागवत आदि भगवत्शास्त्रों का सेवन करते हैं, अवगाहन करते हैं, जैसे कि नारद आदि। आपश्री ने इनके लिये प्रायः शब्द इसलिये प्रयुक्त किया है, क्योंकि ऐसे महानुभाव भगवान के अधीन होते हैं अतः अपनी शुद्धि के लिये प्रायः यही उपाय करते हैं। और, जिन-जिन भक्तों में जैसा- जिस प्रकार से भगवान का आविर्भाव होता है, उस अंतर के कारण भक्त में भी अधिक-अधिकतर अनेक भाव उत्पन्न होते हैं। वे अपने में भाव की अधिकता होने पर भी अपने उत्तमभाव को किसी के आगे प्रकट नहीं करते। ऐसे भगवत्संबंधी सर्वदा नम्र ही होते हैं। लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात् तेषु नान्यथा इत्यादि शब्दों का अर्थ यह है कि- इन महानुभावों में जो लोक-वेद-कुल के आचार का पालन करना दिखाई देता है, वह दूसरों को कापट्यात् अर्थात् उनके अपने अज्ञान के कारण ही दिखाई देता है, दूसरे लोग अज्ञान के कारण इनके वास्तविक भगवदीय स्वरूप को नहीं देख पाते और इन्हें लौकिकवैदिक कार्यों में रचे-पचे मान लेते हैं। अन्यथा ऐसे महानुभाव लौकिकवैदिक कार्यों में तो रुचि ही नहीं रखते। इनका स्वभाव लोक-वेद संबंधी धर्म करना नहीं होता अपितु वैष्णवता इनमें सहज अर्थात् प्राकृतिक होती है क्योंकि इनमें वैष्णवता के ही लक्षण होते हैं। वैष्णव के लक्षण क्या होते हैं , यह श्रीभागवत, विष्णुपुराण इत्यादि ग्रन्थों में देखना चाहिए। ततोऽन्यत्र अर्थात् ऐसे महानुभावों के अतिरिक्त अन्यत्र सभी में वैष्णवता कपटरूप से होती है एवं उनके लौकिकवैदिक धर्म सहज होते हैं- यह अर्थ है।

सम्बन्धिनस्त्विति । ये जीवाः सम्बन्धिनो भगवद्विभूत्यंशलेशसम्बन्धवन्तस्तथापरे अन्ये केवलप्रवाहस्थाश्च ये ते सर्वे चर्षणीशब्देनोच्यन्ते, परिभ्रमणस्वभावात् । अत एव ते सर्वेपि क्षणादेव यादृशः सङ्गः, तादृशा एव सर्ववर्त्मसु प्रविष्टाः सन्तः सर्वत्वं तत्तन्मार्गानुसारित्वं यान्ति । तेषां रुचिरत्याग्रहः कुत्रापि नास्ति । अत एव तेषां क्रियानुसारेणैव सर्वत्र यत्र यदा रुचिस्तत्र वर्तमानानां फलं सकलं, कलया सह, लेशमात्रं, न पूर्णमित्यर्थः ॥२२१/२॥

सम्बन्धिनस्तु का अर्थ है - जो जीव भगवान के विभूति या भगवान के अंशरूप से सम्बन्धी है , और जो केवल प्रवाहमार्गी है, वे सभी चर्षणी कहे जाते हैं क्योंकि इनका स्वभाव भटकते रहना ही है। अत एव वे सभी जैसा भी संग मिले, वैसे ही प्रकार से क्षण में ही एवं उन्हीं मार्गों में प्रविष्ट हो जाते हैं एवं उसी मार्ग के अनुसार बन भी जाते हैं। इन्हें वास्तव में रुचि या अति आग्रह किसी मार्ग में नहीं होता। अतएव इनकी क्रिया के अनुसार ही इन्हें जहाँ जैसी रुचि होती है, वहाँ रहते हुए इन्हें आंशिक फल ही मिलता है, पूर्णफल नहीं। टीकाकार ने श्लोक में प्रयुक्त "सकलं" शब्द का अपने ढंग से किया है। इनका कहना है कि, कला का अर्थ है- अंश। अतः सकल का अर्थ हुआ- अंश सहित। अंश तो अपूर्ण ही होता है पूर्ण नहीं होता अतः इनका कहना यह है कि, ऐसे चर्षणी जीवों को केवल लेशमात्र फल ही प्राप्त होता है, पूर्णफल नहीं ॥ २२ १/२॥

प्रवाहस्थान्निरूपयन्ति प्रवाहस्थानिति ।

प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतान् ॥२३॥
जीवास्ते ह्यासुराः सर्वे 'प्रवृत्तिं चे'ति वर्णिताः ।
ते च द्विधा प्रकीर्त्यन्ते ह्यज्ञदुर्ज्ञविभेदतः ॥२४॥
दुर्ज्ञास्ते भगवत्प्रोक्ता ह्यज्ञास्ताननु ये पुनः ।

पूर्ववदेव **स्वरूपं जीवात्मा, अङ्गं देहः, क्रिया कृतिः, एतैः युतान् विशिष्टानित्यर्थः । ते प्रवाहमात्रानुसारिणो ये जीवास्ते आसुरा ज्ञेयाः, 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुरा'इति वचनात् । ते च द्विप्रकाराः । एके अज्ञाः, स्वतः किमपि न जानन्ति, आसुराणां दुष्टाचरणं दृष्ट्वा स्वयमाचरन्ति । एके पुनर्दुर्ज्ञाः, दुष्टमात्मपातकारणमेव कर्तुं जानन्ति, न तु भगवत्प्राप्तिसाधनमपि । ते च भगवता प्रोक्ताः 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चे'त्यादिना ॥२४१/२॥**

अब आगे आचार्यचरण प्रवाहमार्गीयों का निरूपण **प्रवाहस्थान्** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

पहले की भाँति इस श्लोक में भी स्वरूप का अर्थ जीवात्मा , **अज्ञ** का अर्थ देह एवं **क्रिया** का अर्थ है- कृति। आपश्री इन सभी से युक्त प्रवाहमार्गीयजीवों का निरूपण कर रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं - केवल प्रवाह के ढर्रे पर चलने वाले जीवों को आसुरी समझना चाहिए क्योंकि "धर्म में प्रवृति एवं अधर्म से निवृत्ति को आसुरी नहीं जानते(भ०गी० १६-७)" इस गीता के वचनानुसार भगवान ने इन्हें आसुरी ही बताया है। ऐसे प्रवाहमार्गी दो प्रकार के होते हैं। एक अज्ञ होते हैं जो स्वयं कुछ भी नहीं जानते किन्तु आसुरों के दुष्ट आचरणों को देखकर स्वयं भी वैसे दुष्ट कार्य करने लग जाते हैं। और एक होते हैं दुर्ज्ञ, जो अपनी आत्मा का पतन करने वाले दुष्ट कार्यों को ही करना जानते हैं , भगवत्प्राप्ति के साधन नहीं जानते। इनके लिये भगवान ने गीता में "हे अर्जुन ! धर्म में प्रवृति एवं अधर्म से निवृत्ति को आसुरी नहीं जानते। उनमें न अन्तःकरण की शुद्धि न सदाचार और न सत्य ही होता है (भ०गी० १६-७)" इत्यादि वाक्यों द्वारा कहा है॥ २४ १/२॥

प्रासङ्गिकमाह **प्रवाहेऽपीति** ।

प्रवाहेऽपि समागत्य पुष्टिस्थस्तेन युज्यते ॥२५॥
सोपि तैस्तत्कुले जातः कर्मणा जायते यतः ॥२५$^{1}/_{2}$॥

पुष्टिस्थो यदा दैवयोगादासुरस[1]ङ्गात्तन्मार्गे प्रविशति, तदा **तेन** भावेन युज्यते लिप्तो भवति । तद्वस्त्रमालिन्यवत् प्रक्षालनस्थानीयभगवद्भक्तभाविसंसर्गाच्छुध्यत्येवेति मन्तव्यम् । अन्यथा विरोधः स्यात् । **सोपि** तद्धर्मैस्तेषां **कुले जात** उत्पन्नो भूत्वा पश्चात् स्वीयपुष्टिसंस्कारोद्बोधे सति तदर्थमेव यतिष्यत इति शेषः । जन्ममात्रं तु प्रारब्धकर्माधीनत्वादनिवार्यम् । अत एव भगवताप्युक्तं 'पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यत' इत्यादिना । इत ऊर्ध्वं ग्रन्थत्रुटिः ॥२५$^{1}/_{2}$॥

आपश्री आगे **प्रवाहेऽपि** शब्द से मूल प्रासङ्गिक पुष्टिजीव की बात कह रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं - पुष्टिजीव जब दैवयोगवश किसी आसुरी के संग से प्रवाहमार्ग में प्रविष्ट होता है , तो प्रवाहमार्ग के भावों से युक्त हो जाता है। किन्तु जैसे वस्त्र मैला हो जाए , तो धोकर पुनः साफ हो जाता है , वैसे ही ऐसे पुष्टिजीव को भविष्य में जब कभी भी भगवद्भक्त का संग मिलता है , तो वह पुनः शुद्ध हो ही जाता है- यह मानना चाहिए। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो अपने पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त से विरोध आ जायेगा जहाँ यह कहा जाता रहा है कि पुष्टिजीव भगवान से कभी भी विमुख नहीं होता। आपश्री का कथन है कि, प्रवाहमार्ग में उत्पन्न होने वाला पुष्टिजीव भी बाद में अपने भीतर रहे हुए पुष्टिसंस्कार के कारण पुष्टिमार्गीयभावों के लिये ही प्रयत्नशील होगा। जन्म तो प्रारब्ध के कर्मों के अधीन है अतः कहीं भी जन्म होने को तो टाला नहीं जा सकता परन्तु पूर्वजन्म के संस्कारों का प्रभाव तो अवश्य रहता ही है। इसी कारण भगवान ने भी गीता में "हे पार्थ ! कल्याणकारी कर्म करने वाले योगी का इस लोक में अथवा परलोक में भी विनाश नहीं होता(भ०गी० ६-४०)" यह कहा है। इसके पश्चात् का ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता॥ २५ १/२॥

पुष्टिप्रवाहमर्यादाः पृथक् पृथगुदीरिताः ।
कृतिना रघुनाथेन श्रीवल्लभपदेप्सुना ॥१॥

इति श्रीवल्लभनन्दनचरणैकशरणश्रीरघुनाथानां कृतौ पुष्टिप्रवाहमर्यादाविवरणं सम्पूर्णम्[2] ।

श्रीवल्लभचरणप्राप्ति के इच्छुक श्रीरघुनाथजी ने
पृथक-पृथक रूप से कहे गये पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा की विवृति की॥ १॥
यह श्रीवल्लभनन्दनचरण श्रीप्रभुचरणों में एकनिष्ठ श्रीरघुनाथजी द्वारा पुष्टिप्रवाहमर्यादा का विवरण संपूर्ण हुआ।

---

१. संसर्गात् । २. उक्तं च, 'प्रवाहो लौकिको धर्मो मर्यादा वेद उच्यते । कृष्ण प्रेम च वै पुष्टिमार्गभेदास्त्रयोऽत्र हि ॥ इत्यधिकम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

पुष्टिप्रवाहमर्यादा ।

श्रीकल्याणरायकृतटीकासमेता ।

श्रीविट्ठलेश्वरं नत्वा स्वेषां [1]सफलसिद्धये ।
पुष्टिप्रवाहमर्यादाविवृतिः क्रियते मया ॥१॥

लोके कति मार्गाः कीदृशाः किं च तेषां फलमिति जिज्ञासूनां स्वकीयानां ज्ञानार्थं श्रीवल्लभाचार्याः पुष्टिप्रवाहमर्यादा विशेषेण वक्तुं प्रतिजानते ।

पुष्टिप्रवाहमर्यादा विशेषेण पृथक् पृथक् ।
जीवदेहक्रियाभेदैः प्रवाहेण फलेन च ॥१॥

पुष्टिर्नाम भगवदनुग्रहः फलप्रापकत्वात् फलार्थं मृग्यत इति स एको मार्गः । प्रवाहो नाम जन्मादिप्रवाहरूपः लौकिकफलप्रापकत्वात् सोपि मार्गः । मर्यादा वेदोक्तः कर्ममार्गः । एता विशेषेण व्यावर्तकधर्मेण पृथक् पृथक् वक्ष्यामि ।

श्रीविट्ठलेश्वर को नमन करके अपने निजजनों की समस्त सिद्धि के लिये
मैं पुष्टिप्रवाहमर्यादा की विवृति कर रहा हूँ ॥ १ ॥

इस लोक में कितने मार्ग हैं , कैसे हैं एवं उनके फल क्या हैं ? इत्यादि बातें श्रीवल्लभाचार्यचरण अपने जिज्ञासु निजजनों को बताने के लिये पुष्टिप्रवाहमर्यादा इत्यादि मार्गों को विशेषरूप से कहने की प्रतिज्ञा अग्रिम श्लोक में कर रहे हैं।

पुष्टि का अर्थ है - भगवान का अनुग्रह। पुष्टिमार्ग फलप्रापक (फल दिलाने वाला) होने के कारण एक प्रकार का मार्ग है। जिसके द्वारा फल प्राप्त करने की चेष्टा की जाय , उसे मार्ग कहते हैं। प्रवाह का अर्थ है - जन्ममरण का प्रवाह ; यह मार्ग लौकिकफल प्राप्त कराता है अतः यह भी एक प्रकार का मार्ग है। मर्यादा का अर्थ है - वेद में कहा/बताया गया कर्ममार्ग। आपश्री आज्ञा करते हैं - इन सभी मार्गों को विशेषतया कहेंगे अर्थात् इन्हें अलग-अलग करने वाले धर्मों को पृथक् पृथक् रूप से कहेंगे।

अत्र के व्यावर्तका धर्मा इत्याकाङ्क्षायामाहुः भक्तिमार्गे जीवा भगवदनुगृहीता भिन्नाः । तेषां देहाः भगवच्चरणरेण्वादिनिष्पादिता भिन्नाः । तेषां क्रिया भगवत्परा भिन्नाः । एवं प्रवाहासक्ताः संसारिणो जीवा भिन्नाः, तेषां देहा अपि संस्कारादिरहिता भिन्नाः, तेषां क्रिया लौकिक्यो भिन्नाः । मर्यादामार्गे दैवा जीवा भिन्नाः, तेषां देहाः संस्कृता भिन्नाः, तेषां वेदोक्ताः क्रिया भिन्नाः । प्रवाहासक्तत्वेन प्रवाह एव प्रावाहिकाणां भेदकः । 'मद्भक्ता यान्ति मामपी'त्यादिवाक्याद्भक्तिमार्गे पुरुषोत्तमप्राप्तिः फलम् । मर्यादामार्गे वेदोक्तकर्मभिर्निःकामनां तत्त्वज्ञानद्वारा अक्षरप्राप्तिः फलम् । सकामानां क्षयिष्णु स्वर्गादिः फलम् । प्रवाहस्थानां स्वकर्मानुसारि जन्मादिः फलम् । भिन्नैरेतैर्मार्गा अपि भिन्ना भवन्तीत्यर्थः ॥१॥

अब इन सभी मार्गों को अलग अलग करने वाले धर्म कौन से हैं ? यह आकांक्षा हो , तो आपश्री आज्ञा करते हैं - भक्तिमार्ग में भगवत्कृपापात्र जीव दूसरे जीवों से भिन्न होते हैं। उनकी देह भगवच्चरण की रेणु आदि से बनी होती है अतः दूसरों की देह से भिन्न होती है। उनकी क्रिया भी भगवत्संबंधी होती है अतः दूसरों से भिन्न होती है। इसी प्रकार प्रवाह में आसक्त संसारीजीव भी भिन्न होते हैं ; उनकी देह भी संस्काररहित होने के कारण भिन्न होती है एवं उनकी क्रिया लौकिकी होती है अतः भिन्न होती है। मर्यादामार्ग के दैवीजीव भी भिन्न होते हैं ; उनकी देह के संस्कार भिन्न होते हैं एवं उनकी वेदानुसारी क्रियाएँ भी अन्य दूसरों से भिन्न होती हैं। जहाँ तक प्रवाहमार्ग की बात है , तो इस मार्ग के जीव प्रवाह में आसक्त होते हैं अतः उनका प्रवाह में बहते रहना ही उन्हें अन्य दूसरे मार्गों से भिन्न रखता है। जहाँ तक भक्तिमार्ग की बात है, तो "मेरे भक्त अन्त में मेरे परमधाम को प्राप्त होते हैं(भ०गी० ७-२३)" इस वाक्यानुसार भक्तिमार्ग में पुरुषोत्तम की प्राप्ति ही फल है। मर्यादामार्ग में निस्वार्थरूप से वेदोक्तकर्म करनेवालों को तत्त्वज्ञान द्वारा अक्षरब्रह्म की प्राप्तिरूप फल प्राप्त होता है। सकाम कर्म करने वालों को स्वर्गादि का फल प्राप्त होता है , जो नश्वर होता है। प्रवाहमार्गीयों को अपने अपने कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न जन्म मिलने वाला फल प्राप्त होता है। इस प्रकार से ये भिन्न भिन्न फल प्राप्त होते हैं अतः मार्ग भी

---

१. स्वफलेति पाठः । सकलसिद्धय इति पाठः स्यात् ।

भिन्न भिन्न होते हैं, यह अर्थ है ॥ १ ॥

वक्ष्यामि सर्वसन्देहा न भविष्यन्ति यच्छ्रुतेः ।
भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः ॥२॥

कथनस्य प्रयोजनमाहुः । यस्योक्तस्य श्रवणात् मार्गतत्साधनफलेषु सन्देहा न भविष्यन्तीत्यर्थः । मार्गसत्त्वे प्रमाणानि वक्तुं प्रथमं पुष्टिसत्त्वे प्रमाणमाहुः । 'ते नाधीतश्रुतिगणा' इत्यादिना निःसाधनत्वेन निरूपितानां व्रजस्थितानां 'केवलेन हि भावेने'त्यादिवाक्यैः स्नेहनिरूपणात् भक्तिरूपस्य मार्गस्य कथनात् भक्तिकारणत्वेन पुष्टिर्निश्चीयत इत्यर्थः ।

आचार्यचरण इस प्रकार से पृथक-पृथक रूप से इनका विभाजन करके क्यों कह रहे हैं , इसका प्रयोजन वे इस दूसरे श्लोक में कह रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि, ऐसे प्रकार से कहेंगे, जिसे सुन कर उन विभिन्न मार्गों एवं उनके साधन एवं उनके फलों के संदर्भ में कोई भी सन्देह नहीं रहेगा। इन समस्त मार्गों की सत्ता है , इस बात का प्रमाण कहने की श्रंखला में आपश्री सर्वप्रथम पुष्टिमार्ग की सत्ता का प्रमाण कह रहे हैं। यहाँ यह समझिए कि, "दैत्य-राक्षस, पशु-पक्षी, गन्धर्व-अप्सरा, नाद-सिद्ध, वैश्य, शूद्र, स्त्री, अन्त्यज, वृत्रासुर, प्रह्लाद, बलि, बाणासुर, गजेन्द्र, जटायु, कुब्जा,, व्रज की गोपियाँ, यज्ञपत्नियाँ इत्यादि केवल सत्सङ्ग के प्रभाव से ही मुझे प्राप्त कर सके हैं। इन लोगों ने न वेदों का अध्ययन किया, न किसी महापुरुष की उपासना की , न कोई व्रत किया और न कोई तपस्या(श्री०भा० १०-१२-७)" इत्यादि वाक्यों में व्रजवासियों को निःसाधन बताया गया है एवं "गोपियाँ, गाएँ , यमलार्जुन आदि वृक्ष, व्रज के हरिण, कालियनाग इत्यादि ने केवल भाव के कारण मेरी प्राप्ति कर ली(श्री०भा० ११-१२-८)" इत्यादि वाक्यों द्वारा यह बताया गया है कि उन्हें भगवान में अति स्नेह था। श्रीभागवत के इन सभी वाक्यों से ज्ञात होता है कि, इनमें भक्तिरूप मार्ग कहा गया है। अतः जब इन श्लोकों में भक्ति कही गयी है , तो भक्ति का मूल कारण (अर्थात् जिससे भक्ति उत्पन्न होती है, वह मूल कारण) पुष्टि यानि भगवान का अनुग्रह तो इन श्लोकों में स्पष्टरूप से निश्चित होता है। टीकाकार यह कहना चाह रहे हैं कि, इन श्लोकों में भगवान के प्रति स्नेह हो जाने का वर्णन है। और, भगवान में परम स्नेह हो जाना ही भक्ति कहलाती है। और, भक्ति भगवान के अनुग्रह के बिना उत्पन्न नहीं हो सकती अतः टीकाकार का कहना है कि, यदि इन श्लोकों में भगवान से स्नेह हो जाने की बात बतायी गयी है , तो सिद्ध हो जाता है कि इनमें पुष्टिमार्ग को ही बताया गया है अतः पुष्टिमार्ग की सत्ता होने की बात सिद्ध हो जाती है।

ननु दानव्रतादिभिः भक्तेः श्रूयमाणत्वात् कथं भक्तिकारणत्वेन पुष्टिर्निश्चीयत इति चेत् , न, अनुग्रहव्यापारत्वेनैव दानादीनां भक्तिसाधकत्वात् । ननु कथमेवम्? इत्थम् । पुष्टेर्भगवदनुग्रहरूपत्वेन भक्तेर्भगवदनुग्रहैकसाध्यत्वान्निःसाधनोनुग्रहः पुष्टिरित्युच्यते । साधनमिश्रभावात् साधनानुग्रहो भक्तिमार्गे मर्यादेत्युच्यते । अत एवोक्तमाचार्यैः श्रीभागवततत्त्वदीपे 'पुष्टिरत्र द्विरूपा हि मर्यादापुष्टिभेदतः। विश्वरूपस्तु मर्यादा द्वितीयो वृत्र उच्यत' इति । तेन स ससाधनानुग्रह एव दानादिसाधनद्वारा भक्तिं जनयतीति नानुपपन्नं किञ्चित् । एतदेवोक्तं भक्तिहंसे श्रीमत्प्रभुचरणैः 'वरणे चास्ति प्रकारद्वयं मर्यादापुष्टिभेदेने'ति । प्रावाहिकभक्तिस्तु भक्तस्य फलार्थं भगवति सापेक्षत्वमात्रेण स्नेहाभावेन भक्तिमार्गे किञ्चिद्धर्मसाम्येन प्रावाहिकभक्तौ भक्तिपदप्रयोगात् पूज्यातुल्येति ।

किन्तु किसी को शंका यह होती है कि, इसी भागवत में दान-व्रत-तप इत्यादि को भक्ति उत्पन होने में कारण माना गया है , फिर यहाँ आचार्यचरण पुष्टि अर्थात् भगवान के अनुग्रह को भक्ति का कारण क्यों कह रहे हैं ? अर्थात् यह क्यों कह रहे हैं कि, भगवान जब अनुग्रह करते हैं तब ही जीव में भक्ति उत्पन्न होती है ? नहीं। यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि दान-व्रत-तप इत्यादि भी तब ही सिद्ध हो पाते हैं , जब भगवान अनुग्रह करें या कृपा करें। अतः भक्ति उत्पन्न होने में या सिद्ध होने में मूलकारण तो भगवान का अनुग्रह ही है , यह निश्चित हो जाता है। ये किस प्रकार से, यह समझिए। पुष्टि का अर्थ है - भगवान का अनुग्रह। भक्ति केवल भगवान के अनुग्रह से ही सिद्ध हो सकती है अतः जब भगवान निःसाधन जीवों पर अनुग्रह करते हैं , तो उसे पुष्टि या पुष्टिमार्ग कहा जाता है। और जब भगवान साधनसहित अनुग्रह करते हैं, तो उसे मर्यादापुष्टि कहते हैं। पूर्व में यह कहा गया कि जब जीव निःसाधन होता है अर्थात् भगवत्प्राप्ति के किसी भी साधनों को करने में सक्षम नहीं होता और तब भगवान उस पर कृपा करते हैं , तो उसे पुष्टि कहा जाता है। किन्तु जब जीव के यत्किंचित् साधन करने के आधार पर भगवान उस पर कृपा करें , तो उसे मर्यादापुष्टि कहते हैं - यह टीकाकार का आशय है। अतएव आचार्यचरणों ने श्रीभागवततत्त्वदीप में "यहाँ पुष्टि दो प्रकार की है। एक पुष्टि और दूसरी मर्यादापुष्टि। विश्वरूप मर्यादापुष्टि के अंतर्गत है एवं वृत्रासुर को पुष्टिपुष्टि के अंतर्गत समझना चाहिए(६४)" यों कहा है। अतः ज्ञात होता है कि, मर्यादापुष्टि वह है , जहाँ जीव के साधनों सहित अर्थात् उसके द्वारा किये गये दान-व्रत-तप इत्यादि साधनों के अनुसार भगवान उस पर कृपा करके उसमें भक्ति उत्पन्न करते हैं , इसलिये मैंने जो कहा वह ठीक ही है। यही बात श्रीमत्प्रभुचरणों ने भक्तिहंस में "भगवान जीव का वरण दो प्रकार से

करते हैं - पुष्टि एवं मर्यादापुष्टि के प्रकार से" इस वाक्य द्वारा कही है। प्रावाहिकीभक्ति में तो भक्त केवल फल प्राप्त करने के लिये ही भगवान की भक्ति करता है, उसे भगवान के प्रति स्नेह नहीं होता। प्रावाहिकीभक्ति में पुष्टिभक्ति के कुछ एक धर्मों से समानता पायी जाती है अतः इसमें भक्ति पद जोड़ दिया जाता है किन्तु वास्तव में तो वह पूजामार्ग के समान ही है।

तेन पुष्टिभक्तिरेव मुख्या । परमानुरागरूपत्वात् । 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' इति शाण्डिल्यसूत्रात् । मर्यादाभक्तिस्तु भक्तिदेशीया परमानुरागाभावात् । प्रावाहिकभक्तिस्तु सापेक्षतारूपेति पूजातुल्या, परं भक्तिमार्गसम्बन्धाद्भक्तिरूपेति । एतदेवोक्तं भक्तिहंसे 'भक्तिमार्गीयभक्तकृत(भक्ति)साम्प्रदायिकदीक्षापूर्वकं मोक्षसाधनत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिः प्रावाहिकी भक्तिरुच्यत' इति । मर्यादामार्गस्थं ज्ञानमार्गस्थं वा जीवं यदि भगवानुगृह्णाति, तदा स पुष्टिमार्गं प्राप्य तन्मार्गीयं फलं प्राप्नोति । एतदेवोक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्यां 'उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यती'ति । तेनानुग्रहसाध्या भक्तिरिति सिद्धम् । अतः सूक्तं 'भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चय' इति ॥२॥

इससे सिद्ध होता है कि, इन सभी में पुष्टिभक्ति ही मुख्य है क्योंकि पुष्टिभक्ति करने वालों को भगवान के प्रति परम अनुराग होता है। यही बात भक्ति का लक्षण बताने वाले शाण्डिल्यसूत्र में भी "ईश्वर मे परम अनुरक्ति हो जानी ही भक्ति है(शांडि० भ०सू०-२)" इस वाक्य द्वारा कही गयी है। इसकी तुलना में मर्यादाभक्ति में तो भक्ति का एक अंश मात्र ही है क्योंकि इसमें भगवान के प्रति परम अनुराग नहीं होता। प्रावाहिकीभक्ति तो किसी निजी अपेक्षा के कारण की जाती है अतः वह पूजामार्ग के समान ही है किन्तु भक्तिमार्ग से संबंधित होने के कारण इसे भक्तिरूपा कह दिया जाता है। यही बात भक्तिहंस में "भक्तिमार्गीय भक्त द्वारा की गयी भक्ति संप्रदाय की दीक्षा के सहित और श्रवण-कीर्तन इत्यादि को मोक्ष के साधन जान कर की जाने वाली भक्ति प्रावाहिकीभक्ति कही जाती है" यों कही गयी है। मर्यादामार्गीयजीव या ज्ञानमार्गीयजीव पर जब भगवान अनुग्रह करते हैं, तब वह पुष्टिमार्ग को प्राप्त करता है एवं पुष्टिमार्गीयफल प्राप्त करता है। यही बात आचार्यचरणों ने सिद्धांतमुक्तावली में "ज्ञानीभक्त एवं मर्यादाभक्त इन दोनों को भगवान का अनुग्रह होने पर क्रमशः मानसीसेवा फलित होगी(१९)" यह कहा है। इन समस्त विवेचनों से स्पष्ट हो जाता है कि, भक्ति केवल भगवान के अनुग्रह से ही सिद्ध या प्राप्त हो सकती है। इसलिये आचार्यचरणों ने यहाँ ठीक ही कहा है कि- "यदि भागवत आदि में भक्तिमार्ग कहा गया है, तो पुष्टिमार्ग की सत्ता तो तब से ही है, यह बात निश्चित हो जाती है" ॥ २॥

प्रवाहसत्त्वे प्रमाणमाहुः ।

'द्वौ भूतसर्गा'वित्युक्तेः प्रवाहोपि व्यवस्थितः ।
वेदस्य विद्यमानत्वान्मर्यादापि व्यवस्थिता ॥३॥

'द्वौ भूतसर्गौ लोकेस्मिन् दैव आसुर एव चे'ति वाक्यात् प्रवाहोपि सिद्धः । मर्यादासत्त्वे प्रमाणमाहुः । काण्डद्वयात्मकस्य वेदस्य श्रूयमाणत्वान्मर्यादामार्गोपि सिद्धः ॥

अब अग्रिमश्लोक में आचार्यचरण प्रवाहमार्ग की सत्ता विद्यमान होने के प्रमाण कह रहे हैं।

आपश्री द्वारा मूलश्लोक में कहे "हे अर्जुन ! इस संसार में दैवी और आसुरी ये दो प्रकार की सृष्टि होती है(भ०गी० १६/६)" इस गीता के वाक्यानुसार प्रवाहमार्ग की सत्ता होनी भी सिद्ध हो जाती है। मर्यादामार्ग की सत्ता विद्यमान होने का प्रमाण आपश्री दूसरी पंक्ति में दे रहे हैं। आपश्री कहते हैं - दो काण्डों वाला वेदमार्ग विद्यमान होने के कारण वेद में कहे मर्यादामार्ग की सत्ता भी सिद्ध हो जाती है।

भक्तेः पुष्टिसाधकत्वमुक्त्वा दुर्लभत्वमाहुः ।

कश्चिदेव हि भक्तो हि 'यो मद्भक्त' इतीरणात् ।
सर्वत्रोत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः ॥४॥

कश्चिदेव हि भक्तो भवति, न सर्वः । अन्यथा भगवान् 'यो मद्भक्त' इति न वदेत् । भक्तेः पुष्टिसाधकत्वमुक्त्वा भक्तिभक्तयोरुत्कर्षस्यापि पुष्टिसाधकत्वमाहुः । सर्वत्र गीताश्रीभागवतादौ 'भक्त्या मामभिजानाति','भक्त्या त्वनन्यया शक्य' इत्यादि 'यत्कर्मभिर्यत्तपसे' त्यारभ्य 'सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसे'त्यन्तेन । 'भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते' । 'मय्यनन्ते गुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि । नालं द्विजत्व'मित्युपक्रम्य 'प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बन'मित्यन्तेन । 'मय्यावेश्य' इत्यारभ्य 'ते मे युक्ततमा मता' इत्यन्तेन, 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्,"कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति,"ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः','ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्', 'अहं भक्तपराधीन' इत्युपक्रम्य, 'वशे कुर्वन्ति

१. प्रवाहमार्गस्थमिति पाठः ।

मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथे'त्यन्तेन, 'एताः पर'मित्यारभ्य, 'पुनाति भुवनत्रय'मिति श्लोकषट्केनच उत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चीयत इत्यर्थः । नहि भक्तिर्भक्तत्वमेतादृशोर्थो भगवदनुग्रहं विना प्राप्यते ॥४॥

भक्ति उत्पन्न होने मे भगवान की पुष्टि/कृपा साधिका वनती है - यह कह कर आगे आचार्यचरण पुष्टिमार्गीयभक्ति प्राप्त होनी वड़ी दुर्लभ है, यह वता रहे है।

मूलश्लोक में आचार्यचरण आज्ञा करते हैं - कोई विरला ही पुष्टिभक्त हो सकता है , सभी नहीं। यदि ऐसा न होता , तो भगवान "जिसने अपनी मन-बुद्धि को मुझ में ही अर्पण कर रखा है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है(भ०गी० १२/१४)" ऐसा न कहते। भक्ति को भगवान की पुष्टि/कृपा से सिद्ध होने की बात को कह कर मूलश्लोक की दूसरी पंक्ति में आपश्री यह आज्ञा कर रहे है कि, पुष्टिभक्ति एवं पुष्टिभक्त की उत्कर्षता होने में भी भगवान की पुष्टि/कृपा ही कारण है। आपश्री कहते है - यह बात सर्वत्र अर्थात् गीताभागवत आदि ग्रन्थों में सर्वत्र कही गयी है। जैसे कि, "जो मुझे भक्ति द्वारा जानता है, वह मुझमें प्रवेश कर जाता है (भ०गी० १८-५५)" , "हे अर्जुन ! अनन्यभक्ति द्वारा ही मुझे तत्व से जाना जा सकता है एवं प्रत्यक्ष देखा जा सकता है(भ०गी० ११-५४)" इत्यादि वाक्यों में और "कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग इत्यादि दूसरे कल्याण के साधनों से जो कुछ भी प्राप्त होता है, वह सब मेरा भक्त मेरी भक्ति के द्वारा अनायास ही प्राप्त कर लेता है(श्री०भा० ११-२०-३२ एवं ३३)" इत्यादि वाक्यों में। इसी प्रकार "भगवान को प्रसन्न करने के लिये ब्राह्मणता की, देवता होना या दान, तप, यज्ञ और वड़े-बड़े अनुष्ठानों की आवश्यकता नहीं है(श्री०भा० ७-७-५२)" इत्यादि वाक्यों से लेकर "भगवान तो केवल निष्कामभक्ति से प्रसन्न होते है, वाकी सब कुछ तो विडम्वना मात्र है(श्री०भा० ७-७-५२)" यहाँ तक। और "मुझमें मन लगा कर मेरा अनुस्मरण करोगी तो शीघ्र ही मुझे प्राप्त करोगी(श्री०भा० १०-४७-३६)" वाक्यों से आरंभ करके "मैं कौन हूँ, कितना वड़ा हूँ, कैसा हूँ- इन वातों को जाने या न जाने परन्तु जो मेरा अनन्यभाव से भजन करते हैं, वे मेरे विचार से मेरे परमभक्त है(श्री०भा० ११-११-३३)" इत्यादि वाक्यों तक। ठीक इसी प्रकार "जो मुझे भक्ति से भजते हैं, वे मुझमें है और मैं उनमें(भ०गी ९-२९)" , "हे अर्जुन ! निश्चयपूर्वक घोषणा करो कि, मेरे भक्त का कभी विनाश नहीं होता(भ०गी० ९-३१)" , "गोपियों का मन सब कुछ छोड़कर मुझमें ही लगा रहता है। जो मेरे लिये लौकिक और अलौकिक धर्मों को छोड़ देते हैं, उनका भरण-पोषण मैं स्वयं करता हूँ(श्री०भा० १०-४६-४)" , "हे दुर्वासाजी! मैं भक्त के सर्वथा अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं हूँ(श्री०भा० ९-४-६३)" , "जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रत्य से पति को वश में कर लेती है, वैसे ही साधुजन मुझे भक्ति से वशीभूत कर लेते है(श्री०भा० ९-४-६६)" इत्यादि वाक्यों तक। और, "इस पृथ्वी पर इन गोपियों का शरीर धारण करना ही श्रेष्ठ एवं सफल है। जिन्हें भगवान की लीला-कथा का रस प्राप्त हो गया है, उन्हें कुलीनता, संस्कार एवं वड़े-वड़े यज्ञ-यागों की भी क्या आवश्यकता रह जाती है?(श्री०भा० १०-४७-५८)" से आरंभ करके "इन गोपियों ने भगवान श्रीकृष्ण की लीला-कथा का जो गान किया है, वह समस्त भुवन को पवित्र कर रहा है(श्री०भा० १०-४७-६३)" यहाँ तक के छह श्लोकों तक भक्ति की उत्कर्षता कही गयी है अतः पुष्टिमार्ग की सत्ता विद्यमान है, यह बात निश्चित हो जाती है। तात्पर्य यह कि , भक्ति और ऐसा भक्त होना और ऐसा फल मिलना भगवान के अनुग्रह के विना प्राप्त नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

पुष्टिमार्गीयस्य प्रवाहमर्यादामार्गस्थाभ्यां भेदमाहुः ।

न सर्वतः प्रवाहाद्धि भिन्नो वेदाच्च भेदतः ।
'यदा यस्ये'ति वचना'न्नाहं वेदै'रितीरणात् ॥५॥

'यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः । स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिता'मिति वाक्याद्यं भगवाननुगृह्णाति, स पुष्टिमार्गीयो भवति, न सर्वः । अतः प्रवाहाद्भेदः । हि युक्तोयमर्थस्ततो वैलक्षण्यात् । 'नाहं वेदै'रित्यारभ्य 'परन्तपे'त्यन्तेन अनन्यभक्त्यैव भगवान् ज्ञातुं द्रष्टुं शक्यः, नान्यसाधनैरिति भेदतः वैलक्षण्यात् वेदाच्च भिन्नः, वेदोक्तमर्यादामार्गस्थादपि पुष्टिमार्गस्थभक्तो भिन्न इत्यर्थः ॥५॥

अव आगे के श्लोक मे आचार्यचरण पुष्टिमार्गीयो का प्रवाहमार्गीय एवं मर्यादामार्गीय जीवों से भेद दिखला रहे है।

"हृदय में वार-वार चिन्तन किये जाने पर भगवान जिस समय जिस जीव पर कृपा करते हैं, वह लौकिकव्यवहार एवं वैदिक कर्ममार्ग की वद्धमूल आस्था से छुट्टी पा जाता है(श्री०भा० ४-२९-४६)" इस वाक्यानुसार जिस जीव पर भगवान अनुग्रह करते है , वह जीव पुष्टिमार्गीय वनता है, सभी नहीं। अतः पुष्टिमार्गीयजीव का इस प्रकार से मर्यादामार्गीयजीव एवं प्रवाहमार्गीयजीव से भेद है। हि इस अर्थ की युक्तता वताने के लिये है क्योंकि मर्यादामार्गीयजीव एवं प्रवाहमार्गीयजीव की तुलना में पुष्टिजीव विलक्षण है। और, "हे अर्जुन ! मेरे जिस रूप को तू अपने नेत्रों से देख रहा है, उसे न वेदों से, न तप से, न दान से और न पूजा से जाना जा सकता है। इन साधनों के द्वारा मेरा साक्षात्कार

नहीं हो सकता(भ०गी ११-५३)" इस वाक्य से लेकर "हे अर्जुन ! अनन्यभक्ति द्वारा ही मुझे तत्व से जाना जा सकता है एवं प्रत्यक्ष देखा जा सकता है(भ०गी० ११-५४)" इस वाक्य तक यह बताया गया है कि, केवल भक्ति से ही भगवान का स्वरूप जाना जा सकता है, अन्य दूसरे किसी भी साधनों से नहीं अतः इस विलक्षणता के कारण भी पुष्टिभक्तिमार्गीय दूसरे जीवों से भिन्न है। वेदाच्च भिन्नः का अर्थ है - वेदोक्त मर्यादामार्गीयजीव से भी पुष्टिभक्त भिन्न है ॥ ५ ॥

मार्गैकत्वेपि चेदन्त्यौ तनू भक्त्यागमौ मतौ ।
न तद्युक्तं सूत्रतो हि भिन्नो युक्त्या हि वैदिकः ॥६॥

कस्यचित्पूर्वपक्षं निराकुर्वन्ति । तथाहि । ननु प्रवाहमर्यादामार्गयोरपि व्यवहारशुद्धिसाधकत्वेन भक्त्युपयोगात् अङ्गाङ्गिभावेनैको भक्तिमार्ग एवास्त्विति चेत्, न । मार्गैकत्वे स्वीक्रियमाणे प्रवाहमर्यादामार्गावङ्गत्वेन भक्तिफलप्रापकत्वेन तव सम्मतौ, तन्न युक्तम् । यदि प्रवाहमर्यादामार्गयोर्भक्तिफलेन फलवत्त्वं स्यात्, तदा तदङ्गत्वं स्यात्, तदेवाङ्गं भवति यत्प्रधानफलेन फलवद्भवति, न स्वतः, प्रयाजादिवत्, 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्ग'मित्यङ्गलक्षणात् ।

अब आचार्यचरण किसी पूर्वपक्षी की शंका का निराकरण कर रहे हैं। वह यह कहता है कि, प्रवाहमार्ग एवं मर्यादामार्ग से लौकिक एवं वैदिक व्यवहारों की शुद्धि होती है। लौकिकवैदिकव्यवहार यदि शुद्ध होंगे तो भक्ति भी सही ढंग से निभेगी, अतः इस दृष्टि से सोचें, तो ये दोनों भक्ति करने में उपयोगी सिद्ध होते हैं। तो क्यों न प्रवाहमार्ग एवं मर्यादामार्ग को भक्ति का ही अंग मान लिया जाय और ये मान लिया जाय कि भक्तिमार्ग ही एकमात्र मार्ग है ?? नहीं, आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि ऐसा नहीं माना जा सकता ; मार्गैकत्वेपि प्रवाह एवं मर्यादा मार्ग को भक्ति का अंग मान कर इनके द्वारा भक्तिफल प्राप्त होने की आपकी बात युक्त नहीं है, ठीक नहीं है। यदि प्रवाहमार्ग एवं मर्यादामार्ग भक्तिरूपी फल दे सकते होते, तब तो इनको भक्ति का अंग माना भी जा सकता था, क्योंकि अंग उसी को कहते हैं, जो प्रधानफल को प्राप्त कराने में सहायक बनता हो। किन्तु अंग को स्वतंत्ररूप से फल नहीं माना जा सकता। उदाहरण के तौर पर समझें कि प्रयाज आदि पाँच प्रक्रियाएँ यज्ञ में मुख्यफल को प्राप्त करने के लिये की जाती हैं। स्वयं प्रयाज में यह सामर्थ्य नहीं होती कि वह मुख्यफल की प्राप्ति करा सके। प्रयाज मुख्यफल की प्राप्ति में सहायक बनता है इसीलिये प्रयाज को अंग कहते हैं। परन्तु वह स्वतः मुख्यफल की प्राप्ति नहीं करा सकता। ठीक इसी प्रकार प्रवाहमार्ग एवं मर्यादामार्ग इन दोनों को हम भक्तिमार्ग के अंग तब मानते, जब वे भक्तिमार्ग में प्राप्त होने वाले किसी भी फल में किसी भी प्रकार की भूमिका निभाते। परन्तु भक्ति तो स्वतन्त्र पुरुषार्थरूपा है, खुद ही फल दिलाने में सक्षम है और उसे अन्य किसी की भी अपेक्षा नहीं है अतः इन्हें भक्तिमार्ग का अंग नहीं माना जा सकता। यही बात "जो साधन हमें फल प्राप्त कराता है, उस साधन को अंग कहते हैं" इस वाक्य में भी कही गयी है।

अत्र भक्तिमार्गे 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशा'दिति व्याससूत्रेण भगवत्परस्य मोक्षः फलत्वेनोच्यते। तथा भक्तिमीमांसायां शाण्डिल्यसूत्रं 'तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशा'दिति । अस्यार्थस्तु । तस्मिन्नीश्वरे संस्था भक्तिर्यस्य तस्यामृतत्वं फलमुपदिश्यते । 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेती'ति । एतद्विचारेण भगवत्प्राप्तिफलकत्वात् । प्रवाहमर्यादामार्गयोः जन्मादिसंसारस्वर्गादिफलकत्वात् । परम्परया निमित्तकारणत्वेन देशादिवदुपयोगात्तयोर्न भक्त्यङ्गत्वमिति नाङ्गाङ्गिभावेन मार्गैकत्वसिद्धिः । युक्तिस्तु यदि मर्यादामार्गो भक्तिमार्गाभिन्नः स्यात्, तदा भक्तिमार्गीयमेव फलं दद्यात् । स्वर्गादिफलदातृत्वाद्वैदिको मार्गो भिन्नः । अलौकिकफलदातृत्वाभावात् प्रवाहो नोक्तः ॥६॥

भक्तिमार्ग में तो "जगत् के कर्ता परमात्मा में स्थित होने वाले की मुक्ति होनी बतलायी गयी है अतः प्रकृति को जगत् का कारण नहीं माना जा सकता(ब्र०सू० १-१-७)" इस सूत्र द्वारा भगवदीय के लिये मोक्ष का फल प्राप्त होना कहा गया है। तथा भक्तिमीमांसा करने वाले शाण्डिल्यसूत्र में "तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात् (३)" यह कहा गया है। इस शाण्डिल्यसूत्र का अर्थ है - उस ईश्वर में जिसकी भक्ति है, उसे अमृत का फल प्राप्त होगा। अर्थात् "ब्रह्म में स्थित हुआ पुरुष अमृतत्व की प्राप्ति करता है"। यदि इस सूत्र का विचार करें तो ज्ञात होता है कि, भक्ति भगवत्प्राप्तिरूपी फल को देने वाली होती है। और, प्रवाहमार्ग एवं मर्यादामार्ग क्रमशः संसार में जन्म एवं स्वर्ग आदि की प्राप्ति होने जैसे फल देते हैं। अतः परम्परा से देखें तो प्रवाहमर्यादामार्ग तो भक्तिमार्ग के निमित्त मात्र हैं और भक्तिमार्ग में इनकी केवल एक साधारण भाग के रूप में गणना है, इसलिये इन्हें भक्ति का अंग नहीं माना जा सकता। अतः आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि - प्रवाहमर्यादामार्ग तो अंग हैं और भक्तिमार्ग इनका अंगी है, यों करके इन तीनों को एक ही मार्ग नहीं माना जा सकता। इसमें एक युक्ति यह भी है कि, यदि मर्यादामार्ग भक्तिमार्ग से अभिन्न होता अर्थात् ये दोनों एक ही होते, तो मर्यादामार्ग भी वही फल

---

१. निरोधरूपा ।

देता जो भक्तिमार्ग का फल है ! किन्तु मर्यादामार्ग/वैदिकमार्ग स्वर्ग आदि का फल देता है अतः भक्तिमार्ग से भिन्न है। और, प्रवाहमार्ग अलौकिकफल नहीं देता अतः आपश्री ने इसे भी भक्तिमार्ग का अंग नहीं कहा ॥ ६ ॥

पुष्टिमार्गस्य भेदज्ञानार्थं तत्रत्यानां वैलक्षण्यमाहुः ।

जीवदेहकृतीनां च भिन्नत्वं नित्यता श्रुतेः ।
यथा तद्वत्पुष्टिमार्गे द्वयोरपि निषेधतः ॥७॥

यथा श्रुतर्वेदस्य लौकिकवाक्यसमानत्वेन गृह्यमाणस्यापि नित्यता, 'स्वयंभूरेष भगवान् देवो गीतस्त्वया पुरा । शिवाद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मर्तारोऽस्य न कारकाः ।' 'वेदो नारायणः साक्षात् स्वयंभूरिति शुश्रुम' इत्यादिवाक्यैर्लौकिकवाक्यभिन्नत्वं च, तथा पुष्टिमार्गे 'जयति जननिवास' इत्यादिवाक्यैर्लीलास्थानां जीवदेहकृतीनां नित्यत्वं भिन्नत्वं चेत्यर्थः । अथवा । यथा श्रुतेः 'ते ते धामान्युश्मसि गमध्यै गाव' इति वेदात् लीलास्थानां जीवदेहकृतीनां नित्यता भिन्नत्वम्, तद्वत् पुष्टिमार्गेपि लीलान्तर्गतौ जीवदेहकृतीनां नित्यता भिन्नत्वं च भवतीत्यर्थः । द्वयोरपि निषेधत इति । 'स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिता'मितिवाक्येन भगवदनुग्रहानन्तरं प्रवाहमर्यादामार्गयोर्निषेधात् प्रवाहमर्यादामार्गस्थयोर्देहादीनां भिन्नत्वं नित्यता च न भवतीत्यर्थः ॥७॥

अब पुष्टिमार्ग का इन मार्गों से भेद बताने के लिये आचार्यचरण पुष्टिमार्गीयजीवों की विलक्षणता अग्रिम श्लोक में कह रहे हैं।

इस श्लोक में आपश्री आज्ञा करते हैं - जैसे श्रुति/वेद में ऐसे भी वाक्य प्राप्त होते हैं, जिससे हमें यों लगता है मानों वेद लौकिकवाक्यों को ही कह रहा है ; परन्तु फिर भी वेद की श्रुतियों को नित्य बताया जाता है, शाश्वत बताया जाता है। ठीक वैसे ही पुष्टिजीव भले ही लौकिकव्यवहार करते हुए दिखाई पड़ते हों, तथापि वे अलौकिक होते हैं।और, "यह वेद स्वयंभू है, भगवान है, देव है एवं आप-भगवान ने इसे पूर्व में गाया है। शिव इत्यादि देवताओं से लेकर ऋषि पर्यंत सभी वेद का स्मरण तो करते हैं परन्तु इसे बनाने वाले नहीं हैं"। एवं "वेद स्वयं नारायण है। वे स्वयंभू हैं(श्री०भा० ६-१-४०)" यह वाक्य ये प्रमाणित करते हैं कि, वेद के वाक्य लौकिकवाक्य नहीं है। उसी प्रकार पुष्टिमार्ग में "भगवान श्रीकृष्ण ही समस्त जीवों के आश्रयस्थान हैं (श्री०भा० १०-९०-४८)" इत्यादि वाक्यों के अनुसार लीला के जीव, उनकी देह एवं उनकी कृति इत्यादि नित्य है एवं अन्य मार्गों से भिन्न है-यह अर्थ है। अथवा यों अर्थ करें कि, जैसे तैतिरीयश्रुति में "ते ते धामानि" इत्यादि वाक्यों में लीलासृष्टि के जीवों की नित्यता एवं भिन्नता बता दी गयी है, उसी प्रकार पुष्टिमार्ग में भी लीलान्तर्गत जीव-देह-कृतियों की नित्यता है और अन्य जीवों से भिन्नता है- यह अर्थ है। अब हम द्वयोरपि निषेधतः इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं। इनका तात्पर्य यह है कि, "हृदय में बार-बार चिन्तन किये जाने पर भगवान जिस समय जिस जीव पर कृपा करते हैं, वह लौकिकव्यवहार एवं वैदिक कर्ममार्ग की बद्धमूल आस्था से छुट्टी पा जाता है(श्री०भा० ४-२९-४६)" इस वाक्य में भगवान का अनुग्रह होने के पश्चात् प्रवाहमार्ग एवं मर्यादामार्ग का निषेध कर दिया गया है अर्थात् यह कहा गया है कि भक्त प्रवाहमार्ग एवं मर्यादामार्ग की निष्ठता का त्याग कर देता है। इसलिये ज्ञात होता है कि, प्रवाहमार्गीय एवं मर्यादामार्गीय जीवों के देह आदि की भिन्नता है एवं नित्यता भी नहीं है ॥ ७ ॥

प्रमाणभेदाद्भिन्नो हि पुष्टिमार्गो निरूपितः ।

अतः कारणात् । पुष्टिमार्गे भगवाननुग्रहेण पुष्टिमार्गस्थं यथा ज्ञापयति, यथा प्रेरयति, तथा स प्रवर्तते । अतः पुष्टिमार्गे भगवान् प्रमाणम्, भगवदनुग्रहश्च । तस्मात् प्रमाणभेदादपि पुष्टिमार्गो भिन्न इत्यर्थः ॥७१/२॥

सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतम् ॥८॥

त्रयाणां सर्गभेदमाहुः । जीवदेहक्रियासहितं भिन्नं सर्गं प्रवक्ष्यामीत्यर्थः ॥८॥

उपर्युक्त कारणों से यह ज्ञात होता है कि, पुष्टिमार्ग में भगवान अपने अनुग्रह से पुष्टिमार्गीयजीव को जैसा बताते हैं या प्रेरणा देते हैं, वह उसी ओर मुड़ जाता है। अतः पुष्टिमार्ग में भगवान एवं उनका अनुग्रह ही प्रमाण है। इसलिये प्रमाणभेद की दृष्टि से भी पुष्टिमार्ग अन्य मार्गों से भिन्न है ॥ ७ १/२ ॥

इस श्लोक में आचार्यचरण इन तीनों मार्गों के सर्ग(सृष्टि) में क्या भेद है, यह कह रहे हैं। तात्पर्य यह कि आपश्री आगे इन तीनों मार्गों के जीव-देह-क्रिया के सहित इनके सर्ग की भिन्नता कह रहे हैं ॥ ८ ॥

इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरिः ।
वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चयः ॥९॥

त्रयाणां सर्गाणां भेदे किं निमित्तमित्याकाङ्क्षायामाहुः । इच्छामात्रेण सामान्येच्छया, मल्लादियुद्धवत् न तु स्वयं रन्तुम्, हरिः मनसा प्रवाहं सृष्टवान् ।'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेये'तिश्रुतेः वचसा वेदवाण्या वेदमार्गं सृष्टवान् । कायेन स्वरूपेण पुष्टिमार्गस्थान् सृष्टवान् । 'स वै नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्, स हैतावानासे'ति श्रुतेः । अत एव वाराहपुराणे 'भिन्नैव काचित् सा सृष्टिर्विधातुर्न्यतिरेकिणी'ति । अथवा । स्वयमाविर्भूय भक्तेः स्वसेवां कारयित्वा तन्मार्गं प्रकटितवानित्यर्थः ॥९॥

इस श्लोक में आपश्री यह बता रहे हैं कि, इन तीनों के सर्ग(सृष्टि) में भेद/अंतर होने में क्या कारण है। आपश्री कहते हैं इच्छामात्रेण अर्थात् हरि ने अपनी सामान्य इच्छा से मन के द्वारा प्रवाहसृष्टि की रचना की। सामान्य इच्छा का अर्थ यह है कि , जैसे कंस के यहाँ मल्लयुद्ध करने में भगवान की प्रसन्नतापूर्वक रमण करने की कोई इच्छा नहीं थी अपितु उन्होंने एक सामान्य कार्य की भाँति उसे किया , ठीक वैसे ही एक सामान्य इच्छा से भगवान ने प्रवाहसृष्टि की रचना की। और "उस परमात्मा ने कामना की कि मैं अनेक हो जाऊँ(तैति० २-६-१)" इस श्रुति के अनुसार भगवान ने वच्सा अर्थात् वेदवाणी से वेदमार्ग की सृष्टि की। कायेन अर्थात् भगवान ने अपने स्वरूप द्वारा पुष्टिजीवों की सृष्टि उत्पन्न की। जैसा कि, "अकेला रमण नहीं कर सकता अतः ब्रह्म ने दूसरे की इच्छा की और वह उतना ही बन गया, जितना आलिङ्गित स्त्री और पुरुष होते हैं(बृ० १-४-३)" इत्यादि श्रुतियों में कहा गया है। अतएव वाराहपुराण में "वह शुद्धपुष्टिमार्गीयसृष्टि विधाता की सृष्टि से कोई भिन्न/अलग सृष्टि है" यह कहा गया है। अथवा तो पुष्टि कायेन निश्चयः इत्यादि शब्दों का यों अर्थ करें कि, भगवान ने व्रज में स्वयं आविर्भूत होकर भक्तों द्वारा अपनी सेवा करवाने के लिये पुष्टिमार्ग को प्रकट किया ॥ ९ ॥

त्रयाणां मार्गाणां फलभेदादपि भेदमाहुः ।

मूलेच्छातः फलं लोके वेदोक्तं वैदिकेपि च ।
कायेन तु फलं पुष्टौ भिन्नेच्छातोऽपि नैकधा ॥१०॥

मूलं सृष्टिकारणं ब्रह्म, तस्य सर्गादौ अस्यानेनैवमेवं करिष्यामीतिच्छा, तत एव प्रवाहस्थानां फलमित्यर्थः । वैदिके कर्ममार्गे वेदोक्तं स्वर्गापवर्गरूपमपि फलं भवतीत्यर्थः । पुष्टौ पुष्टिमार्गे कायेन स्वरूपेण फलं भवतीत्यर्थः । तदुक्तं 'गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्य'दित्यादिना । पुष्टौ प्रवाहमर्यादाभ्यां भिन्नेच्छातोपि जातं फलं कौमारलीलादिरूपेणानेकविधं भवतीत्यर्थः ॥१०॥

अब आगे आचार्यचरण तीनों मार्गों का फल की दृष्टि से भी भेद बता रहे हैं।

मूलेच्छातः शब्द का अर्थ समझें। मूल का अर्थ है - सृष्टि का कारण "ब्रह्म"। उस ब्रह्म की विभिन्न सर्गों के अंतर्गत "इस जीव को मैं इस कारण से ऐसा फल दूँगा और इस जीव को ऐसा फल दूँगा" इस प्रकार की इच्छा का नाम मूलेच्छा है। तात्पर्य यह है कि, प्रवाहमार्गीयों को ब्रह्म की मूलेच्छा के अनुसार ही फल प्राप्त होता है। वैदिके अर्थात् कर्ममार्ग में। कर्ममार्ग के अंतर्गत वेद में बताया हुआ स्वर्ग-मोक्ष रूपी फल प्राप्त होता है। पुष्टौ अर्थात् पुष्टिमार्ग में कायेन अर्थात् भगवत्स्वरूप के द्वारा फल प्राप्त होता है। यही बात "सर्वशक्तिमान भगवान कभी-कभी गोपियों के फुसलाने से साधारण बालकों के समान नाचने लगते और सर्वथा उनके अधीन हो जाते (श्री०भा० १०- ११-७)" इत्यादि श्लोकों में कही गयी है। पुष्टि में भगवान अपनी जिस इच्छा से फल देते हैं, वह फल प्रवाहमार्गमर्यादामार्ग से तो खैर भिन्न होता ही है परन्तु फिर भी भगवान की बाल-पौगण्ड-कौमार्यलीला आदि रूप द्वारा प्राप्त होने वाला अनेक प्रकार का फल होता है ॥ १० ॥

'तानहं द्विषतो'वाक्याद्भिन्ना जीवाः प्रवाहिणः ।
अत एवेतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्षप्रवेशतः ॥११॥

"तानहं द्विषतः " इस वाक्यानुसार प्रवाहीजीव भिन्न होते हैं।
अतएव दूसरे पुष्टिमार्गीय एवं मर्यादामार्गीय जीव अन्तसहित एवं क्रमशः मोक्ष एवं
लीला में प्रवेश पाते होने के कारण प्रवाहीजीवों से भिन्न हैं ॥ ११ ॥

प्रमाणपूर्वकं प्रवाहस्थान् जीवान् भिन्नानाहुः । भूतसर्गे दैवजीवेषु भगवदनुगृहीता भक्तिमार्गीया भवन्ति, अन्ये दैवा एव कर्मिणः वेदोक्तफलभाजो भवन्ति । अवशिष्टा जीवाः 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चे'त्यारभ्य 'प्रद्विषन्तोभ्यसूयका'इत्यन्तेन निरूपितानां 'तानहं द्विषतः क्रूराः'नित्यारभ्य 'ततो यान्त्यधमां गति'मित्यन्तेनाधमगतिमत्त्वेन निरूपणात् प्रवाहस्था आसुराः पूर्वोक्तेभ्यो भिन्ना इत्यर्थः । अत एवेतरौ पुष्टिमार्गीयमर्यादामार्गीयजीवौ एभ्यो भिन्नौ । तत्र हेतुः । सान्तौ अन्तः फलपर्यवसानं तत्सहितौ, कुतः, मोक्षप्रवेशत इति । मर्यादामार्गीयस्य मोक्षात् पुष्टिमार्गीयस्य लीलाप्रवेशत इत्यर्थः ॥

---

१. तत्र ।

अब इस श्लोक में आचार्यचरण पुष्टि एवं मर्यादा से भिन्न प्रवाहीजीवों के विषय में प्रमाणपूर्वक कह रहे हैं। भूतसर्ग/प्राणियों की सृष्टि के अंतर्गत दैवीजीवों में भगवान द्वारा अनुग्रहीतजीव भक्तिमार्गीय होते हैं। अन्य जीव दैवी तो होते हैं परन्तु कर्म में निष्ठा रखते हैं, वो वेदोक्तफल को प्राप्त करने वाले होते हैं। इन दोनों विभागों से बचे हुए जीव, जिनके लिये "धर्म में प्रवृति एवं अधर्म से निवृत्ति को आसुरी नहीं जानते। उनमें न अन्तःकरण की शुद्धि न सदाचार और न ही सत्य ही होता है। (भ०गी० १६-७)" इस वाक्य से आरंभ करके "आसुरीजीव सच्चे धर्म की निन्दा करते हुए मुझ परमेश्वर से द्वेष करते हैं(भ०गी० १६-१८)" इस वाक्य तक कहा गया है, ऐसे जीवों के लिये "मुझसे द्वेष करने वाले दुराचारी एवं क्रूरकर्मी नराधमों को मैं निरन्तर आसुरी योनियों में ही गिराता हूँ(भ०गी १६-१९)" इस वाक्य से आरंभ करके "हे अर्जुन !आसुरी योनि को प्राप्त हुए मूढ़ मनुष्य जन्म-जन्म में मुझे प्राप्त न होकर और फिर उससे भी अधम गति में गिरते हैं(भ०गी० १६-२०)" इस वाक्य तक यह कहा गया है कि, ये अधमगति को प्राप्त होते हैं अतः प्रवाही/आसुरी जीव पूर्व में कहे पुष्टिजीव एवं मर्यादाजीवों से भिन्न हैं -यह अर्थ है। अत एवेतरौ अर्थात् अतः पुष्टिमार्गीयजीव एवं मर्यादामार्गीयजीव दोनों प्रवाहमार्गीयजीवों से भिन्न हैं, अलग हैं। क्यों भिन्न हैं ? तो इसका हेतु आपश्री सान्तौ शब्द से कह रहे हैं। सान्तौ का अर्थ है - अन्तसहित। अर्थात् पुष्टिमार्ग एवं मर्यादामार्ग फल तक ले जाने वाले मार्ग हैं। ये मार्ग कौन सी फलप्राप्ति कराते हैं ? तो आपश्री कहते हैं - मोक्षप्रवेशतः अर्थात् मर्यादामार्गीयजीवों को मोक्ष मिलने का फल मिलता होने के कारण एवं पुष्टिमार्गीयजीवों को लीलाप्रवेश का फल प्राप्त होता होने के कारण इन दोनों मार्गों को "सान्त (अन्तसहित)" कहा गया है। ११॥

तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः ।
भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत् ॥१२॥

अत्युत्कर्षादपि पुष्टिमार्गीयाणां भेदमाहुः । यस्मात् सर्वोत्कृष्टास्तस्मात् पुष्टिमार्गीयजीवास्तेभ्यो भिन्ना एवेत्यर्थः । विपक्षे बाधकं तर्कमाहुः भगवद्रूपसेवार्थमिति । यदि पुष्टिमार्गीयाः सर्वोत्कृष्टा न स्युः, तदा साक्षात्पुरुषोत्तमस्वरूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्न भवेत् ॥

आगे के श्लोक में आचार्यचरण अति उत्कृष्टता की दृष्टि से भी पुष्टिमार्गीयों का अन्य मार्गों की तुलना में भेद दिखा रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं - कारण कि पुष्टिमार्गीय सर्वोत्कृष्ट होते हैं अतः पुष्टिमार्गीयजीव दूसरे जीवों से भिन्न ही होते हैं। यदि कोई विपक्ष में यह कहे कि- नहीं, पुष्टिमार्गीयों को सर्वोत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता, तो आचार्यचरण भगवद्रूपसेवार्थं इत्यादि शब्दों द्वारा उसकी शंका को काटने वाला तर्क दे रहे हैं। तात्पर्य यह कि, यदि पुष्टिमार्गीय सर्वोत्कृष्ट न होते, तो साक्षात् पुरुषोत्तमस्वरूप की सेवा के लिये उनकी सृष्टि न बनायी गयी होती अतः वे सर्वोत्कृष्ट होते ही हैं॥

शुद्धपुष्टिमार्गीयाणां सेवार्थं सहकारियोग्यतामाहुः ।

स्वरूपेणावतारेण लिङ्गेन च गुणेन च ।
तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा न क्रियासु वा ॥१३॥

लीलासृष्टेर्भगवद्रूपत्वात् स्वरूपसाम्यम् । यथा भगवदवतारः प्रादुर्भावो न जीववज्जन्म, तथा मुख्यभक्तानामपीत्यवतारसाम्यम् । अलौकिकत्वज्ञापकस्य भगवता समं नृत्यादिसामर्थ्यस्य विद्यमानत्वात् चिह्नसाम्यम् । गुणाः सौन्दर्यादयस्तत्साम्यं स्पष्टमेव । तेन तासां क्रियासु स्वरूपे देहे वा न तारतम्यमित्यर्थः । भगवतो लीलान्तःपातिनां भक्तानां च स्वरूपादिभिस्तुल्यत्वम्, न तूत्कर्षापकर्षाविति श्लोकार्थः ॥१३॥

आगे के श्लोक में अब आपश्री यह बता रहे हैं कि शुद्धपुष्टिमार्गीय में वे कौन सी योग्यताएँ होती है, जो उन्हें भगवत्स्वरूपसेवा में सहकार करती है।

शुद्धपुष्टिमार्गीय लीलासृष्टि भगवद्रूप होने के कारण उसकी भगवत्स्वरूप से समानता है। जैसे भगवान के अवतार को प्रादुर्भाव कहा जाता है जीव की भांति जन्म होना नहीं, वैसे ही मुख्यभक्त अर्थात् शुद्धपुष्टिजीव का भी प्रादुर्भाव होता है अतः अवतार की दृष्टि से भी वे भगवान के समान ही होते हैं। अलौकिकता बताने वाले भगवान के संग नृत्य आदि कर सकने का सामर्थ्य इनमें विद्यमान होने के कारण उन चिन्हों की दृष्टि से भी ये भगवान के समान हैं। गुणाः अर्थात् सौंदर्य इत्यादि गुण : सौंदर्य की दृष्टि से इनकी भगवान से समानता होनी तो खैर स्पष्ट ही है। इसलिये ज्ञात होता है कि, इनकी क्रिया में, इनके स्वरूप में एवं इनकी देह में भगवान से कोई भी अंतर नहीं है- यह अर्थ है। श्लोक का अर्थ यह है कि - भगवान एवं उनके लीलान्तःपाती भक्तों की स्वरूप-देह-क्रिया इत्यादि समान ही हैं, न कोई किसी से अधिक है और न ही कोई किसी से कम॥ १३॥

तथापि भगवान् स्वार्थं तारतम्यं करोतीत्याहुः ।

तथापि यावता कार्यं तावत्तस्य करोति हि ।

स्वरूपादेस्तुल्यत्वेपि भगवान् स्वस्य कार्यं रमणं स्वस्य भक्तानां च यावता तारतम्येन सिध्यति, तावत्तारतम्यं प्रकटयति । हि युक्तोयमर्थः । उत्कर्षापकर्षवैचित्र्यैर्विना समग्ररमणासिद्धेः । अत एव बाललीलादयो युक्तरूपा भवन्तीति दिक् ॥१३१/२॥

तथापि भगवान अपने खुद के लिये, अपने एवं ऐसे लीलासृष्टि के भक्तों के बीच कुछ अंतर पैदा कर देते हैं- यह आचार्यचरण अग्रिम श्लोक में कह रहे हैं।

इस श्लोक में आपश्री समझाते हैं - स्वरूप-क्रिया इत्यादि दृष्टि से समान होने पर भी भगवान अपना कार्य करने के लिये अर्थात् रमण करने के लिये अपने एवं भक्तों के बीच उतनी ही मात्रा में अंतर पैदा कर देते हैं , जितने अंतर से रमण संपन्न हो सके। हि शब्द इस अर्थ की युक्तता बताने के लिये प्रयुक्त हुआ है। यदि रमण में कोई छोटा और कोई बड़ा न होगा, तो रमण संपूर्णरूप से संपन्न नहीं हो पायेगा। इसीलिये भगवान की बाल्लीलाओं का अर्थ भी ठीक ढंग से समझ में आ जाता है, क्योंकि बालल्लीला में तो भगवान चाहे कितने भी सामर्थ्यवान क्यों न हों, तथापि उन्हें बँधना भी होता है, निःसहाय भी होना पड़ता है; अतः कभी भगवान को छोटा भी बनना पड़ता है ॥ १३ १/२॥

किसी को यह शंका होती हो कि, भगवान तो सर्वसामर्थ्यवान हैं फिर वे कैसे बँध गये इत्यादि इत्यादि। तो समझिए कि कहने का अर्थ यह है कि भगवान को रमण करना है और रमण करने के लिये कभी कोई छोटा तो कभी कोई बड़ा होगा तभी रमण हो पायेगा- यह अर्थ है ॥ १३ १/२॥

एवं विशेषलीलायास्साधनानि प्रकारं चोक्त्वा सामान्यलीलायाः साधनानि प्रकारं चाहुः ते हीत्यारभ्य, भवेदित्यन्तेन ।

ते हि द्विधा शुद्धमिश्रभेदान्मिश्राश्चिधा पुनः ॥१४॥
प्रवाहादिविभेदेन भगवत्कार्यसिद्धये ।
पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः ॥१५॥
मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णातिदुर्लभाः ।
एवं सर्गस्तु तेषां हि फलमत्र निरूप्यते ॥१६॥
भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद्भुवि ।
गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत् ॥१७॥

ते पूर्वोक्ताः त्रयोपि मार्गाः द्विधा द्विप्रकाराः शुद्धमिश्रभेदात् । अन्यमार्गधर्मसंवलिता मिश्राः, तदसंवलिताः शुद्धाः । मिश्रा अपि परस्परं त्रयाणां मिश्रणेन प्रत्येकं त्रिप्रकाराः । एवं भेदानां प्रयोजनमाहुः भगवत्कार्यसिद्धय इति । 'क्रीडाभाण्डमिदं विश्व'मित्यादिवाक्यैः विश्वस्य क्रीडार्थत्वात् । पुष्ट्यादीनां त्रयाणां स्वतः परतः मिश्रणे ज्ञापकान् धर्मानाहुः पुष्ट्या...दुर्लभाः । पूर्वं सामान्यतोनुगृहीता विशेषानुग्रहं प्राप्ताः पुष्ट्या विमिश्राः । ते भगवदभिप्रायादिसर्वज्ञातारो भवन्ति, नारदादय इव, सर्वज्ञत्वमेव तेषां लक्षणम् । पुष्टिस्थाः मर्यादामिश्रिताः भगवद्धर्मज्ञातारो भवन्ति, कविप्रभृतयो नवयोगेश्वरा इव । पुष्टिस्थाः प्रवाहमिश्रिताः यत्किञ्चिद्भगवद्धर्मं ज्ञात्वा तीर्थाद्यटनपरा भवन्ति । प्रवाहस्था पुष्टिमिश्रिताः भगवद्भजनानुकूलक्रियानुसारिणो भवन्ति । प्रवाहस्था मर्यादामिश्रिताः सत्कर्मकर्तारो भवन्ति । प्रवाहस्थाः प्रवाहमिश्रिताः केवलं लौकिकक्रियारता भवन्ति । त एव आसुराः । मर्यादामार्गीया पुष्टिमिश्रिताः माहात्म्यज्ञानात् भगवत्प्रीत्यर्थं कर्मकर्तारो भवन्ति । मर्यादामार्गीयाः मर्यादामिश्रिताः स्वर्गाद्यर्थं कर्मकर्तारो भवन्ति । मर्यादामार्गीयाः प्रवाहमिश्रिताः लौकिकार्थं कर्मकर्तारो भवन्ति ।

तो, उपर्युक्त प्रकार से भगवान की विशेषलीला(अर्थात् भगवान का रमण) संपन्न होने के लिये साधन(साधन अर्थात् जीवों को अपने जैसा बनाना, जैसा कि १३ वें श्लोक में बताया गया) एवं उसका प्रकार (प्रकार अर्थात् रमण करने का प्रकार या ढंग ; और वह प्रकार है- भगवान का अपने एवं जीवों में कुछ अंतर पैदा कर देना। जैसा कि १३ १/२वीं कारिका में बताया गया)कह कर ..... अब आचार्यचरण आगे के श्लोक में भगवान की सामान्यलीला के साधन एवं प्रकार कह रहे हैं। इसे आपश्री ते हि से आरंभ करके भवेत् तक के शब्दों द्वारा कह रहे हैं।

ते अर्थात् पूर्व में कहे गये तीनों मार्ग "शुद्धमार्ग" एवं "मिश्रमार्ग" यों दो प्रकार के होते हैं। देखें तालिका :

पुष्टिमार्ग		प्रवाहमार्ग		मर्यादामार्ग	
शुद्धपुष्टिमार्ग	मिश्रपुष्टिमार्ग	शुद्धप्रवाहमार्ग	मिश्रप्रवाहमार्ग	शुद्धमर्यादामार्ग	मिश्रमर्यादामार्ग

जो मार्ग अन्य मार्गों के धर्मों से मिल जाते हैं , वह मिश्रमार्ग कहलाते हैं। और जो अन्य मार्गों से मिलते नहीं, वे शुद्धमार्ग कहलाते हैं। अब प्रत्येक मिश्रमार्ग भी परस्पर तीनों मार्गों से मिलकर पुनः तीन प्रकार के होते हैं। "भगवत्स्वरूपातिरिक्तफलाकांक्षारहितत्वं पुष्टित्वं" अर्थात् भगवत्स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी भी फल की आकांक्षा न रखनी पुष्टिमार्ग या पुष्टिजीव का मूल सैद्धान्तिक लक्षण है। अर्थात् ऐसा जीव जो केवल भगवत्स्वरूप में ही आसक्ति रखता है और इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी फल की आकांक्षा नहीं रखता, शुद्धपुष्टिजीव कहलाता है। इसमें अन्य किसी भी प्रकार के लक्षणों की मिलावट नहीं है। अब ध्यान दें कि, प्रभु विभिन्न जीवों के संग विभिन्न क्रीड़ा और विभिन्न प्रकार के रमण करने की इच्छा से और विभिन्न प्रकार का आनन्द लेने के लिये पुष्टिजीवों की अन्यान्य कोटियां बना देते हैं। उपर्युक्त "भगवत्स्वरूपातिरिक्तफलाकांक्षारहितत्वं पुष्टित्वं" वाला शुद्धपुष्टि का लक्षण तो समस्त पुष्टिजीवों के संग घटित होगा परन्तु (१) जब किसी पुष्टिजीव में उपर्युक्त लक्षण के अतिरिक्त, भगवान की इच्छानुसार ही, भगवत्स्वरूप को भी जानने की जिज्ञासा होती हो और वो इसके लिये प्रयत्नशील रहता हो, तो ऐसे जीव को "पुष्टिपुष्टिजीव" कहा जायेगा। (२) ठीक इसी प्रकार जिन पुष्टिजीवों में भगवत्स्वरूपासक्ति के अतिरिक्त, भगवान की इच्छानुसार ही, भगवत्स्वरूप की सेवा-उपासना-भक्ति इत्यादि करने की भी प्रवृत्तियां पायी जायें, ऐसा जीव "प्रवाहपुष्टिजीव" कहलाता है। कारण कि, भगवान की इच्छा इन जीवों के प्रति ऐसी है कि, ये नारदपञ्चरात्र में कहे वैष्णवधर्मों का पालन करें और भगवत्स्वरूपसेवा करें। (३) ठीक इसी प्रकार जिन पुष्टिजीवों में भगवत्स्वरूपासक्ति के अतिरिक्त, भगवान की ही इच्छानुसार, भगवान के गुण-माहात्म्य को भी जानने की और भगवद्गुणगान करने की उत्कंठा रहती है, ऐसे जीव "मर्यादापुष्टिजीव" कहलाते हैं। कारण कि, भगवान की इच्छा इन जीवों के प्रति ऐसी है कि, ये उनके ऐश्वर्य एवं सृष्टिनिर्माण करने जैसे गुण-माहात्म्य को जाने और मेरे गुणगान करें अतः ये मर्यादापुष्टिजीव भगवान का गुणगान करने में में तत्पर रहते हैं।

किन्तु, इन तीनों प्रकार से अलग जो जीव केवल और केवल प्रकट भगवत्स्वरूप की ही आकांक्षा रखते हों और इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी फल की आकांक्षा न रखते हों, शुद्धपुष्टिजीव कहलाते हैं। ऐसे शुद्धपुष्टिजीवों की भक्ति को ही हमारे संप्रदाय में प्रेमलक्षणाभक्ति कहते हैं, जैसे कि व्रजगोपिकाएं।

अतः सरलता से समझने के लिये यों समझें कि, जैसे मिश्रपुष्टि के अंतर्गत तीन प्रकार के मार्ग आयेंगे, वे हैं - पुष्टिपुष्टि, मर्यादापुष्टि एवं प्रवाहपुष्टि। इसी प्रकार मिश्रप्रवाह के अंतर्गत भी तीन मार्ग हो जायेंगे, वे हैं - प्रवाहप्रवाह, मर्यादाप्रवाह, पुष्टिप्रवाह। इसी प्रकार मिश्रमर्यादा के अंतर्गत भी तीन मार्ग हो जायेंगे , वे हैं - मर्यादामर्यादा, पुष्टिमर्यादा, प्रवाहमर्यादा। यहाँ समझने की बात यह है कि, मिश्रपुष्टि के अंतर्गत आनेवाली मर्यादापुष्टि का अर्थ है वह पुष्टि जिसमें मर्यादा का अंश है। सरलता के लिये सामान्यरूप से यह समझ लें कि, इसमें जिस पुष्टि में मर्यादा मिली हो उसे मर्यादापुष्टि कहेंगे ; यानि पुष्टि का अंश ७० प्रतिशत और मर्यादा का अंश ३० प्रतिशत। ठीक इसी प्रकार जिस पुष्टि में प्रवाह मिला हो, उसे प्रवाहपुष्टि कहेंगे यानि ७० प्रतिशत तो पुष्टि परन्तु ३० प्रतिशत प्रवाह का अंश है। इसी प्रकार जिस शुद्धपुष्टि में मिश्रपुष्टि मिली हो, उसे पुष्टिपुष्टि कहेंगे यानि ७० प्रतिशत शुद्धपुष्टि एवं ३० प्रतिशत मिश्रपुष्टि। शुद्धपुष्टि उसे कहेंगे जिसमें अन्य किसी भी मार्ग के लक्षणों की मिलावट न हो। इसी प्रकार प्रवाह एवं मर्यादा के भी विभिन्न भेद समझ लेने चाहिए। देखें तालिका।

मिश्रपुष्टि			मिश्रमर्यादा			मिश्रप्रवाह		
पुष्टिपुष्टि	प्रवाहपुष्टि	मर्यादापुष्टि	मर्यादामर्यादा	पुष्टिमर्यादा	प्रवाहमर्यादा	प्रवाहप्रवाह	पुष्टिप्रवाह	मर्यादाप्रवाह

आखिरकार भगवान इन मार्गों के इतने भेद क्यों करते हैं ? इसका उत्तर आपश्री भगवत्कार्यसिद्धये इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। भगवत्कार्यसिद्धये का अर्थ है - भगवान क्रीड़ा करने के लिये ऐसा करते हैं। श्रीभागवत के 'हे भगवन् ! यह संपूर्ण विश्व आपके खेल की सामग्री है(श्री०भा० ४-७-४३)" इस वाक्यानुसार भगवान ने आखिर क्रीड़ा करने के लिये ही तो यह विश्व बनाया है। जब पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा तीनों में से प्रत्येक मार्ग का स्वयं अपने ही मार्ग से मिश्रण एवं दूसरे मार्गों से मिश्रण होता है, तब उन मिश्रमार्गों की पहचान बताने वाले कौन-कौन से धर्म हैं , यह आपश्री पुष्ट्या.....दुर्लभाः इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। अध्येता ध्यान दें कि यहाँ से अब मिश्रपुष्टिजीवों की चर्चा आरंभ हो रही है। इनमें से सबसे पहले आपश्री मिश्रपुष्टि के भेदों को कह रहे हैं। (१) पुष्टिपुष्टि= पूर्व में भगवान का सामान्य अनुग्रह प्राप्त करके पश्चात् विशेष अनुग्रह प्राप्त करने वाले पुष्टि-विमिश्र होते हैं । अर्थात् पुष्टि से मिश्रित पुष्टिजीव होते हैं। ये भगवान के अभिप्राय आदि सभी को जाननेवाले होते हैं, जैसे कि नारदजी। इनकी सर्वज्ञता ही इन्हें जानने का

लक्षण है। (२) मर्यादापुष्टि= और, जो पुष्टि में मर्यादा से मिश्रित जीव होते हैं, वे भगवद्धर्मो को जानने वाले होते हैं, जैसे कवि आदि नव योगेश्वर। (३) प्रवाहपुष्टि= और, जो पुष्टि में प्रवाह से मिश्रित जीव होते हैं, वे थोड़ा-बहुत भगवद्धर्म के विषय में जानकर तीर्थाटन इत्यादि किया करते हैं। अध्येता ध्यान दें कि यहां से अब मिश्रप्रवाहीजीवों की चर्चा आरंभ हो रही है। (१) पुष्टिप्रवाह= और, वे प्रवाहीजीव जो कि पुष्टि से मिश्रित होते हैं, वे भगवद्भजन के अनुकूल किया का अनुसरण करने वाले होते हैं। (२) मर्यादाप्रवाह= और, वे प्रवाहीजीव जो मर्यादा से मिश्र होते हैं, वे सत्कर्म करने वाले होते हैं। (३) प्रवाहप्रवाह= और, वो प्रवाहीजीव जो कि प्रवाह से मिश्रित होते हैं, वे केवल लौकिककिया करने वाले होते हैं; ये ही आसुरीजीव हैं। अध्येता ध्यान दें कि यहां से अब मिश्रमर्यादाजीवों की चर्चा आरंभ हो रही है। (१) पुष्टिमर्यादा= वे मर्यादामार्गीयजीव जो कि पुष्टि से मिश्रित होते हैं, वे भगवान के माहात्म्य को जानने वाले होते हैं अतः भगवान को प्रिय लगे वैसे कर्म करने वाले होते हैं। (२) मर्यादामर्यादा= वो मर्यादामार्गीय जो कि मर्यादा से मिश्रित होते हैं, वे स्वर्ग इत्यादि प्राप्त करने के लिये कर्म करने वाले होते हैं। (३) प्रवाहमर्यादा= वो मर्यादामार्गीयजीव जो प्रवाह से मिश्रित होते हैं, वे लौकिकफल प्राप्त करने के लिये कर्म करने वाले होते हैं।

प्रेम्णा स्नेहेन शुद्धाः प्रेमविषयातिरिक्तस्फूर्तिरहिताः ते शुद्धपुष्टिस्थाः । तेऽतिदुर्लभा इत्यर्थः । भगवत्कार्यसिद्धये एवं प्रकारेण तेषां सर्गो निरूपितः । हि युक्तोयमर्थः । वैचित्र्यं विना रमणासिद्धेः । तेषां फलमत्र निरूप्यते । तेषां फलमाहुः भगवानेवेति । धर्मधर्मिणोरभेदात् सर्वेषां धर्मधर्मिरूपेण भगवानेव फलं स यथा भुवि भक्तानां गृहादौ हृदये च यथा प्रकटो भवेत् गुणस्वरूपभेदेन, भक्तानां वा गुणस्वरूपभेदेन स्वरूपैकनिष्ठानां पुष्टिमार्गीयाणां स्वरूपेण आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपेण प्रकटो भूत्वा फलं ददाति, धर्मज्ञानादिपरेषु धर्मादिरूपेण स्थित्वा यथा फलं ददाति, तथा तत्तत्फलं तेषां भवतीत्यर्थः । यद्वा । भगवानिति । गुणा ऐश्वर्यादयो धर्माः, स्वरूपं धर्मि । भगवानैश्वर्यादिषड्गुणयुक्तो यस्य भक्तस्यान्तःकरणे यथा येन भावेन प्रकटो भवति तत्प्रियं कर्तुं स्वरूपमेव तस्य फलमित्यर्थः । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैवे'ति प्रतिज्ञानात् ॥१७॥

अध्येता ध्यान दें कि आगे के वाक्य में शुद्धपुष्टि के लक्षण कहे हैं । और, प्रेम्णा अर्थात् भगवान से स्नेह करने के कारण शुद्धजीव अर्थात् भगवान के अतिरिक्त जिन्हें अन्य किसी भी वस्तु की स्फूर्ति नहीं रहती, ऐसे जीव शुद्धपुष्टिमार्गीय होते हैं। ये बड़े दुर्लभ होते हैं- यह अर्थ है। भगवत्कार्य सिद्ध करने के लिये भगवान ने उपर्युक्त प्रकार से इन सभी जीवों के सर्ग का निरूपण किया है। हि शब्द इस अर्थ की युक्तता बताने के लिये प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि जब तक अलग-अलग प्रकार की चित्र-विचित्र सृष्टि नहीं होगी, तब तक भगवान का रमण करना संभव नहीं होगा। अब आगे उपर्युक्त जीवों को मिलने वाले फल का निरूपण किया जाता है। इनको मिलने वाले फल के विषय में आपश्री भगवानेव इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। धर्म और धर्मि में कोई अंतर नहीं होता अतः ऊपर कहे सभी प्रकार के जीवों के लिये धर्म और धर्मिस्वरूप से कुल मिलाकर भगवान ही फल होते हैं। भगवान भूमि पर अथवा तो भक्त के हृदय में अपने जिस गुण-स्वरूप के भेद से प्रकट होते हैं, उसे वैसा ही फल देते हैं। अथवा तो यों अर्थ करें कि भक्त के गुण-स्वरूप को ध्यान में रखते हुए भगवान उसके लिये प्रकट होते हैं। केवल भगवान के स्वरूप में निष्ठ रहने वाले शुद्धपुष्टिमार्गीयजीवों को भगवान अपने आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि स्वरूप से प्रकट होकर फल देते हैं। और जो धर्म-ज्ञान इत्यादि में निष्ठ होते हैं, उन्हें भगवान धर्म-ज्ञान इत्यादि के स्वरूप से प्रकट होकर फल देते हैं, उन जीवों के लिये वही फल प्राप्त होता है- यह अर्थ है। अथवा भगवानेव हि इस श्लोक की व्याख्या ऐसे करें कि गुणों का अर्थ है- भगवान के ऐश्वर्य आदि गुण। स्वरूप का अर्थ है- धर्मिस्वरूप भगवान। तात्पर्य यह हुआ कि ऐश्वर्यादि छह गुणों से युक्त भगवान जिस भक्त के अन्तःकरण में जैसे और जिस भाव से प्रकट होते हैं, उस भक्त को प्रिय लगे वैसा कार्य करनेवाला भगवान का स्वरूप ही उसके लिये फल होता है- यह अर्थ है। क्योंकि "जो जिस भाव से मेरी शरण होते हैं, उसी के अनुरूप मैं उन्हें फल देता हूँ(भ०गी ४-११)" इस वाक्यानुसार भगवान ने ऐसी ही प्रतिज्ञा की है॥ १७॥

प्रमेयप्रमाणलीले तयोः प्रकारांश्चाभिधाय भक्तिमार्गविरोधं परिहर्तुं आसक्तावित्यारभ्य सार्धश्लोकत्रयेण समादधते ।

आसक्तौ भगवानेव शापं दापयति क्वचित् ।
अहङ्कारेऽथवा लोके तन्मार्गस्थापनाय हि ॥१८॥
न ते पाषण्डतां यान्ति न च रोगाद्युपद्रवः ।
महानुभावाः प्रायेण शास्त्रं शुद्धत्वहेतवे ॥१९॥
भगवत्तारतम्येन तारतम्यं भजन्ति हि ।
वैदिकत्वं लौकिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथा ॥२०॥
वैष्णवत्वं हि सहजं ततोऽन्यत्र विपर्ययः ।

ननु भक्तिमार्गीयाणां कथमन्येन (शापेन) पराभव इत्याकाङ्क्षायामाहुः भगवानेवेति । पुष्टिस्थस्य लोके लौकिके आसक्तौ सत्यां अथवा अहंकारे जाते अनयोः भजनेन्तरायरूपत्वात् भगवानेव अन्येन शापं दापयति क्वचिदेव । यथा चित्रकेतौ । क्वचित् स्वसामर्थ्यादिज्ञापनेनाहंकारादिकमेव दूरीकरोति । यथार्जुनादेर्ब्राह्मणपुत्रानयनादौ । भक्तिमार्गस्थापनाय । हि यस्मात् अन्यथान्येपि बहिर्मुखाः स्युः । एवं भगवता स्वेषां शिक्षार्थं दण्डे कृते दण्डभयात् ते भक्तिमार्गीयाः पाषण्डतां न यान्ति लोकवेदभक्तिमार्गविरुद्धाचरणं न कुर्वन्ति । विरुद्धाचरणाभावात् तेषां रोगाद्युपद्रवो न भवति । तर्हि भक्ता अपि साधारणजनतुल्या एव किमित्याकाङ्क्षायामाहुः । ते भक्तिमार्गीया महानुभावाः प्रह्लादाम्बरीषादय इव , यदि ते शुद्धाः स्युः । शुद्धत्वं नाम भक्तिमार्गविरुद्धधर्मराहित्येन कायवाङ्मनोभिस्तत्परत्वम् । तेषां शुद्धत्वप्रयोजकं शास्त्रम् । तच्छास्त्रं 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते । आज्ञोच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोपि न मे प्रियः'। 'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः । तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।' 'मन्मना भवे'त्यादिभगवद्वाक्यम् । तदुक्तं ये कुर्वन्ति, ते शुद्धत्वात् महानुभावा भवन्तीत्यभिप्रायेणोक्तं प्रायेणेति । तत्र हेतुः । भगवदिति । 'ये भजन्ति तु मां भक्त्ये'ति वाक्यात् भक्त्या भजनेन यथा यथा षड्गुणयुक्तो भगवान् तेषां हृदये प्रविष्ट ऐश्वर्यादीन् प्रकटयति, तथा तथा तारतम्यं भजन्ति उत्कृष्टा भवन्तीत्यर्थः । लौकिकेषु इदानीं प्रसिद्धेषु (महेता)नरसिंहाख्यादिष्वपि प्रसिद्धिबोधको हिशब्दः ।

भगवान की प्रमेयलीला(पुष्टिलीला) एवं प्रमाणलीला(मर्यादालीला) को कहकर और इन दोनों का प्रकार भी कह कर अब आचार्यचरण आगे आसक्तौ से लेकर साढ़े तीन श्लोकों द्वारा भक्तिमार्ग में दिखाई देने वाले कुछ विरोधों का परिहार कर रहे हैं।

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, एक भक्तिमार्गीय का कोई अन्य व्यक्ति कैसे अनिष्ट कर सकता है ? तो इसका उत्तर आपश्री भगवानेवेति इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि, जब भगवान एक पुष्टिजीव को लोक या लौकिक में आसक्त होते हुए देखते हैं अथवा तो अहंकार करता देखते हैं , तो इन दोनों दोषों के कारण उसके भगवद्भजन में विघ्न आता है और इस कारण उसे इन दोषों से दूर करने के लिये भगवान ही उसे किसी अन्य व्यक्ति से कभी शाप दिलवा देते हैं, ताकि आगे वो ऐसा अपराध न करे। जैसे कि चित्रकेतु को शाप मिला था। देखें श्रीभागवत-वृत्रासुर का पूर्वचरित्र-छठा स्कंध। क्वचित् अर्थात् कभी-कभार। इसका अर्थ यह है कि, भगवान शाप तो कभी-कभार ही दिलवाते हैं , अधिकतर तो वे उसे अपनी सामर्थ्य बता कर केवल उसके अहंकार को ही दूर करते हैं अर्थात् उसका अनिष्ट नहीं करते। जैसे कि ब्राह्मणपुत्रों को लाने के संदर्भ में भगवान ने अर्जुन का अहंकार दूर किया था। देखें श्रीभागवत-१०-८९-२२ से ६१। भगवान ऐसा भक्तिमार्ग का स्थापन करने के लिये करते हैं। और भगवान इसलिये भी ऐसा करते हैं ताकि अन्य दूसरे भी बहिर्मुख न बनें। इस प्रकार से भगवान जब अपने निजजनों को शिक्षा देने के लिये दंड देते हैं, तो फिर उस दंड के भय से वे भक्तिमार्गीयजीव पुनः पाषण्डतां न यान्ति अर्थात् दंड के भय से वे फिर भक्तिमार्ग से विरुद्ध आचरण नहीं करते। और विरुद्ध आचरण न करने के कारण फिर उन पर रोग इत्यादि का उपद्रव भी नहीं होता। परन्तु तब शंका यह होती है कि, भक्तिमार्गीयों को भी इस प्रकार से शाप मिलता हो, तो वे भी अन्य साधारणजीवों के ही समान हो गये !! तो इसके प्रत्युत्तर में आचार्यचरण आज्ञा करते हैं- भक्तिमार्गीय साधारणजीव नहीं होते क्योंकि वे शाप मिलने के पश्चात् भी महानुभाव ही बने रहते हैं, प्रह्लाद एवं राजा अंबरीश की भाँति, यदि वे शुद्धभक्तिमार्गीय हैं तो। शुद्ध होने का अर्थ है - भक्तिमार्ग से विरुद्धधर्मों से रहित होकर काया-वाणी-मन द्वारा भगवान में तत्पर रहना। ये भक्तिमार्गीय शुद्ध क्यों बने रहते है ? तो आचार्यचरण कहते हैं - इनकी शुद्धता का प्रयोजक शास्त्र है। शास्त्र का अर्थ है "श्रुतिस्मृति में कही बात मेरी ही आज्ञा है। और जो श्रुतिस्मृति का उल्लंघन करता है, वह भले ही मेरा भक्त हो, फिर भी मुझे प्रिय नहीं है" , "अनन्य मन से जो नित्य मेरा स्मरण करता है, उसके लिये मैं सुलभ हूँ क्योंकि वह नित्य मेरे भक्तियोग में परायण रहता है(भ०गी० ८-१४)" , "मन से अनन्यभाव से मेरा चिन्तन कर, मेरा भक्त बन, मेरा ही पूजन कर और अतिशय प्रेमसहित मुझको प्रणाम कर। इस तरह तू मुझको ही मुझको ही प्राप्त होगा(भ०गी० ९-३४)" इत्यादि भगवान के वाक्य। इन वाक्यों में भगवान ने जो कहा है , वे उन वाक्यों का पालन करते हैं अतः वे शुद्ध बने रहते है और महानुभाव बने रहते है। इसी अभिप्राय से आपश्री ने इनके लिये प्रायेण शब्द का प्रयोग किया है ; फलितार्थ यह कि प्रायः ये महानुभाव ही होते हैं। "जो मुझे भक्ति से भजते हैं, वे मुझमें है और मैं उनमें(भ०गी ९-२९)" इस वाक्यानुसार भक्तिपूर्वक भजन करते रहने से षड्गुणसंपन्न भगवान जैसे-जैसे उनके हृदय में प्रविष्ट होकर अपने ऐश्वर्य आदि धर्मों को प्रकट करते हैं , वैसे-वैसे उनके भजन में तारतम्य(अंतर) आता चला जाता है अर्थात् वे उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर बनते चले जाते हैं- यह अर्थ है। इस समय लौकिक में नरसी मेहता आदि की कथाओं में यह बात प्रसिद्ध है- यह बताने के लिये हि शब्द का प्रयोग है।

ननु एतादृशानां भगवद्भक्त्यैव सर्वसिद्धौ वेदोक्तकर्मकरणं लौकिककरणं च किमर्थमित्याकाङ्क्षायामाहुः । उत्कृष्टानां भगवद्भक्तानां वेदोक्तकर्मकरणं लौकिकव्यवहारकरणं च 'सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत । कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रह'मिति भगवद्वाक्यात् लोकसङ्ग्रहार्थमेव वेदोक्तकर्माणि लौकिकव्यवहारं च कापट्यं विधाय स्वस्य बहिः कर्मासक्तिं दर्शयित्वा कुर्वन्ति, नान्यथेत्यर्थः । तर्हि तेषां मुख्यः कर्तव्यो धर्मः क इत्याकाङ्क्षायामाहुः वैष्णवत्वं भक्तिमार्गीयदीक्षापूर्वकं भगवद्भजनं सहजं आदरेण कर्तव्यो मुख्यो धर्मः । ततोन्यत्र अन्यथर्मेषु एतद्विपर्यय इत्यर्थः । हि युक्तोयमर्थः । यो यस्य दासः तस्य तद्भजनमेव मुख्यो धर्म इति ॥२०॥

किन्तु शंका यह होती है कि ऐसे उत्कृष्ट भक्तों के तो केवल भगवद्भक्ति से ही समस्त कार्य सिद्ध हो जाते हैं , फिर वे व्यर्थ में वेदोक्त एवं लौकिककर्म क्यों किया करते हैं ? इस शंका का समाधान करते हुए आपश्री आज्ञा करते हैं- ऐसे उत्कृष्ट भगवद्भक्तों का वेदोक्तकर्म करने एवं लौकिकव्यवहार इत्यादि करना तो केवल लोक को दिखाने के लिये होता है । जैसा कि "जिस प्रकार फल में आसक्त अज्ञानी कर्म करते हैं, वैसे ज्ञानी को भी अनासक्तभाव से लोकशिक्षा के लिये कर्म करने चाहिए (भ०गी० ३-२५)" इस वाक्य में भगवान ने कहा भी है । अतः केवल लोक को दिखाने के लिये ही वे वेदोक्तकर्म एवं लौकिकव्यवहार को केवल बाहरी लोगों को कर्म में अपनी आसक्ति दिखलाते हुए करते हैं, इसके अतिरिक्त अन्य किसी लाभ के लिये वे ऐसा नहीं करते -यह अर्थ है । तो फिर उनका मुख्य कर्तव्य या धर्म क्या होता है ? यह प्रश्न होने पर आपश्री आज्ञा करते हैं - उनमें वैष्णवत्व होता है अर्थात् वे भक्तिमार्गीयदीक्षा लेकर सहजरूप से, आदरपूर्वक भगवद्भजन करते हैं और यही उनका मुख्य धर्म होता है । ततोऽन्यत्र अर्थात् अन्य दूसरे धर्मों में वे इसका उलटा(विपर्यय) करते हैं अर्थात् अन्य धर्मों में वे निष्ठा नहीं रखते । इस अर्थ की युक्तता बताने के लिये हि शब्द का प्रयोग है । यह तो स्पष्ट ही है कि, जो जिसका दास होगा, उसी का भजन करना उसका मुख्यधर्म होगा ॥ २० ॥

भक्तिमार्गीयाणां व्यवस्थामुक्त्वा तत्सम्बन्धिनां उदासीनानामन्येषां च व्यवस्थामाहुः सम्बन्धिनस्त्विति श्लोकद्वयेन ।

सम्बन्धिनस्तु ये जीवाः प्रवाहस्थास्तथापरे ॥२१॥
चर्षणीशब्दवाच्यास्ते ते सर्वे सर्ववर्त्मसु ।
क्षणात् सर्वत्वमायान्ति रुचिस्तेषां न कुत्रचित् ॥२२॥
तेषां क्रियानुसारेण सर्वत्र सकलं फलम् ।

भक्तिमार्गीयसम्बन्धिनो ये तु अदीक्षिताः, तथा भक्तिमार्गीयासम्बन्धिनः प्रवाहस्था ये च अदीक्षिताः, ते चर्षणीशब्दवाच्याः सर्वमार्गेषु परिभ्रमणशीलत्वात् ते सर्ववर्त्मसु सर्वेषु मार्गेषु क्षणात् अल्पकालादेव तन्मार्गीयसङ्गं प्राप्य तन्मार्गधर्माचरणात् तन्मार्गीयसदृशा भवन्ति, न तु तेषां कुत्रापि रुचिः स्नेहोऽस्ति । तेषां तत्तन्मार्गीयक्रियानुरूपं कामितं फलं भवतीत्यर्थः ॥२०॥

भक्तिमार्गीयों की व्यवस्था कह कर अब आगे आचार्यचरण भक्तिमार्गीयों से संबंधित जीवों की, भक्तिमार्ग से उदासीन जीवों की एवं अन्य जीवों की व्यवस्था सम्बन्धिनस्तु इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं ।

भक्तिमार्गीयों से संबंधित वे लोग जो किसी भी भक्तिमार्ग में दीक्षित नहीं होते , और जो प्रवाहीजीव होते हैं एवं दीक्षित नहीं होते और भक्तिमार्गीय से संबंधित नहीं होते, वे चर्षणी कहे जाते हैं । ये चर्षणी समस्त मार्गों में परिभ्रमण करते रहते हैं और इस प्रकार सर्वत्र भटकते रहने के कारण सभी मार्गों में कुछ समय के लिये ही उन-उन मार्गों के जीवों का संग पाकर, उन मार्गों के धर्मों का आचरण करते रहते हैं और उन मार्गों के अनुयायी की भाँति ही बन जाते हैं । किन्तु वास्तव में इनकी रुचि या स्नेह कहीं भी नहीं होता । ऐसों को उन-उन मार्गों के क्रिया के अनुरूप कामितफल की प्राप्ति होती है ॥ २२ ॥

लक्षणप्रमाणाभ्यामासुरान् जीवानाहुः प्रवाहस्थानित्यारभ्य श्लोकद्वयेन ।

प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतान् ॥२३॥
जीवास्ते ह्यासुराः सर्वे 'प्रवृत्तिं चे'ति वर्णिताः ।
ते च द्विधा प्रकीर्त्यन्ते ह्यज्ञदुर्ज्ञविभेदतः ॥२४॥
दुर्ज्ञास्ते भगवत्प्रोक्ता ह्यज्ञस्ताननु ये पुनः ।

प्रवाह एव तिष्ठन्ति स्वोदरपोषणमात्रपराः, स्वरूपदेहक्रियातत्पराः, न तु धर्मादिपराः, ते जीवा आसुरा ज्ञेयाः । ते च 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चे'त्यादिना भगवता वर्णिताः । ते आसुराः द्विप्रकाराः अज्ञदुर्ज्ञभेदात् । 'प्रवृतिं चे'त्यादिनोक्ता दुर्ज्ञाः । तान् ये अनुसरन्ति तदुक्तकारिणो भवन्ति, ते तु अज्ञाः ॥२४१/२॥

अब आचार्यचरण आगे लक्षण एवं प्रमाणों के द्वारा आसुरीजीवों के विषय में **प्रवाहस्थान्** इत्यादि दो श्लोकों से कह रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य है - जो केवल अपना उदरपोषण करने में ही लगे हुए हैं एवं जो संसारप्रवाहसंबंधी स्वरूप-देह-क्रिया में ही तत्पर हैं, धर्माचरण करने में नहीं, वे जीव आसुरी समझने चाहिए। इनका वर्णन भगवान ने "धर्म में प्रवृति एवं अधर्म से निवृत्ति को आसुरी नहीं जानते। उनमें न अन्तःकरण की शुद्धि, न सदाचार और न ही सत्य ही होता है (भ०गी० १६-७)" इत्यादि वाक्यों से किया है। ऐसे आसुरी दो प्रकार के होते हैं - अज्ञ और दुर्ज्ञ। भगवान के ऊपर कहे "(भ०गी० १६-७)" वाक्य द्वारा तो दुर्ज्ञ-आसुरी कहे गये हैं और ऐसे दुर्ज्ञ-आसुरीजीवों का जो अनुकरण करते हैं अर्थात् इनके कहे अनुसार करते हैं, वे अज्ञ कहे जाते हैं॥ २४ १/२॥

ननु आसुराणामपि भक्तिः श्रूयते, सा कथं सम्भवतीत्याशङ्कायां समाधानमाहुः ।

प्रवाहेऽपि समागत्य पुष्टिस्थस्तैर्न युज्यते ॥२५॥
सोपि तैस्तत्कुले जातः कर्मणा जायते यतः ॥२५[1]/३॥

वस्तुतो यस्य भक्तिर्दृश्यते, स आसुरजीवो न भवति, किन्तु भगवदपराधेन भक्तापराधेन वेदादिनिन्दया वा प्रवाहेपि समागत्य प्राप्तोपि तैः प्रवाहस्थैर्न युज्यते न मिलति । तत्कुले जातोपि स पुष्टिस्थस्तैः प्रवाहस्थकुलधर्मैर्न युज्यते, न युक्तो भवति । 'न वै जनो जात्वि'ति वाक्यात् । तर्हि भक्तिमतः कथं प्रावाहिकेषु जन्मेत्यत आहुः कर्मणा जायते यत इति । यतः यस्मात् कारणात् भगवदपराधादिना प्रारब्धकर्मणा वा जायते उत्पद्यते । देहस्य कर्माधीनत्वाद्यादृशं कर्म, तादृशो देहो भवतीत्यर्थः ॥२३॥

किन्तु प्रश्न यह होता है कि, कभी-कभी सुनने में आता है कि आसुरीजीव भी भक्ति करते हैं, तो इसका क्या कारण है ? ऐसा कैसे संभव होता है ? तो इसका समाधान आपश्री अग्रिमश्लोक में कर रहे हैं।

आपश्री का तात्पर्य यह है कि - वास्तविकता यह है कि जिस आसुरीजीव में भक्ति दृष्टिगोचर होती है, वह वास्तव में आसुरी है ही नहीं, भगवदीय है। किसी भगवद्-अपराध के कारण, भक्त का अपराध किया होने के कारण अथवा तो वेदनिन्दा की होने के कारण उसने प्रवाहीजीवों के अंतर्गत जन्म तो लिया है परन्तु प्रवाहीजीवों में मिलकर भी वह प्रवाहमार्ग में जुड़ता नहीं है। जैसा कि "व्यासजी ! जो भगवान श्रीकृष्ण के चरणारविन्द का सेवक है, उसमें दुर्भाग्य से भजन न करने वाले की मनुष्यों की भाँति बुरा भाव पनप जाने पर भी वह जन्म-मृत्युरूप संसार में नहीं फँसता। वह भगवान के चरणकमलों का स्मरण करके फिर उन्हें पकड़ लेता है(श्री०भा० १-५-१९)" इस वाक्य में कहा गया है। तो फिर प्रश्न यह उठता है कि, ऐसे भक्तिवान जीव का प्रावाहिकी सृष्टि में कैसे जन्म हो गया ? तो इसका कारण आपश्री **कर्मणा जायते यतः** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। आपश्री का भावार्थ यह है कि, ऐसा भगवद्-अपराध किया होने के कारण होता है अथवा तो प्रारब्धकर्मों के कारण होता है। देह तो कर्म के अधीन है अतः जैसा कर्म करेंगे, वैसी देह प्राप्त होती है - यह अर्थ है॥ २३॥

इति श्रीवल्लभाचार्यैः साधनादिविभेदतः ।
मार्गाः प्रोक्ता विचार्यैषु प्रविशन्तु फलार्थिनः ॥१॥
भक्त्या श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जयुगं प्रभून् ।
प्रणम्य कृपया तेषां यत्नाद्दत्ताः सुखावहाः ॥२॥
श्रीमत्कल्याणरायेण श्रीगोविन्दसुतेन हि ।
पुष्टिप्रवाहमर्यादाविवृतिः कृतिना कृता ॥३॥
इति श्रीविट्ठलेश्वरचरणकमलैकतानश्रीकल्याणरायविरचिता पुष्टिप्रवाहमर्यादाविवृतिः समाप्तिमसर्पत् ॥

श्रीवल्लभाचार्यचरणों ने साधन आदि के विभेदों द्वारा विभिन्न मार्ग बता दिये हैं।
अब विभिन्न फलों की इच्छा रखने वाले विचार करके इन मार्गों में प्रवेश करें॥ १॥
प्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणयुगलों में भक्तिपूर्वक प्रणाम करके
उनकी कृपा से प्रयत्न करने पर भक्तों को इन-इन मार्गों में सुख की प्राप्ति होगी॥ २॥
श्रीगोविन्दसुत भाग्यवान-श्रीमत्कल्याणरायजी ने पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थ की विवृति की।
यह श्रीविट्ठलेश्वर चरणकमलों में एकनिष्ठ श्रीकल्याणराय द्वारा विरचित पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थ की विवृति समाप्त हुई।

❀❀❀❀❀❀❀

१. साधु ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

पुष्टिप्रवाहमर्यादा ।

श्रीपीताम्बरकृतविवृतिसमेता ।

नमः श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जनखेन्दवे ।
पुष्टिप्रवाहमर्यादास्तारका येन शोभिताः ॥१॥
न भेदस्ते कुत्राप्यतिरुचिर किन्तु प्रियतया
विभेदोऽतः स्वामिन् कृपय मयि दासेऽतिविथुरे ।
विभेदः केन स्यात् स्वकृतनिजपुष्टेरितरथा
प्रवाहादेः स्वीयप्रणतचरणप्रापक विभो ॥२॥
श्रीवल्लभसुतचरणाम्भोरुहमकरन्दमत्तमधुपो यः ।
जयति निगूढत्रिसरणिमालत्यां तस्य झङ्कारः ॥३॥

श्रीवल्लभाचार्यनखचन्द्र को नमन,
जिन्होंने पुष्टिप्रवाहमर्यादारूपी तारों को प्रकाशित किया ॥ १ ॥
हे अतिरुचिर प्रभु ! हे मेरे स्वामी ! वैसे तो तुम्हें किसी से भी भेद नहीं है
(क्योंकि समस्त जीव आखिरकार तो भगवान के ही अंश हैं इसलिये),
परन्तु, पुष्टिजीव आपको अतिप्रिय हैं इसलिये पुष्टिजीव एवं अन्य दूसरे जीवों का भेद संभव बन पाता है।
यदि अपने द्वारा बनाये गये पुष्टिजीव तुम्हें विशेष प्रिय न होते, तो प्रवाह आदि जीवों से इनका भेद संभव न बनता।
अतः हे निजशरणागतजीवों को अपने चरणों की प्राप्ति कराने वाले विभु !
मुझ अतिदीन दास पर कृपा करो ॥ २ ॥
श्रीवल्लभसुत श्रीविट्ठलेश्वर के चरणकमलों के मकरन्द से मदमत्त होने वाले मुझ भौंरे की
निगूढ तीनमार्गरूपी मालतीपुष्प में होने वाली झंकार(विवृति) की जय हो, वह सर्वोत्कृष्ट बने ॥ ३ ॥

इह हि चिद्रूपत्वेन भगवदंशत्वेन च तुल्येषु जीवेषु केषाञ्चित्पुरुषोत्तमप्राप्तिः, केषाञ्चिदक्षरस्य, केषाञ्चित्स्वर्गादेः, केषाञ्चिदन्धन्तमसः, सा श्रूयत इति कुतः फलभेदः, कुतो वा स्वभावभेदः, कथं वा केषाञ्चित्स्वभावविरुद्धे देहक्रिये, इतरेषां च तदनुरूपे इत्यादिप्रकारेण सेवाफलविवरणादिग्रन्थश्रवणादन्यतश्च सन्दिहानानां सन्देहवारणाय तदुपायभूतमार्गतत्साङ्कर्ये निरूपयितुं बहूनां सन्देहानां भेदज्ञानादेव निवृत्तिं हृदि कृत्वा मार्गत्रयभेदनिरूपणं श्रीमदाचार्याः प्रतिजानते **पुष्टीत्यादि** ।

इस जगत् में समस्त जीव चिद्रूप होने के कारण एवं भगवदंश होने के कारण समान हैं परन्तु फिर भी किन्हीं जीवों को पुरुषोत्तम की प्राप्ति होती है, किन्हीं को अक्षरब्रह्म की, किन्हीं जीवों को स्वर्गादि की तो किन्हीं जीवों को अन्धन्तम नरक की। ऐसा क्यों ? इन सभी की फलप्राप्ति में इतना भेदभाव क्यों ? जीवों के स्वभावों में इतना अंतर क्यों ? अथवा किन्हीं के स्वभाव की तुलना में उनकी देह एवं क्रिया क्यों भिन्न होती है ? तो किन्हीं जीवों का स्वभाव उनकी देह एवं क्रिया के अनुरूप होता है इत्यादि समस्त बातें सेवाफल एवं अन्य ग्रन्थों में सुनी गयी हैं, तो ऐसे संदिग्ध जीवों के सन्देह का निवारण करने के लिये इसका उपाय बताते हुए आचार्यचरण भिन्न-भिन्न मार्ग एवं उनकी आपस में मिश्रता का निरूपण कर रहे हैं ; उपर्युक्त अनेक सन्देह तो इन मार्गों का आपस में भेद जान लेने से ही निवृत्त हो जायेंगे अतः इस बात को मन में धारण करके श्रीमदाचार्यचरण तीनों मार्गों का भेद/अंतर निरूपण करने की प्रतिज्ञा पुष्टि इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

पुष्टिप्रवाहमर्यादा विशेषेण पृथक् पृथक् ।
जीवदेहक्रियाभेदैः प्रवाहेण फलेन च ॥१॥
वक्ष्यामि सर्वसन्देहा न भविष्यन्ति यच्छ्रुतेः ।

एतन्मार्गत्रयं विशेषेणोत्कर्षादिरूपव्यावर्तकधर्मेण जीवादिभेदैः प्रवाहेण सर्गपरम्पराया अविच्छेदेन फलेन च पृथक् पृथक् भिन्नं भिन्नं यथा स्यात्तथा वक्ष्यामीत्यर्थः। भेदकथनफलमाहुः सर्वेति। यच्छ्रुतेः उक्तभेदकचतुष्टयश्रवणात्।

श्लोक का अर्थ है - ये तीन मार्ग विशेषरूप से कहेंगे अर्थात् इनका उत्कर्ष बताने वाले धर्मों को कहेंगे, जिससे ये भिन्नतया समझ में आ सकें। आपश्री आज्ञा करते हैं - इन तीनों मार्गों के जीवों के भेद बताते हुए कहेंगे ; प्रवाहेण अर्थात् इनकी सृष्टि की अविरत चलती रहने वाली परंपरा को कहेंगे एवं इन तीनों मार्गों में मिलने वाले फलों को कहेंगे ताकि ये भिन्न-भिन्न होकर समझ में आ सकें। आपश्री इनका भेद/अंतर करके क्यों बता रहे हैं ? इसे सर्व इत्यादि शब्दों से यह कह रहे हैं कि, जिस भेद को सुनकर फिर कभी किसी को इनके विषय में कोई सन्देह नहीं रहेंगे। यच्छ्रुतेः अर्थात् ऊपर कहे "जीव-देहक्रिया-प्रवाह-फल" इन चारों का अंतर सुन लेने के पश्चात् कोई भी सन्देह नहीं रहेगा।

एतेन जगत्यनेके मार्गाः कथं त्रय एवोच्यन्त इत्यपि सन्देहोऽनेनैवापयास्यतीत्यपि बोधितम्। ज्ञाते स्वरूपे अन्यान्तर्भावस्यापि सुखेनैव ज्ञानात्। न चैकेनैव भेदसिद्धावितरेषां वैयर्थ्यं शङ्क्यम्। स्वरूपसाधनफलैक्यनिरासकत्वेन सर्वेषामेव सार्थक्यात्। अत्यन्तविविक्तत्वज्ञान एव सर्वसन्देहनिरासात् ॥१[1]/२॥

इन सबका विवेचन सुन लेने के पश्चात् यह शंका भी अपने आप दूर हो जायेगी कि जगत में इतने सारे मार्ग विद्यमान होने पर भी आचार्यचरणों ने यहाँ केवल तीन मार्गों की ही चर्चा क्यों की ; क्योंकि जब एक बार आप इन तीनों मार्गों का स्वरूप जान लेंगे तो आपको बड़ी सरलता से पता चल जायेगा कि अन्य दूसरे मार्गों का भी अन्तर्भाव इन्हीं तीन मार्गों में स्थित है, अतः कुल मिलाकर ये तीन मार्ग ही हैं। अब आप यह शंका न करें कि आपश्री यदि केवल एक ही मार्ग का भेद कह देते या केवल पुष्टिमार्ग के ही लक्षण बता देते तो उससे ही अन्य मार्गों के स्वरूप का भी पता चल जाता, आपश्री को व्यर्थ में तीन मार्गों का विश्लेषण करने की आवश्यकता नहीं थी। नहीं , आपका ऐसा सोचना ठीक नहीं है क्योंकि आगे के श्लोकों में जब आपश्री इन तीनों मार्गों के स्वरूप, साधन एवं फलों की असमानता बतायेंगे तब अपने आप ही पता लग जायेगा कि इन तीनों ही मार्गों के विषय में बताना आवश्यक था। क्योंकि जब किसी भी वस्तु का सूक्ष्मता से ज्ञान होता है , तभी समस्त सन्देह दूर होते हैं॥ १ १/२॥

नन्वाश्रयसिद्धौ भेदकं वक्तव्यम्, प्रकृते तु पुष्ट्यादिशब्दवाच्यानां मार्गाणामप्रसिद्धत्वात्तद्भेदनिरूपणं गगनकुसुमसौरभमनुकरोतीत्याशङ्क्यायामाश्रमसत्त्वं सिसाधयिषवः पुष्टेः पूर्वमुद्दिष्टत्वात्तत्रैव पूर्वं प्रमाणमाहुः भक्तीत्यादि।

भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः ॥२॥

दशमस्कन्धे भ्रमरगीतस्थसन्देशे 'या मया क्रीडते'त्यारभ्य 'अचिरान्मामवाप्स्यथे'त्यन्तस्य, 'युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेने'त्यादेः, 'दिष्ट्या गृहेश्वर्यसकृन्मयि त्वया कृतानुवृत्ति'रित्यादेः, एकादशस्कन्धे च 'अथैतत्परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन । सुगोप्यमपि वक्ष्यामी'त्यारभ्य 'तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्ये'ति श्लोकद्वयान्तस्य 'भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ । पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं पर'मित्यादिभिर्भगवता भक्तिमार्गस्य कथनात्, 'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः । स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृत' इति तृतीयस्कन्धे उक्तायाः 'भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येनैवामुष्मिन्मनःकल्पनमि'त्यार्थवर्णोपनिषदि च श्रावितायाः भक्तेर्यो मार्ग उपायः प्रकारश्च तस्य कथनात्, पुष्टिरस्ति 'पोषणं तदनुग्रह'इति वाक्यादनुग्रहापरपर्यायाः तत्तद्भक्तिबीजभूता कृपा भगवति वर्तत इति निश्चयः। अन्यथा भगवानेवं भक्तिमार्गं न वदेत्। 'निर्विण्णानां ज्ञानयोगः कर्मयोगस्तु कामिनामि'ति वाक्यादुभयोस्ताभ्यां फलसिद्धेरुक्तत्वात् 'न निर्विण्णो नातिसक्त' इत्यनेनोक्तस्येषत्सक्तस्य कामसद्भावात्कर्मणा [2]'कथञ्चित्तेन तदपूर्तौ निर्वेदे ज्ञानेन च यदाकदाचिद्यथाकथञ्चित्फलसिद्धेः सम्भवात्। किन्तु एक शंका यह होती है कि, किसी एक मार्ग में आश्रय दृढ़ करने के लिये उसका दूसरे मार्गों से अंतर दिखलाना तो आवश्यक है परन्तु अभी तो किसी को पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा इत्यादि मार्गों के विषय में कोई जानकारी ही नहीं है अतः अभी इस समय इन मार्गों में रहे अंतर का विवेचन करना ठीक वैसे ही बेतुकी बात है जैसे यह कह दिया जाय कि, आकाश में खिले पुष्प की सुगंध आ रही है। यदि ऐसी आशंका होती हो , तो इन मार्गों में अपने आश्रय को दृढ़ करने की इच्छा रखने वालों के लिये आपश्री सबसे पहले पुष्टिमार्ग के विषय में ही बता रहे हैं क्योंकि इस ग्रन्थ में आपश्री ने सबसे पहले पुष्टि से ही आरंभ किया है। तो, आपश्री पुष्टिमार्ग के प्रमाण भक्ति इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। पुष्टिमार्ग के लिये यदि शास्त्रों के प्रमाणों की बात करें तो सर्वप्रथम दशमस्कंधीय भ्रमरगीत के अंतर्गत

---

१. कथञ्चित्तेनेति नास्ति।

उद्धवजी द्वारा भेजे गये भगवान के सन्देश में "जब तुम मेरा अनुस्मरण करोगी, तब शीघ्र ही सदा के लिये मुझे प्राप्त हो जाओगी(श्री०भा० १०-४७-३६)" इस श्लोक से आरंभ करके "हे गोपिकाओं ! जिस समय मैंने वृन्दावन की शरदपूर्णिमा की रात्रि में रासकीड़ा की थी, उस समय जो गोपिकाएँ स्वजनों के रोक लेने से व्रज में ही रह गयीं, वे मेरी लीलाओं का स्मरण करने से ही मुझे प्राप्त हो गयी थीं। मैं तुम्हें भी अवश्य मिलूँगा(श्री०भा० १०-४७-३७)" यहाँ तक के वाक्य में कहा गया है। एवं "भगवान ने वसुदेवजी एवं देवकी से कहा- तुम दोनों मुझमें पुत्रभाव और ब्रह्मभाव रखना(श्री०भा० १०-३-४५)" इस श्लोक में एवं "हे प्राणप्रिये ! यह बड़े आनन्द की बात है कि तुमने अब तक संसारबन्धन से मुक्त करने वाली मेरी सेवा की है(श्री०भा० १०-६०-५४)" इत्यादि श्लोकों में ; ठीक इसी प्रकार एकादशस्कंध में "हे उद्धव ! अब मैं तुम्हें एक परम गोपनीय परम रहस्य की बात बताउँगा क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो(श्री०भा० ११-११-४९)" इस वाक्य से लेकर "इसलिये उद्धव ! समस्त विषयों का परित्याग करके एकमात्र मेरी ही शरण ग्रहण करो(श्री०भा० ११-१२-१४)" इन दो श्लोकों के अन्त तक "हे उद्धव ! भक्तियोग का वर्णन तो मैं तुम्हें पहले ही सुना चुका हूँ परन्तु अब मैं फिर से तुम्हें मेरी भक्ति प्राप्त होने का श्रेष्ठ साधन बतलाता हूँ(श्री०भा० ११-१९-१९)" इत्यादि वाक्यों में भगवान ने भक्तिमार्ग के विषय में कहा है ; और, "मेरे निष्कामभक्त तो दिये जाने पर भी मेरी सेवा को छोड़ कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मोक्ष तक नहीं स्वीकारते(श्री०भा० ३-२९-१३)" इस तृतीयस्कंध के वाक्य में एवं "भक्ति का अर्थ है- भगवान की सेवा। समस्त भौतिक इच्छाओं का त्याग करके मन-मस्तिष्क को सभी अर्थों में एकमात्र भगवान की सेवा में लगा देने को भजन कहते हैं (गोपालपूर्वतापनीय उप०)" इस अथर्वणोपनिषद् में भी भक्ति का मार्ग, उसका उपाय एवं उसका प्रकार कहा गया है। और, पुष्टिरस्ति इत्यादि शब्दों से आचार्यचरण यह कहना चाह रहे हैं कि, "भगवान अपने भक्तों पर जो कृपा करते हैं, उसे पोषण कहते हैं(श्री०भा० २-१०-४)" इस वाक्यानुसार "अनुग्रह" के नाम से जानी जाती और उपर कहे वाक्यों में विभिन्न प्रकार की भक्ति की बीजरूपा कृपा भगवान में है- यह निश्चित होता है। यदि भगवान में कृपा करने का भाव न होता तो वे भक्तिमार्ग की बात कहते ही नहीं। क्योंकि "हे उद्धवजी ! जो लोग कर्मों तथा उनके फलों से विरक्त हो गये हैं और उनका त्याग कर चुके हैं, वे ज्ञानयोग के अधिकारी हैं। इसके विपरीत जिनके चित्त में कर्मों और उनके फलों से वैराग्य नहीं आया है, वे सकाम व्यक्ति कर्मयोग के अधिकारी हैं(श्री०भा० ११-२०-७)" इस वाक्यानुसार ज्ञानयोगी एवं कर्मयोगी को तो ज्ञानयोग एवं कर्मयोग के माध्यम से फलप्राप्ति हो जायेगी परन्तु "जो पुरुष न विरक्त है और न ही संसार में अत्यन्त आसक्त है तथा पूर्वजन्म के शुभकर्मों से सौभाग्यवश उसकी मेरी लीला-कथा आदि में श्रद्धा हो गयी है, वह भक्तियोग का अधिकारी है(श्री०भा० ११-२०-८)" इस वाक्यानुसार जो न विरक्त है और जो न संसार में ही पूर्ण आसक्त है, ऐसे संसार में थोड़ी-बहुत आसक्ति रखने वाले व्यक्ति को कुछ कामनाएँ तो होती ही हैं जिनकी वह पूर्ति करना चाहता है। अब ऐसा व्यक्ति जब कर्म में अपनी कामनाओं की पूर्ति करना चाहता है, तो उसकी कामनाएँ पूर्ण होती नहीं है और तब उसे विरक्ति की भावना जाग्रत होती है। और, ज्ञान से उसे कभी-कभार थोड़ा-बहुत फल प्राप्त हो जाता है। इतने सब विवेचन का फलितार्थ यह है कि, पूर्णफल तो केवल भगवान के अनुग्रह/कृपा से ही प्राप्त हो सकता है।

लोकेऽपि स्वल्पधनस्याधमर्णस्य तावद्धनग्रहणादिभिर्महर्णविमोकस्योत्तमर्णानुग्रहेण दर्शनात् । कष्टसाध्ये प्रायश्चित्तादौ पर्षदनुग्रहेणैव सुकरसाधनोपदेशस्य स्मृतिष्वपि सिद्धत्वात् । 'भवन्तावनुगृह्णीतां याता वोऽनुग्रहादिव' मित्यादिषु तत्प्रार्थनादर्शनाच्च सुकरसाधनोपदेशबीजभूतानुग्रहे सिद्धे पुष्टिर्भगवत्यस्ति । सुकरसाधनरूपस्य भक्तिमार्गस्य कथनात् । यत्र यत्र हितरूपसुकरसाधनकथनं तत्र तत्र वक्तुर्यनुग्रहसत्ता । यथा उक्तपरिषदि । यत्र नैवं तत्र नैवम् । यथा नृगसम्प्रदानविप्रादिषु, इत्यनुमानेन भक्तिरूपसुकरसाधनोपदेशाद्भगवति तत्सत्तायां न सन्देह इत्यर्थः ।

लोक में भी ऐसा देखा जाता है कि, किसी धार्मिक धनवान(उत्तमर्ण) से किसी निर्धन व्यक्ति(जिसने ऋण लिया हो उसे अधमर्ण कहते हैं) ने ऋण लिया। उस व्यक्ति का ऋण बढ़ता चला गया और ऋण चुका नहीं पाया ; उस धनवान ने उस पर दया/कृपा करते हुए उससे यत्किंचित् जो बन पड़ा, उतना धन लेकर बाकी बचा उसका सारा ऋण(महर्ण) माफ कर दिया। यह उस धनवान का उस निर्धन व्यक्ति पर अनुग्रह हुआ कहा जायेगा। स्मृति में भी ऐसा उदाहरण मिलता है कि, किसी व्यक्ति ने अनेकों पाप किए और उसे दंड देने के लिये ग्रामपंचायत बैठी। पंचायत ने देखा कि उसके पापों का प्रायश्चित्त तो बड़ा कठिन है अतः उन्होंने उस पर अनुग्रह करते हुए उसे एक सरल प्रायश्चित्त बता दिया। यह ग्रामपंचों का उस व्यक्ति पर अनुग्रह करना हुआ। इसके ठीक विपरीत बात "हे ब्राह्मणों ! मैं आपका सेवक हूँ। मुझसे अनजाने में यह अपराध हो गया है, मुझ पर कृपा कीजिए और मुझे इस घोर नरक में गिरने से बचा लीजिए(श्री०भा० १०-६४-२०)" इत्यादि श्लोकों में कही गयी है, जहाँ राजा नृग के प्रार्थना करने पर भी ब्राह्मणों ने उस पर दया नहीं की। अतः इन सभी उदाहरणों से सिद्ध होता है कि सरल साधन का उपदेश करने के पीछे रहने वाला बीजभूत अनुग्रह यदि है तो भगवान में पुष्टि विद्यमान

है क्योंकि भगवान ने सरल भक्तिमार्ग का उपदेश दिया ही है। जहाँ जहाँ किसी का हित करने के लिये सरल साधन बताये जायेंगे, वहाँ वहाँ सरल साधन बताने वाले में अनुग्रह है, यह माना जायेगा। जैसे कि हमने पूर्व में ग्रामपंचों का उदाहरण दिया। जहाँ सरल मार्ग या साधन नहीं बताया जाता, वहाँ वहाँ अनुग्रह नहीं है। जैसे कि राजा नृग से दान पाने वाले ब्राह्मणों ने राजा नृग को कोई भी अनुकूलता नहीं दी और राजा को कठिन दंड भुगतना ही पड़ा। ·····ब्राह्मणों जैसा निर्दयी व्यवहार भगवान ने नहीं किया अपितु अपने भक्तों पर अनुग्रह करके भक्तिमार्गरूपी सरल साधन का उपदेश दिया अतः भगवान में कृपा का स्वभाव है इस बात में कोई संदेह नहीं है।

स च धर्मान्तरमेव । न तु फलदित्सा । 'यस्यानुग्रहमिच्छामी'ति वाक्यात् । दित्सात्वे इच्छाकर्मत्वायोगात् । अत एव न परदुःखप्रहाणेच्छापि । नापि तदर्थको यत्नः । "कृपयामि न तु यते" इति तदुत्तरं व्यवसायदर्शनात् । कृपया यते दित्स इत्यादिप्रयोगाच्च । नापि ज्ञानम् । दुःखं जानन्नपि न दुष्टे कृपयति, नास्य दुष्टस्य दुःखमिति जानन्न कृपयतीत्यादिप्रयोगात् । दृष्टत्वान्नादृष्टविशेषः । द्वेषादिवैलक्षण्याच्च न द्वेषादि । न च कृपयत्यनुगृह्णातीति भिन्नशब्दाभिलाप्यत्वाद्भिन्नानुव्यवसायगम्यत्वाच्च कृपानुग्रहयोर्भेदः शङ्क्यः । लोके कृपाभिन्नतया तत्प्रसिद्ध्यभावे धातुभेदप्रयोगादेस्तद्भेदाप्रयोजकत्वादिति । तस्मात्स्वीकारफलदित्सादिप्रयोजकं कृपापरपर्यायं धर्मान्तरमेवेति निश्चयः । स च भक्त्युपदेशस्येव भक्तेरपि कारणम् । यत्रानुग्रहाभावस्तस्य भक्तेरदानात् । 'भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोग'मितिवाक्यात् । इदं यथा तथा भक्तिहेतुनिर्णये प्रपञ्चितं प्रभुचरणैः ।

भगवान के स्वभाव में रहने वाली कृपा भगवान में रहने वाला एक अलग ही प्रकार का धर्म है। यदि विश्लेषण किया जाय तो भगवान की फल देने की इच्छा को कृपा नहीं कहा जा सकता। अब देखिए, भगवान ने श्रीभागवत में "मैं जिस पर अनुग्रह करने की इच्छा करता हूँ, उसका धन हर लेता हूँ(श्री०भा० १०-८८-८)" यह वाक्य कहा है। ध्यान दें कि इस वाक्य में भगवान ने यह कहा है कि "मैं अनुग्रह करने की इच्छा करता हूँ" ; तात्पर्य यह कि इच्छा करनी एक बात है और अनुग्रह करना दूसरी वस्तु हो गयी। यदि इच्छा करनी और अनुग्रह करना एक ही होता, तो ये अलग-अलग क्यों कहे जाते ? अतः केवल इच्छा करने का अर्थ सीधे-सीधे अनुग्रह ही कर देना नहीं होता। यदि इच्छा करने का अर्थ अनुग्रह करना ही होता, तो उपर्युक्त भागवत के "अनुग्रहं इच्छामि अर्थात् अनुग्रह करने की इच्छा करता हूँ" इस वाक्य में "अनुग्रह" इच्छा करने की क्रिया का कर्म क्यों बनता ? अर्थात् "अनुग्रह" कर्म के रूप में और "इच्छा करता हूँ" क्रिया के रूप में, यों ये दोनों अलग-अलग क्यों कहे जाते ? दूसरे के दुःख को दूर करने की इच्छा को भी अनुग्रह नहीं कहा जा सकता और दूसरे के दुःख को दूर करने के लिये किये जानेवाले यत्न को भी अनुग्रह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि लोक में लोगों को ऐसा भी कहते सुना गया है कि - "मुझे उसके दुःख को देखकर उस पर बहुत कृपा करने की इच्छा होती है परन्तु मैं इसके लिये कुछ भी यत्न नहीं कर पा रहा हूँ"। इसलिये समझें कि यदि किसी के दुःख को दूर करने के लिये किये गये यत्न का अर्थ कृपा करना होता तो किसी भी सूरत में यत्न होना ही चाहिए था, परन्तु यदि यत्न नहीं कर पाते तो उसे कृपा नहीं कहा जा सकेगा। क्योंकि वहाँ कृपा करने का भाव तो है परन्तु यत्न नहीं है। इसलिये यत्न को भी कृपा नहीं कहा जा सकता। लोक में ऐसा भी सुना जाता है कि - मुझे इस पर कृपा/दया आई इसलिये मैं इसका दुःख दूर करने का प्रयत्न कर रहा हूँ। तो देखिए, यहाँ कृपा दुःख को दूर करने का केवल कारण बनी है। अतः इस यत्न को भी कृपा नहीं कहा जा सकता। किसी के दुःख या कष्ट का ज्ञान हो जाने को भी अनुग्रह/कृपा नहीं कहा जा सकता क्योंकि किसी दुष्ट व्यक्ति के कष्ट का भले ही ज्ञान हो जाय, तब भी उस पर कृपा/दया नहीं की जाती। और किसी दुष्ट को कोई भी दुःख नहीं है- यह जान कर भी उस पर कृपा नहीं की जाती। कृपा को कोई अदृष्ट वस्तु भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जिस पर कृपा होती है, उस पर कृपा हुई है यह स्पष्टरूप से दिखाई देता ही है। क्योंकि मीमांसा में कहा गया है कि, जो वस्तु सामने प्रत्यक्ष दिखाई दे रही हो, उसे छोड़ कर किसी अदृश्य को फल नहीं माना जा सकता। द्वेष को भी कृपा नहीं कहा जा सकता क्योंकि कृपा तो द्वेष इत्यादि से अलग ही कोई विलक्षण वस्तु है। श्रीमद्भागवत(७-१-३०) के वाक्य में बताया गया है कि गोपियों ने काम से, कंस ने भय से, शिशुपाल ने द्वेष से, वृष्णियों ने सम्बन्ध से, युधिष्ठिर आदि ने स्नेह से और नारदजी ने भक्ति से भगवान को प्राप्त किया। टीकाकार सूक्ष्म विचार करके यह समझा रहे हैं कि, इस वाक्य में काम-भय-द्वेष- इत्यादि भी भगवत्प्राप्ति में निमित्त बने हैं, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि, काम-भय-द्वेष इत्यादि को भी अनुग्रह समझ लिया जाय। और, "कृपा करता है", "अनुग्रह करता है" यह दो वाक्य भले ही भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं या इनसे भिन्न भिन्न अर्थों की प्रतीति होती हो तथापि कृपा एवं अनुग्रह को अलग-अलग नहीं समझना चाहिए क्योंकि लोक में अनुग्रह को कृपा के अर्थ में ही समझा जाता है। हाँ, कृपा एवं अनुग्रह इन दोनों शब्दों की धातुएँ

अवश्य अलग-अलग हैं, तथापि केवल धातु का अंतर होने मात्र से कृपा एवं अनुग्रह को अलग-अलग अर्थ में नहीं माना जा सकता क्योंकि लोक में इन दोनों को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है और लोकव्यवहार तो शास्त्र के अनुशासन की तुलना में अधिक महत्व रखता है। इसलिये किसी को स्वीकार कर लेना, फल देने की इच्छा करने का कारण एवं जिसे कृपा भी कहा जा सकता है वह भगवान का एक विशेष धर्म है, जिसे "पुष्टि" कहा जाता है- यह निश्चित होता है। और यही पुष्टि सरलभक्तिमार्ग का उपदेश देने का मूलकारण है एवं भक्ति का भी कारण है। क्योंकि जहाँ भगवान को अनुग्रह नहीं करना होता है , वहाँ वे उसे भक्ति का दान ही नहीं करते। श्रीभागवत में भी भगवान ने "भगवान भक्तों के अनेक कार्य कर सकते हैं। वे उन्हें मुक्ति भी दे सकते हैं परन्तु मुक्ति से भी बढ़कर जो भक्ति है, वह सहज में नहीं देते(श्री०भा० ५-६-१८)" यह वाक्य कहे हैं। इस बात को प्रभुचरणों ने भक्तिहेतुनिर्णय में विस्तार से समझाया है।

तथा च सति भक्त्युपदेशो वक्रनुग्रहपूर्वकः । सुकरसाधनोपदेशत्वात् । पर्षदुक्तसुकरप्रायश्चित्तोपदेशवत् । व्यतिरेके कष्टसाध्यादितिपयोव्रतोपदेशवत् । अयमनुग्रहविषयः । भक्तिमत्त्वात् । नारदवत् । व्यतिरेके साल्वादिवदित्यनुमानमपि तत्र प्रमाणं ज्ञेयम् । यद्यपि 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति श्रुतिर्भगवत्प्राप्तेर्वरणैकसाधनत्वं वदन्ती 'स वरस्तया वृतः','कन्यां वृणीते' इत्यादिप्रयोगदर्शनात्स्वीकारात्मकत्वेन सिद्धस्य वरणस्यानुग्रहजन्यत्वात्तत्र प्रमाणं भवति, तथापि 'तस्यैष आत्मा विवृणुते तनू :स्वा'मित्युक्तस्य विवरणस्य स्वस्वरूपप्रकाशनात्मकत्वात्तत्र यत्फलं लाभात्मकं ग्रहणं तस्य 'भक्त्याहमेकया ग्राह्य' इत्यादिस्मृत्या भक्तिसाध्यताबोधनात्पर्यवसानतो भक्तिद्वारैव जातस्य ग्रहणस्य प्रमितिरूपत्वं बोधयति । भक्तिश्च मार्गेणैव प्रमीयते । स चोपदेशादेवेति हृदि कृत्वाचार्यैरेवमुक्तम्। श्रुतेर्वादकवलितत्वेन पुनः प्रयासकरणापाताच्च ॥१ ॥ २॥

अतः समझना चाहिए कि जहाँ भक्ति का उपदेश है , वहाँ भक्ति का उपदेश देने वाले में अनुग्रह विद्यमान है। क्योंकि उस पर अनुग्रह करके भक्ति जैसे सरल साधन करने का उपदेश दिया जा रहा है। जैसा कि हमने उपर कहे उदाहरण में देखा कि पंचों द्वारा सरल प्रायश्चित्त की विधि बता दी जाती है। जहाँ अनुग्रह नहीं होता, वहाँ कष्टसाध्य उपदेश दे दिया जाता है , जैसे कि कश्यपजी ने दिति को पयोव्रत करने का उपदेश दिया था। देखें श्री०भा० ३-१४वां अध्याय। जिसको भगवान सरल भक्ति का उपदेश देते हैं, वह भगवान के अनुग्रह का पात्र है क्योंकि वह भक्तिमान है। जैसे कि नारदजी। जहाँ अनुग्रह नहीं होता, वहाँ साल्व नामक दैत्य आदि की भाँति भगवान उसे दंड दे देते हैं। अतः इन अनुमान प्रमाणों से भी यह समझ लेना चाहिए कि जहाँ पुष्टि/कृपा/अनुग्रह है , वहीं सरल साधन बताये जायेंगे। यद्यपि "यह परमात्मा न तो वेद के प्रकर्ष वचनों द्वारा, न बहुत सुनने से, न बुद्धि से ही प्राप्त हो सकता है परन्तु यह परमात्मा जिसका वरण कर लेता है, उसी को प्राप्त हो सकता है(कठो०उप० १-२-२३)" ये श्रुति तो यह कह रही है कि भगवत्प्राप्ति में स्वयं भगवान द्वारा वरण कर लिया जाना ही एकमात्र साधन है और लोकव्यवहार में भी "उसने अपना पति चुन लिया" या फिर "उसने कन्या का वरण कर लिया" इत्यादि प्रयोग देखे/सुने जाते हैं अतः किसी को स्वीकार कर लेने का नाम ही वरण कर लेना है और अनुग्रह होने के कारण ही वरण किया जाता है- इत्यादि अनेक प्रमाण हैं तथापि इस ग्रन्थ में पुष्टि की सत्ता को सिद्ध करने के लिये आचार्यचरणों ने उपर्युक्त वाक्यों में से किसी का भी प्रमाण नहीं दिया, ऐसा क्यों ? तो समझिए कि इसी श्रुति में आगे "यह परमात्मा जिसका वरण कर लेता है, उसी के समक्ष अपने आप को प्रकाशित करता है(कठो०उप० १-२-२३)" इस वाक्य द्वारा यह कहा गया है कि, भगवान जिसका वरण करते हैं उसी के आगे अपने स्वरूप को प्रकाशित करते हैं ; और, भगवान के ऐसे प्रकाशित स्वरूप के दर्शन का लाभ तो भक्ति से ही प्राप्त होता है, जैसा कि "मैं केवल अनन्यभक्ति से ही प्राप्त हो सकता हूँ(श्री०भा० ११-१४-२१)" इस वाक्य में कहा गया है अतः अंततोगत्वा इस वाक्य में भी भक्ति द्वारा ही भगवान को ग्रहण किया जा सकता है - यह प्रमाणित होता है। भक्ति तो भक्तिमार्ग से ही प्रमाणित होगी। और भक्तिमार्ग भी जब कोई उपदेश करेगा तब ही जाना जायेगा अतः इन समस्त बातों को हृदय में रखते हुए आचार्यचरणों ने पुष्टि को समझाने के लिये सीधे-सीधे इस वरणश्रुति का उदाहरण न देकर इस श्रुति के गर्भ में रही हुई भक्ति/अनुग्रह वाली मूल बात को समझाया। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि, श्रुति में अनेक वाद-विवाद हैं अतः सीधे-सीधे श्रुति का ही उदाहरण दे देते तो आचार्यचरणों को सबसे पहले उन समस्त वादों को समझाना पड़ता, सुलझाना पड़ता, अनेक संशयों का निवारण करना पड़ता और तब बात बहुत लंबी एवं समझने में कठिन हो जाती ॥ १॥ २॥

एवं पुष्टिसत्तां साधयित्वा प्रवाहसत्त्वे प्रमाणमाहुः द्वौ भूतसर्गाविति ।

'द्वौ भूतसर्गा'वित्युक्तेः प्रवाहोपि व्यवस्थितः ।
वेदस्य विद्यमानत्वान्मर्यादापि व्यवस्थिता ॥३॥

प्रवहणं प्रवाहः। सर्गपरम्पराया अविच्छेदः। सोऽप्युक्तवाक्याद्दैवासुरविभेदेन व्यवस्थितः कृतविभागः। यदि स न प्रवहेदाप्रलयम्, तदा विभागो मुधैव स्यात्। अतः सोऽप्यस्तीत्यर्थः। मर्यादासत्त्वे प्रमाणमाहुः वेदस्येत्यादि। नियमानतिक्रमो मर्यादा। सात्र कर्मज्ञानादेस्तत्तत्प्रकारनियमस्य बोध्या। सापि वेदस्य विधिमन्त्रनामधेयनिषेधार्थवादात्मकस्यापौरुषेयनित्यशब्दस्य विद्यमानत्वात् व्यवस्थिता, 'स्वर्गकामो यजेते'त्यादिभिर्विध्यादिभिः स्वर्गार्थं ज्योतिष्टोमं कुर्यात्, मन्त्रेणैव देवतां स्मरेत्, अग्निनामैव स्वाहाकारे वदेत्, ब्राह्मणं न हन्यात्, शीघ्रगामिनीं देवतां ज्ञात्वैव वायव्यालम्भः कर्तव्यो, नान्यथेत्यादिरूपेण नियमेन कृतविभागा। यदि सा न स्यात्, तद्विभाजको वेदो न स्यात्। अतो विभाजकस्य[1] वेदस्य विद्यमानत्वात्साप्यस्तीत्यर्थः। तथाच यद्यपि प्रवाहोऽस्ति। द्वौ भूतसर्गावित्युक्तेर्व्यवस्थितत्वात्। यद्व्यवस्थितं तदस्ति दायादिवदिति मर्यादास्ति। तद्व्यवस्थापकस्य वेदस्य विद्यमानत्वात। यद्व्यवस्थापकस्य वेदस्य विद्यमानत्वं तस्य सत्त्वम्। यथा यज्ञादेरित्यनुमानाभ्यां तयोः सत्तापि सिध्यति, तथापि प्रवाहे प्रत्यक्षं मर्यादायां वा व्यतिरेकः प्रमाणत्वेन वर्तत इत्यतस्तदुभयसत्तासाधनाय नास्माभिः प्रयासः कृत इति भावः।

इस प्रकार से पुष्टि की सत्ता सिद्ध करके अब आपश्री अग्रिमश्लोक में प्रवाह की सत्ता होने में प्रमाण कह रहे हैं। इसे वे द्वौ भूतसर्गौ इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

सृष्टिपरम्परा के निरंतर चलते रहने का नाम है - प्रवाह ; अर्थात् सर्गपरम्परा(सृष्टिचक्र) का अबाधरूप से चलते रहना। यह प्रवाह भी ऊपर श्लोक में कहे अनुसार दो व्यवस्थित विभागों में बाँटा गया है - दैवीप्रवाह एवं आसुरीप्रवाह। यदि प्रलय होने तक ये सृष्टि का प्रवाह न चले, तो इनका विभाग करना ही व्यर्थ हो जाए अतः प्रवाह की सत्ता तो है ही। अब मर्यादामार्ग की सत्ता होने का प्रमाण आपश्री वेदस्य इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। मर्यादा का अर्थ है - नियमों का उल्लंघन न करना। मर्यादा तो कर्म-ज्ञान आदि के नियमों को बताने वाली होती है। चूँकि विधि-मन्त्र-नामधेय-निषेध-अर्थवाद इत्यादि को बताने वाले अपौरुषेय, नित्यशब्द वाले वेद की सत्ता विद्यमान है अतः वेद में कहा मर्यादामार्ग भी विद्यमान है। जैसे कि "स्वर्गकामो यजेत्-स्वर्गप्राप्ति के लिये यज्ञ करिए (सामवेद-ज्योतिष्टोम-तांडय ब्राह्मण-खंड-१८-७)" इत्यादि विधियों के द्वारा "स्वर्ग के लिये ज्योतिष्टोम करें", "मन्त्र द्वारा ही देवता का स्मरण करें", "अग्नि का नाम लेकर ही स्वाहा बोलें", "ब्राह्मणो का वध न करें", "शीघ्रगामी देवताओं के लिये ही वायव्य कोण का आश्रय लें, अन्यथा नहीं" इत्यादि नियमों से विभाजित हुई वेद की मर्यादा है। यदि इन मर्यादाओं की सत्ता न स्वीकारें तो इन मर्यादाओं का विभाजन करने वाले वेद की सत्ता भी अस्वीकारनी पड़ेगी। अतः यदि इन मर्यादाओं का विभाजन करने वाले वेद की सत्ता स्वीकारते हैं, तो फिर मर्यादा की भी सत्ता स्वीकारनी पड़ेगी- यह अर्थ है। और, यद्यपि "हे अर्जुन ! इस संसार में दैवी और आसुरी ये दो प्रकार की सृष्टि होती है(भ०गी० १६/६)" इस वाक्यानुसार प्रवाहमार्ग भी पूर्णरूप से व्यवस्थित मार्ग है। जो व्यवस्थित ढंग से स्थापित किया गया है, उसकी सत्ता तो होती ही है ; जैसे कि दायभाग नियम के अनुसार जब किसी का कानूनी अधिकार बनता है तो हमें उसकी सत्ता या अधिकार स्वीकारना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार यदि भगवान ने गीता में प्रवाहमार्ग और मर्यादामार्ग स्थापित कर दिये हैं, तो इनकी सत्ता स्वीकारनी ही पड़ेगी। अतः मर्यादा की भी सत्ता विद्यमान है क्योंकि उसे व्यवस्थित करने वाले वेद की सत्ता भी विद्यमान है। उदाहरण के रूप में जैसे वेद यज्ञ के विषय में विधान करता है तो यज्ञ की सत्ता माननी पड़ती है, वैसे ही यदि गीता में मर्यादा एवं प्रवाह ये दोनों मार्ग बताये हैं, तो फिर इन दोनों मार्गों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। लेकिन फिर भी, प्रवाहमार्ग तो सभी को प्रत्यक्ष दिखाई दे ही रहा है और मर्यादामार्ग भी व्यतिरेक-अनुमानप्रमाणरूप। व्यतिरेक प्रमाण से तात्पर्य यह है कि, यदि मर्यादामार्ग को नहीं स्वीकारते तो फिर उसे बनाने वाला वेद भी नहीं है यह स्वीकारना पड़ेगा। और यदि वेद की सत्ता स्वीकारेंगे, तो फिर वेद में बताये गये मर्यादामार्ग की सत्ता भी स्वीकारनी पड़ेगी) से देखने मिलते ही हैं अतः आपश्री का अभिप्राय यह है कि, आपश्री ने इन दोनों मार्गों की सत्ता बताने का इतना प्रयास या आग्रह नहीं किया जितना कि पुष्टिमार्ग की सत्ता बताने का क्योंकि ये दोनों तो पहले से ही अच्छी तरह प्रमाणित हो चुके हैं।

अत्रैवं स्वरूपनिश्चायनेन यावन्तः पुष्टिप्रयुक्ता मार्गा भक्तिरूपास्ते पुष्टिमार्गेऽन्तर्भवन्ति, ये लौकिकाः सर्गपरम्परां न विच्छिन्दन्ति, ते प्रवाहेऽन्तर्भवन्ति, ये वेदनियमं नातिवर्तन्ते ते मर्यादायामन्तर्भवन्तीत्येवं बुद्धिसौकर्यात् त्रयो मार्गा ज्ञेयाः सन्देहनिरासेप्सुभिरिति बोधितम्।

इस प्रकार से जब पुष्टि के स्वरूप का निश्चय करने पर पुष्टि से जुड़ने वाले जितने भी भक्तिमार्ग हैं, वे सभी पुष्टिमार्ग के ही अंतर्गत समझ लेने चाहिए। जो लौकिक होते हैं और सर्गपरम्परा का विच्छेद नहीं करते, वे सभी मार्ग प्रवाहमार्ग के अंतर्गत समझ लेने चाहिए। जो

१. विभागसार्थक्यात्साऽप्यस्तीत्यर्थः इति पाठः।

वेदनियमों का उल्लंघन नहीं करते, वे सभी मार्ग मर्यादामार्ग के अंतर्गत समझ लेने चाहिए। यों बुद्धि की सुगमता के लिये अपने सन्देह को दूर करने की इच्छा करने वालों को कुल मिला कर ये तीन मार्ग जान लेने चाहिए।

न च भगवद्वाक्ये 'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता' इति ज्ञानकर्मभक्तीनामेवोपायतया मार्गत्वबोधनादेतेषां कथं मार्गत्वमिति शङ्क्यम् । भक्तेर्विचारे तन्मूलभूतानुग्रह एव मार्गत्वस्य पर्यवसानेन, सर्गपरम्पराविचारे 'जायस्व म्रियस्वे'ति श्रुत्युक्तजन्माद्यनुच्छेदरूपफलहेतुतायाः प्रवाह एव पर्यवसानेन, ज्ञानकर्मफलस्य चोक्तविधनियमादेव भवनेन तद्धेतुतायास्तदनतिक्रम एव पर्यवसानेन, तात्पर्यतस्तेषां मार्गत्वस्याप्रत्यूहत्वात् । एतेनैव 'प्रवाहपुष्टिमर्यादाः कुत उत्प्रेक्षिताः किल । दृष्टा वा कुत्रचित् ग्रन्थे मूलमत्र निरूप्यता'मिति भ्रान्तपर्यनुयोगोऽप्यपास्तो बोध्यः ॥३॥

अब आप ये शंका मत करियेगा कि भगवान ने तो भागवत में "हे उद्धव ! मनुष्य का कल्याण करने के लिये मैंने ही ज्ञान-कर्म-भक्ति इन तीन प्रकार के योगों का उपदेश किया है। परमकल्याण के लिये इनसे अधिक और कोई दूसरा उपाय नहीं है(श्री०भा० ११-२०-६)" इस वाक्यानुसार ज्ञान-कर्म-भक्ति ये तीन ही मार्ग बताये हैं तो फिर आचार्यचरण यहाँ उन्हें न बताकर पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा ये तीन मार्ग क्यों बता रहे हैं ? नहीं , आपकी शंका ठीक नहीं है। क्योंकि यदि भक्तिमार्ग का विचार करें, तो उसका मूलभूत तत्त्व तो अनुग्रह ही है। सर्गपरम्परा का विचार करें , तो श्रुति में कहे "जो दुष्ट कर्म करते हैं, उनका "उत्पन्न होओ और मरो" यही तृतीयस्थान होता है(छा०५-१०-८)" इस वाक्यानुसार श्रुति में कहे गये जन्म-मरण की अविरत चलती रहने वाली परम्परा वाली मूलतत्त्व की बात तो प्रवाहमार्ग पर ही आकर खत्म होती है। ज्ञान एवं कर्म से प्राप्त होने वाले फल तो ऊपर वेद में बताये गये कहे नियमानुसार ही प्राप्त होंगे और उन नियमों को न तोड़ने से प्राप्त होंगे अतः मूलतत्त्व की बात तो अंततोगत्वा मर्यादामार्ग पर ही आकर खत्म होती है। इसलिये फलितार्थ कहा जाय तो अंततोगत्वा पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा यों तीन मार्ग ही प्राप्त होते हैं अतः तीन प्रकार के मार्ग कहने में कोई भी आपत्ति नहीं है। मेरे इसी विश्लेषण से किसी भ्रान्त व्यक्ति द्वारा किया गया वह कटाक्ष भी दूर हो गया जिसने इस ग्रन्थ के बारे में "ये पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा इन तीन मार्गों की कल्पना आपने कहाँ से कर ली ? कभी किसी ग्रन्थ में इनके बारे में पढ़ा भी है ? इनका मूल क्या है बताईये ?" इत्यादि बातें कही थीं॥ ३॥

अतः परं भेदसाधनार्थं यतन्ते । तत्र, नन्वस्तु पुष्ट्यादिसत्ता । तावता परस्परविवेकस्तु न सेत्स्यति । तथाहि । 'फलमत उपपत्तेरि'ति न्यायेन फलमात्रं भगवतः सकाशादेव । ब्रह्मवादे च चैतन्यभेदाभावान्नामभेदमात्रं नोपास्यभेदः । अतो लोकास्तत्तन्नाम्ना भजन्तोऽपि तत्तत्फलार्थं तमेव भजन्ते प्रावाहिका अपि । ततः फलं च लौकिकमलौकिकं प्राप्नुवन्तीति सर्वेषां भक्तत्वाविशेषाद्भक्तिमार्गस्य चानुग्रहप्रयुक्तस्य सर्वान् प्रतितुल्यत्वान्न प्रवाहाद्विवेकः शक्यवचनः । मर्यादा तु वेदोक्तत्वाद्विविक्तैवेति द्वावेव मार्गावभ्युपगन्तव्यावित्याशङ्कायामाहुः कश्चिदेव हीति ।

अब इसके पश्चात् इन तीनों मार्गों में आपस में क्या अंतर है, यह बताया जा रहा है। [[कोई पूर्वपक्षी शंका करता है। वह कहता है- भले पुष्टि आदि मार्गों की सत्ता हो परन्तु मात्र पुष्टि की सत्ता सिद्ध हो जाने से यह सिद्ध नहीं होता कि, प्रवाह और मर्यादा कोई अलग मार्ग हैं। प्रश्न यह है कि, "जीवों के कर्मों का फल परब्रह्म से ही प्राप्त होता है(ब्र०सू० ३-२-३८)" इस वाक्यानुसार चाहे कोई भी मार्ग क्यों न हो परन्तु फलप्राप्ति तो भगवान से ही होती है। ब्रह्मवाद की दृष्टि से भी यदि देखें तो केवल उपासनापद्धति के नाम ही तो अलग-अलग हैं , चैतन्य का भेद तो नहीं है (अर्थात् चैतन्य-ब्रह्म तो सभी स्थान पर एक ही है) और उपास्य-भगवान भी एक ही हैं। अतः फलितार्थ यह हुआ कि लोग अलग-अलग नाम से भगवान का भजन करते हुए भी अपने अपने फलों की कामना लेकर केवल एक ही ब्रह्म की उपासना कर रहे हैं, भले ही फिर प्रावाहिकजीव भी क्यों न हों और उसी एक ब्रह्म से वे लौकिक या अलौकिक फल भी पा रहे हैं अतः भगवद्भजन करने वाले सभी को एक समान मानना चाहिए। साथ ही साथ आप जिस अनुग्रह से युक्त भक्तिमार्ग की बात कर रहे हैं, वह भी सभी के प्रति समान ही हो गया क्योंकि देर-सवेर फल तो सभी को मिल ही रहा है ! इसलिये प्रवाहमार्ग को पुष्टिमार्ग से अलग नहीं कह जा सकता। और जहाँ तक मर्यादामार्ग की बात है, तो मर्यादामार्ग तो वेद में कह ही दिया गया है अतः वह तो एक अलग मार्ग है ही , इस कारण कुल मिलाकर पुष्टि एवं मर्यादा केवल यही दो मार्ग हैं- यों ही समझना चाहिए।]] यदि कोई इस प्रकार से कहता हो तो आचार्यचरण कश्चिदेव हि इत्यादि शब्दों से समाधान कर रहे हैं।

कश्चिदेव हि भक्तो हि 'यो मद्भक्त' इतीरणात् ।
न सर्वोतः प्रवाहाद्धि भिन्नो वेदाच्च भेदतः ॥४॥

---

१. तत्रैवेति पाठः ।

'यदा यस्ये'ति वचना'न्नाहं वेदै'रितीरणात् ।
सर्वत्रोत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः ॥५॥

गीतायां 'यो मद्भक्तः स मे प्रिय' इति भगवता यच्छब्दोपबन्धेन कस्यचिदेव भक्तत्वं बोधितम् । अतो न सर्वोऽपि लोको भक्तः । एवं परिसंख्याते भक्ते तत्प्रयोजको मार्गोऽपि प्रवाहाद्भिन्नः असङ्कीर्णः । तथाच भजनमात्रं न भक्तिः । किन्तु प्रियत्वप्रयोजकं भजनम् । अत एव 'अनपेक्षः शुचिर्दक्षः', 'मय्यर्पितमनोबुद्धि'रित्यादि विशिनष्टि । 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थ'मित्यत्रापि 'चतुर्विधा भजन्ते मा'मिति भक्तिमेवोपक्रम्य ज्ञानिनो भक्तस्यात्मत्वं वक्ति, न केवलज्ञानिनः । तेन तादृशभक्तेरेव मार्गत्वात्तद्भ्याया: पुष्टेः प्रवाहेणासाङ्कर्यात्सिद्धास्त्रयो मार्गा इत्यर्थः ।

इसके समाधान में सर्वप्रथम तो ये समझें कि "जिसने अपनी मन-बुद्धि को मुझ में ही अर्पण कर रखा है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है(भ०गी० १२/१४)" इस भगद्वाक्य में "यत्" शब्द से यह सिद्ध होता है कि, कोई विरला ही भक्त होता है। अतः "सभी लोग भक्त नहीं होते" - यह इस वाक्य का फलितार्थ हुआ। इस प्रकार से जब किसी व्यक्तिविशेष को ही भक्त कहा जा सकता है, तो उस भक्त का मार्ग भी सबसे अलग ही होगा जो प्रवाह से भिन्न होगा। एक बात और भी है कि, केवल भजन करना ही भक्ति नहीं है किन्तु अपने भजनीय भगवान से प्रेम रखते हुए किया जाने वाला भजन ही भक्ति कहलाता है। इसी कारण गीता के "जो अनपेक्ष, शुद्ध, कुशल और अनासक्त है और किसी फल के लिये प्रयत्न नहीं करता, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है(भ०गी० १२-१६)" , "जिसने अपनी मन-बुद्धि को मुझ में ही अर्पण कर रखा है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है(भ०गी० १२/१४)" इत्यादि में भक्त के लक्षण बताने वाले वाक्य कहे गये हैं। इसी प्रकार "इन सब में शुद्ध भक्तियोग द्वारा मुझसे युक्त ज्ञानी सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि मैं उसे अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे अतिशय प्रिय है(भ०गी० ७-१७)" इस वाक्य के अंतर्गत भी "हे अर्जुन ! विपदाग्रस्त, धन की इच्छा रखने वाले, जिज्ञासु और ज्ञानी - ये चार प्रकार के पुण्यात्मा मेरी भक्ति करते हैं(भ०गी० ७-१६)" इस वाक्य से आरंभ करके यदि आप ध्यान दें, तो भगवान ने ज्ञानीभक्त को अपनी आत्मा बताया है , केवल ज्ञानी को नहीं। अतः इन वाक्यों में कही भक्ति ही भक्तिमार्ग है और इस भक्तिमार्ग से ज्ञात होने वाली पुष्टि है, जो प्रवाहमार्ग से भिन्न है। यों तीन अलग-अलग मार्ग सिद्ध हो जाते हैं।

नन्वस्त्वेवम्, तथापि मर्यादया साङ्कर्यं दुर्वारम् । तथाहि । भक्तिमार्गो नाम किं श्रवणादिसरणिरूपः, उत 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः । स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथे'ति पञ्चरात्रोक्तमाहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहसरणिरूपः । आद्यश्चेत् 'धारयति रसति भजती'त्यादिश्रुतिसिद्धः । द्वितीयश्चेत् , सृष्ट्यादिवाक्यैर्माहात्म्यस्य 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवती'त्यादिभिर्निरूपाधिप्रीतिविषयत्वस्य च प्रतिपादनान्माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेह एव श्रुतेस्तात्पर्यमिति तद्गोचरः । पुराणानां श्रुत्युपबृंहणत्वात्तदुक्तत्वेऽपि श्रुतिमूलकत्वेन विधिविषयत्वान्मर्यादातो नातिरिच्यते । यत्पुनर्देवान्तरभजनम्, तदपि 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ती'ति श्रुतेर्भगवद्भजनमेवेति द्वावेव मार्गावित्याशङ्कायामाहुः **वेदाच्च भेदत** इति । वक्ष्यमाणहेतुभिः वेदात् वेदोक्तमर्यादामार्गाच्च । लोकादपि भेदं प्राप्य पुष्टिरस्तीत्यन्वयः । अनुग्रहः स्वविषयं पुष्णातीति पुष्टिः । कर्तरि क्तिच्। सेतुर्विधृतिरितिवत् । वेदादिति वाच्यवाचकयोरभेदोपचारान्निर्देशः । तथाच, 'यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः । स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिता'मित्यत्र लोकवेदौ पृथङ्निर्दिश्य भगवदनुगृहीतस्य तयोरास्थात्यागं वक्ति । यद्यनुग्रहो लौकिकेषु वैदिकेषु वा साधनेषु प्रविशेत्, तदैवं सामान्येनारुचिं न वदेत् ।

[[अब पूर्वपक्षी दूसरी शंका करता है। वह कहता है , भले ही प्रवाहमार्ग पुष्टिमार्ग से अलग मार्ग हो, तथापि पुष्टिमार्ग एवं मर्यादामार्ग को तो अलग-अलग मार्ग नहीं कहा जा सकता। वह पूछता है कि सबसे पहले यह बतायें कि, भक्तिमार्ग क्या श्रवण-कीर्तन आदि नवधा भक्ति का मार्ग है अथवा तो नारदपंचरात्र में कहे "माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ़, स्नेह ही भक्ति है। उसी भक्ति से मुक्ति संभव है , अन्यथा नहीं(नारदपंचरात्रस्मृति १-८६)" इस वाक्यानुसार क्या भगवान के माहात्म्यज्ञान का अनुसंधान रखते हुए स्नेह करना भक्ति है ? यदि पहला विकल्प मानें तो यह "ध्यायति रसति भजति गोपालतापनीयोपनिषद् १-१)" इस श्रुति द्वारा प्रमाणित ही है। और यदि दूसरा वाला विकल्प मानें तो माहात्म्यज्ञानपूर्वक वाली बात भी श्रुति में पहले ही कह दी गयी है। श्रुति में सृष्टि की चर्चा करने वाले समस्त वाक्य ब्रह्म के माहात्म्य का ही द्योतन कर रहे हैं एवं "माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ, सर्वतोऽधिक प्रकार से भगवान में स्नेह होना भक्ति कही गयी है, उसी भक्ति से मुक्ति प्राप्त होती है, अन्य किसी प्रकार से नहीं(नारदपंचरात्रस्मृति १-८६)" इत्यादि श्रुतिवाक्यों में निःस्वार्थरूप से भगवान में ही प्रीति रखनी बतायी गयी है अतः कुल मिला कर भगवान का माहात्म्यज्ञान समझते हुए उनसे स्नेह करना ही श्रुति का मूल तात्पर्य है, जिसकी बात आप पुष्टिमार्ग के संदर्भ में कह रहे हैं। इस कारण पुष्टिमार्ग में भी श्रुति की ही बात

बतायी जा रही है अतः पुष्टिमार्ग को मर्यादामार्ग ही कहा जायेगा। पूर्वपक्षी आगे कहता है - यदि आप पुराणों के उदाहरण देकर पुष्टिमार्ग की सत्ता को सिद्ध करना चाहें , तो पुराण भी आखिरकार श्रुतिमूलक होने के कारण ही तो प्रमाण माने जाते हैं अतः यदि पुराणों में भी पुष्टिमार्ग/भक्तिमार्ग की बात कही गयी हो तो वह भी श्रुति में ही कही बात मानी जायेगी। इसलिये यदि ये बात श्रुति में कही गयी है तो यह विधि-विधान वाली बात हो गयी और यदि विधि-विधान की बात है, तो उसे मर्यादामार्ग ही कहा जायेगा। इसलिये भक्तिमार्ग को मर्यादामार्ग से भिन्न नहीं कहना चाहिए। और, यदि आप ये तर्क देना चाहते हों कि मर्यादामार्ग में तो कई प्रकार के देवताओं के भजन की बात आती है परन्तु भक्तिमार्ग में तो अनन्यतापूर्वक केवल एक का ही भजन करने का विधान है अतः भक्तिमार्ग इस अर्थ में मर्यादामार्ग से भिन्न हो गया, तो आपका यह तर्क भी कारगर सिद्ध नहीं होगा क्योंकि "सत्य तो एक ही है परन्तु अनेक प्रकार से कहा जाता है(ऋग्वेद १-१६४-४६)" इस श्रुति के अनुसार सभी देवताओं का भजन अंततोगत्वा एक ही भगवान का भजन करना होता है ; अतः सिद्ध होता है कि, कुल दो ही मार्ग है - एक मर्यादामार्ग और दूसरा प्रवाहमार्ग।)] यदि पूर्वपक्ष उपर्युक्त शंका करता हो तो आचार्यचरण इसका समाधान वेदाच्च भेदतः इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। आपश्री के कथन का अन्वय यह है कि, पुष्टिमार्ग वेदोक्तमर्यादा से एवं लोक(प्रवाह)मार्ग से भी भिन्न है। पुष्टि का अर्थ है- अपने विषय को पुष्ट करने वाली को पुष्टि कहते हैं। पुष्टि शब्द में कर्ता में "क्तिच्" प्रत्यय हुआ है और पुष्टि शब्द बना है , ठीक वैसे ही बना है जैसे "सेतु" शब्द कहने के लिये "विधृति" शब्द बना दिया जाता है। वेदात् शब्द से ही अर्थ कर लेना चाहिए कि - वेद में कहा गया मर्यादामार्ग। यहाँ फलितार्थ यह है कि, भले ही आपश्री ने पृथक् रूप से मर्यादामार्ग नहीं कहा परन्तु वेदात् शब्द में वाच्य-वाचक का भेद न रखते हुए केवल वेदात् शब्द से ही मर्यादामार्ग का अर्थ भी समझ लेना चाहिए। संस्कृत में कभी-कभी वाच्य और वाचक को एक ही शब्द से कह दिया जाता है। वाच्य का अर्थ होता है- जिसके विषय में कहना हो। वाचक का अर्थ होता है- जिस शब्द से कहना हो। अर्थात् जिसके लिये कुछ बताना हो या कहना हो उसे "वाच्य" कहते हैं और जिस शब्द के द्वारा उसे बताया जाय, वो "वाचक" कहलाता है। संस्कृत में कभी-कभी वाच्य और वाचक दोनों के लिये अलग-अलग शब्दों का प्रयोग न करते हुए एक ही शब्द से कह दिया जाता है। उदाहरण के रूप में यहाँ आचार्यचरणों ने "वेद" शब्द कहा है। "वेद" शब्द से आपश्री को वेद में कहे मर्यादामार्ग की बात बतानी है। अतः "वेद" शब्द वाचक है और वेद शब्द से बताया जाने वाला "मर्यादामार्ग" वाच्य हुआ। टीकाकार का कहना है कि, ऊपर कहे संस्कृत के प्रयोग को ध्यान में रखते हुए "वेद" शब्द को वाच्य और वाचक दोनों में प्रयुक्त हुआ मानना चाहिए। फलितार्थ यह हुआ कि, यदि आपश्री ने केवल "वेद" शब्द कहा है तो इससे आपश्री मर्यादामार्ग के विषय में भी कह दे रहे हैं- यह अर्थ है। **यह समझें कि "हृदय में बार-बार चिन्तन किये जाने पर भगवान जिस समय जिस जीव पर कृपा करते हैं, वह लौकिकव्यवहार एवं वैदिक कर्ममार्ग की बद्धमूल आस्था से छुट्टी पा जाता है(श्री०भा० ४-२९-४६)" इस वाक्य में लोक एवं वेद को अलग-अलग बताया गया है एवं यह बताया गया है कि जो भगवान द्वारा अनुग्रहीत होता है , वह लोक-वेद में अपनी आस्था का त्याग कर देता है। अब आप ही बताईए कि, यदि भगवान द्वारा अनुग्रह करना लौकिक या वैदिक विषयों से सम्बन्धित ही कोई बात होती, तो उपर्युक्त श्लोक में भला यह क्यों कहा जाता कि, भगवदनुग्रहीत भक्त लोक एवं वेद में रही अपनी आस्था का त्याग कर देता है।**

किञ्च । 'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया । शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा । भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तपे'त्यत्र वेदादिपदैरुक्तानां ब्रह्मचारिवनस्थगृहस्थधर्माणां 'श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तपे'पि वचनादिहेज्यापदसङ्ग्रहीतस्य यतिधर्मस्य ज्ञानस्यापि दर्शनसाधनत्वमुपलक्षणविधया निधिध्य स्वविषयकस्य ज्ञानस्य ज्ञानफलयोर्दर्शनप्रवेशयोश्चानन्यभक्तिसाधनकत्वं वदति । तेनापि ज्ञायते, अनन्या भक्तिर्नोक्तधर्मेषु प्रविशति, केवलैव च फलं साधयतीत्यतोऽपि तत्कारणभूता पुष्टिस्तथा ।

यदि अनुग्रह लौकिक या वैदिक मार्गों में कहे जाने वाले साधनों के अंतर्गत कोई साधन होता, तो फिर इस श्लोक में भगवदनुग्रहीत भक्त की सामान्यतया लोक एवं वेद में अरुचि न कही गयी होती। और तो और ,"हे अर्जुन ! मेरे जिस रूप को तू अपने नेत्रों से देख रहा है, उसे न वेदों से, न तप से, न दान से और न पूजा से जाना जा सकता है। इन साधनों के द्वारा मेरा साक्षात्कार नहीं हो सकता(भ०गी ११-५३)" इस श्लोक में वेद-तप-दान- ईज्या(पूजा) इत्यादि पदों द्वारा जो ब्रह्मचारी-वानप्रस्थी एवं गृहस्थ के धर्म कहे गये हैं , उसमें से "ईज्या" पद का अर्थ वैसे तो पूजा होता है परन्तु समझने वाली बात यह है कि उपलक्षण विधि द्वारा गीता के "हे परंतप ! द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ उत्तम है क्योंकि सब कर्मों का पर्यवसान दिव्यज्ञान ही है(भ०गी० ४-३३)" इस वाक्य में जिस ज्ञान की बात की गयी है, वही ज्ञान ऊपर कहे ईज्या शब्द का अर्थ है। तात्पर्य यह हुआ कि ऊपर कहे "नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न च ईज्यया(भ०गी ११-५३)" इस

श्लोक में ईज्या शब्द का अर्थ "ज्ञान" है। दोनों गीतावाक्यों के प्रकाश में कुलमिला कर भगवान के वाक्यों का अर्थ यह हुआ कि - संन्यासधर्म के अंतर्गत बताये गये कोरे ज्ञान से भी मेरे दर्शन होने संभव नहीं है अपितु मुझसे सम्बन्धित या मेरा विषयक ज्ञान ही मेरे दर्शन एवं मुझमें प्रवेश करा सकता है जो कि केवल मेरी भक्ति से ही संभव है। इन सभी विवेचनों से पता चलता है कि,अनन्यभक्ति को ऊपर कहे वेद-तप-ज्ञान इत्यादि से कोई भी लेना-देना नहीं है, ज्ञानकर्मरहित केवलभक्ति ही फल सिद्ध कराती है और जब ज्ञानकर्मरहित केवलभक्ति ही फल सिद्ध कराती है तो स्वाभाविक है कि इस भक्ति की मूलकारण पुष्टि भी ज्ञानकर्म से रहित ही है।

किञ्च । 'नायमात्मे'ति श्रुतावपि प्रवचनादिनिषेधपूर्वकं वरणैकलभ्यत्वं वृतं प्रत्येव स्वस्वरूपविवरणं चोक्तम् । तेन वरणस्यैवोत्कर्ष उक्तः । वरणं चानुग्रहप्रयुक्तोऽङ्गीकार एव । तथा 'अथैतत्परमं गुह्यं श्रृण्वतो यदुनन्दन । सुगोप्यमपि वक्ष्यामि','रामेण सार्धं', 'प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्','भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते', 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्','वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा','केवलेन हि भावेन','ता मन्मनस्का' इत्यादिषु भक्त्युत्कर्षकथनेनापि तत्कारणीभूतपुष्टेरेवोत्कर्षः सिद्धः । अतो वेदोक्तत्वेऽपि वेदतात्पर्यगोचरत्वेऽपि जीवकृतवैधसाधनेष्वप्रवेशात्तदसाध्य-साधनात्फलवैलक्षण्याच्च स्वरूपतः कार्यतः फलतश्चोत्कर्षाच्च वेदोक्तसाधनेभ्योऽपि भिन्नैव तत्तदाकारिका पुष्टिरस्तीत्यतो हेतोः सिद्धं मार्गत्रयमित्यत्र न सन्देह इत्यर्थः ॥४ ॥ ५॥

और, "यह परमात्मा न तो वेद के प्रकर्ष वचनों(प्रवचन) द्वारा, न बहुत सुनने से, न बुद्धि से ही प्राप्त हो सकता है परन्तु यह परमात्मा जिसका वरण कर लेता है, उसी को प्राप्त हो सकता है(कठो०उप० १-२-२३)" इस श्रुति में भी "प्रवचन से भगवान नहीं मिलते" यों प्रवचन का निषेध करते हुए यह कहा गया है कि, स्वयं भगवान जिसका वरण करते हैं, उसी को प्राप्त होते हैं और जिसका भगवान ने वरण किया है उसी के प्रति अपना स्वरूप प्रदर्शित करते हैं- यह कहा गया है। इस श्रुति में भी भगवान द्वारा वरण किये जाने का ही उत्कर्ष बताया गया है, ज्ञान-कर्म इत्यादि का नहीं। और वरण का अर्थ तो भगवान द्वारा अनुग्रह किये जाने के पश्चात् अंगीकार कर लिया जाना ही है। और, "हे उद्धव ! अब मैं तुम्हें एक परम गोपनीय परम रहस्य की बात बताउँगा क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो(श्री०भा० ११-११-४९)" , "हे उद्धव ! जिस समय अक्रूरजी मुझे भैया बलराम के साथ मथुरा से ले आये, उस समय गोपियों का हृदय गाढ़ प्रेम के कारण मेरे अनुराग के रंग से रंगा हुआ था। उन्हें मेरे अतिरिक्त अन्य कोई दूसरी वस्तु सुखकारक नहीं लगती थी(श्री०भा० ११-१२-१०)" , "भगवान तो केवल निष्कामभक्ति से प्रसन्न होते हैं, बाकी सब कुछ तो विडम्बना मात्र है(श्री०भा० ७-७-५२)", "जिसे मेरी भक्ति प्राप्त हो जाए, उसे फिर क्या प्राप्त होना शेष रह जाता है ?(श्री०भा० ११-२६-३०)" , "जो मुझे भक्ति से भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें(भ०गी ९-२९)" , "जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रत्य से पति को वश में कर लेती है, वैसे ही साधुजन मुझे भक्ति से वशीभूत कर लेते हैं(श्री०भा० ९-४-६६)" , "गोपियाँ, गाएँ , यमलार्जुन आदि वृक्ष, व्रज के हरिण, कालियनाग इत्यादि ने केवल भाव के कारण मेरी प्राप्ति कर ली(श्री०भा० ११-१२-८)" , "हे उद्धव ! गोपियों का मन नित्य मुझमें ही लगा रहता है। उनके प्राण, उनका जीवन, उनका सर्वस्व मैं ही हूँ(श्री०भा० १०-४६-४)" इत्यादि श्लोकों में भले ही भक्ति का उत्कर्ष बताया गया हो, तथापि इन सभी में भक्ति को उत्पन्न करने वाली कारणीभूत पुष्टि का ही उत्कर्ष सिद्ध होता है। इसलिये भले ही पुष्टि वेद में कही गयी हो और पुष्टि वेद का ही तात्पर्य बताती है, तब भी पुष्टि/कृपा जीवकृत साधनों से प्राप्त नहीं हो सकती अतः पुष्टि जीवकृत साधनों से असाध्य है, इसका फल अन्य मार्गों से विलक्षण है और इसी कारण स्वरूप-कार्य-फल इन सभी दृष्टि से इसका उत्कर्ष है ॥ ४ ॥ ५ ॥

ननु भवत्वेवं स्वरूपविवेकः, तथापि 'धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः । नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्' । 'श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये । तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्' 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जन'मित्यादिभिः केवलस्यैव निन्दास्मरणात् 'निबन्धायासुरी मते'त्यादौ प्रवाहैकदेशस्यैव तथात्वात्तादृशामेवारुच्यत्वादसाधनत्वबोधनेन 'यदा यस्ये'त्यादीनां चारितार्थ्यादैवसर्गस्यानिन्दया 'सर्वेऽधिकारिणो ह्यत्र विष्णुभक्तौ यथा नृपे'त्यादिभिश्च तस्य सर्वस्यापि भक्त्यनुकूलत्वेन 'दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः । श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते', 'ज्ञानी च भरतर्षभ', 'आत्मारामाश्च मुनय' इत्यादिभिर्भक्तिसाधनतास्मरणाच्चाङ्गभावेन प्रवाहमर्यादयोर्भक्तिशरीरप्रवेशे एको मार्ग एवास्तु, न त्वत्यन्तविवेक इत्याशङ्क्यामून्द्य दूषयन्ति मार्गैकत्वेऽपीति ।

चलिए एक घड़ी मान लिया कि, यों अलग-अलग तीन प्रकार के मार्ग है तथापि शंका यह है कि, "धर्म का ठीक-ठीक अनुष्ठान करने पर भी यदि मनुष्य के हृदय में भगवान की लीलाकथा का उदय न हो तो वह निरा श्रम ही है(श्री०भा० १-२-८)" , "हे प्रभो ! आपकी भक्ति ही सब प्रकार के कल्याण का मूलस्रोत है। जो लोग आपकी भक्ति को छोड़कर केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिये श्रम उठाते हैं, उनको

वस क्लेश ही क्लेश हाथ लगता है(श्री०भा० १०-१४-४)" , "मोक्ष देने वाला निर्मल ज्ञान भी यदि भगवान की भक्ति से रहित है तो उसकी इतनी अधिक शोभा नहीं होती । जो कर्म भगवान को अर्पण नहीं किया गया है, वह कितना भी ऊँचा क्यों न हो, वह अमंगल और दुःख देने वाला ही है(श्री०भा० १२-१२-५२)" इत्यादि श्लोकों में ज्ञान/केवल की निन्दा बतायी गयी है और साथ ही साथ "दैवीगुण मोक्ष के लिये और आसुरीगुण बन्धनकारी है(भ०गी० १६-५)" इस श्लोक में प्रावाहिकों की भी निन्दा की गयी है और ये कहा गया है कि इन्हें परमार्थ के साधनों में रुचि नहीं होती अतः ये भगवत्प्राप्ति के साधनों को प्राप्त नहीं करते । और, "हृदय में बार-बार चिन्तन किये जाने पर भगवान जिस समय जिस जीव पर कृपा करते हैं, वह लौकिकव्यवहार एवं वैदिक कर्ममार्ग की बद्धमूल आस्था से छुट्टी पा जाता है(श्री०भा० ४-२९-४६)" इन वाक्यों द्वारा भी यह बात सिद्ध हो जाती है कि भगवत्प्राप्ति के लिये लौकिक-वैदिक साधनों की आवश्यकता नहीं होती एवं दैवीदृष्टि की तो स्तुति की गयी है । इस परिस्थिति में एवं "विष्णु की भक्ति करने के तो सभी अधिकारी हैं (पद्मपु०-स्वर्ग० २९-४१)" इत्यादि वाक्यों के अनुसार इन सभी को भक्ति के अनुकूल क्यों न मान लिया जाय ? और, "दान-व्रत-तप-होम-जप-स्वाध्याय-ध्यान-धारणा-समाधि इत्यादि साधनों के द्वारा भगवान की भक्ति के लिये प्रयत्न किया जाता है(श्री०भा० १०-४७-२४)" , "अर्जुन ! विपदाग्रस्त, धन की इच्छा रखने वाले, जिज्ञासु और ज्ञानी - ये चार प्रकार के पुण्यात्मा मेरी भक्ति करते हैं(भ०गी० ७-१६)", "जिनकी अविद्या की गांठें खुल गयी हैं, और जो सदा आत्मा में ही रमण करने वाले हैं, वे भी भगवान की हेतुरहित भक्ति किया करते हैं(श्री०भा० १-७-१०)" इत्यादि वाक्यानुसार दान-व्रत-तप इत्यादि सभी को तो भक्ति बढ़ाने के साधन बताये गये हैं अतः प्रवाह एवं मर्यादा को भक्ति का अंग मानते हुए क्यों न एक भक्तिमार्ग ही माना जाय, अलग-अलग तीन मार्ग मानने की आवश्यकता है ? आचार्यचरण किसी पूर्वपक्षी की ऐसी संभावित शंका का विचार करके ऐसा मानने में क्या दोष है , यह मार्गैकत्वेऽपि इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं ।

मार्गैकत्वेपि चेदन्त्यौ तनू भक्त्यागमौ मतौ ।
न तद्युक्तं सूत्रतो हि भिन्नो युक्त्या हि वैदिकः ॥६॥

अपिः पूर्वपक्षगर्हायाम् । उक्तरीत्या मार्गैकत्वे अन्त्यौ मर्यादाप्रवाहौ भक्त्यागमौ भक्तेरागमोऽभिव्यक्तिर्याभ्यां तादृशौ तनू अङ्गभूतौ मतौ त्वयाङ्गीकृतौ । यद्वा । तनू न्यूनफलसाधनत्वादल्पौ । हेतुगर्भं विशेषणम्। तनुत्वात् उक्तरीत्या भक्तिहेतू शास्त्रसम्मतौ चेत्, तदङ्गत्वं हेतुत्वं वा न युक्तम् । हि यस्माद्धेतोः वैदिको मार्गः सूत्रतः कर्मज्ञानविचारकेभ्यो मीमांसाद्वयसूत्रेभ्यां युक्त्या तत्तत्फलयोजनया हि निश्चयेन भिन्नः । सूत्रे हि जैमिनीये 'शेषः परार्थत्वादि'ति लक्षयित्वा 'कर्म फलार्थत्वादि'ति कर्मणः फलशेषत्वमुक्तम् । फलं च ज्योतिष्टोमादिवाक्ये स्फुटम् । विश्वजिदादिवाक्ये तु 'स स्वर्गः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशेषादि'त्यनेन व्यवस्थापितमिति कर्माणि तावता चरितार्थानि शेषित्वेन भक्तिं नापेक्षन्ते ।

इस कारिका में अपि शब्द पूर्वपक्ष की निन्दा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । आपश्री इस कारिका में आज्ञा करते हैं - यदि तुम प्रवाह एवं मर्यादा मार्ग को भक्ति के ही अंतर्गत मान लेते हो अर्थात् इन दोनों को भक्ति का अंग मान लेते हो तो यह ठीक नहीं है । अर्थात् मर्यादा और प्रवाह को भक्ति के आगम मानकर इन्हें भक्ति का अंग मानना ठीक नहीं है । अथवा तो तनु शब्द को न्यूनता के अर्थ में मान कर इन दोनों मार्गों को न्यून फल सिद्ध कराने वाले मार्ग मान कर अल्प मान लेते हो, तो इस प्रकार से इन्हें अंग मानना युक्त नहीं है । क्योंकि वैदिकमार्ग सूत्रतः अर्थात् कर्म एवं ज्ञान का विचार करने वाले पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा दोनों प्रकारों के सूत्रों की दृष्टि से एवं युक्त्या अर्थात् इन दोनों मीमांसा से प्राप्त होने वाले फलों की दृष्टि से सोचें तो पुष्टिमार्ग निश्चितरूप से भिन्न मालूम पड़ेगा । जैमिनीसूत्र में "शेषः परार्थत्वात् (अध्याय ३-पाद १-सूत्र २)" इस सूत्र द्वारा "फलार्थत्वात् (अध्याय ३-पाद १-सूत्र ४)" इस सूत्र से यह बताया गया है कि, कर्म से ही फल प्राप्त होता है । और, कर्म से प्राप्त होने वाले फल के विषय में ज्योतिष्टोम-आदि वाक्य में स्वर्गप्राप्ति (तांड्य ब्राह्मण खंड १८-७) इत्यादि फल बताये गये हैं । विश्वजिदादि-अधिकरण में "स स्वर्गः स्यान्सर्वान्प्रत्यविशेषात् (जैमिनीकर्ममीमांसा ४-३-१४)" इस सूत्र द्वारा कर्म को स्वर्गप्राप्ति का साधन बताया गया है और देखिए कि कर्म इतना फल दिला कर पूरा हो गया , अब स्वर्गप्राप्ति के आगे वह भक्ति या अन्य किसी फल को नहीं दिला सकता ।

एवं 'अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तमि'ति वैयासे सूत्रे 'परं ब्रह्मैतद्यो धारयति रसति भजति ध्यायति प्रेमति श्रृणोति श्रावयत्युपदिशत्याचरति सोऽमृतो भवती'ति भगवद्धर्माणां मुक्तिसाधनत्वमाथर्वणोपनिषदि श्रुतम् । 'तमेवं विद्वानमृत इह भवती'ति तैत्तिरीये श्वेताश्वतरे च ज्ञानस्य श्रुतम् । तत्र किं सर्वेषां कारणता, उत ज्ञानस्यैवेति सन्देहे, 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाये'त्यन्यनिषेधात् साधनवैजात्ये फलवैजात्यस्य दृष्टस्य मुक्तावयुक्तत्वात् 'भक्त्या मामभिजानाती'ति भक्तेर्ज्ञानोपक्षीणत्वाच्च

ज्ञानादेव मोक्ष इति प्राप्ते, 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि अस्थूलमनणु', 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते', 'अदृश्यमग्राह्यमि'त्यादिश्रुत्युक्तानामक्षरधियामक्षरविषयकज्ञानानाम् । तुः पूर्वपक्षनिरासे। अवरोधो मुक्तिसाधनेषु सङ्ग्रहः । सः सामान्यतद्भावाभ्याम् । उक्तश्रुतौ यथा धर्माणां पुरुषोत्तमसम्बन्धित्वं श्रुतम्, तथा तैत्तिरीयखिले 'अम्भस्यपार' इत्युपक्रम्य, 'तदक्षरे परमे व्योमन्नि'ति भगवत्स्थानत्वेनाक्षरस्यापि श्रुतम् । अतो भगवद्धर्माक्षरयोः सामान्यम् । तथा 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती'ति श्रुतौ यस्तद्भावः ज्ञानिनो ब्रह्मभाव उक्तः, सोऽपि 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मे'त्यत्र परमभक्तिप्राप्तौ स्वरूपयोग्यतासम्पादकत्वेन स्मृत इति ताभ्यां हेतुभ्याम्, न तु साक्षात्पुरुषोत्तमप्राप्तिसाधनत्वेन । नन्वेवं स्मृतावुच्यते । श्रुतौ तु तत्र विश्राम्यते इति विरोधः । किञ्च । अक्षरमप्यविशिष्टमिति तद्वित्सु केषाञ्चित्तत्सायुज्यम्, केषाञ्चिद्भक्तिलाभ इति निर्हेतुकं वैषम्यम् । तदुभयं कथं निरसनीयमित्याशङ्कायां दृष्टान्तेनाह औपसदवदिति । यथा उपसदाख्यकर्मसम्बन्धिनि तानूनप्वस्पशाख्ये कर्मणि 'अनाधृष्टमस्यनाधृष्यमि'ति मन्त्रेण तानूनप्वाख्यं ग्रौवाज्यात्सुचि चतुरवत्तमाज्यं षोडशर्त्विजः 'अनु मे दीक्षामि'ति मन्त्रेण यजमानश्च स्पृशन्ति । तत्र कल्पे श्रुतौ च श्रूयते 'यमृत्विजं कामयेत यज्ञयशसमृच्छेदिति तं प्रथममवमर्शये'दिति । अत्र सर्वेषामृत्विजां तुल्यत्वेऽपि यथा यजमानेच्छया फलवैषम्यम्, एवमिहापि भगवदिच्छया । अत्र सम्मतिमाह तदुक्तमिति । गीतास्विति शेषः । 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ती'त्यादिना, 'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यये'त्यनेन तथाचोपबृंहणत्वात्र विरोधो, नापि निर्हेतुकं वैषम्यमिति प्रतिपादितम् ।

इसी प्रकार व्यासजी ने "अक्षरधियां तु अवरोधः सामान्य-तद्भावाभ्याम् औपसदवत् तदुक्तम् (ब्र०सू० ३-३-३३)" इस सूत्र में निम्नलिखित बातें प्रतिपादित की हैं। आगे बढ़ने से पूर्व अध्येताओं के लिये यह समझ लेना आवश्यक है कि व्यासजी ने किस बात का सपष्टीकरण करने के लिये उपर्युक्त सूत्र बनाया है। वह यह कि, कुछ श्रुतियों ने भक्ति को मुक्ति का साधन बताया है एवं कुछ श्रुतियां ज्ञान को मुक्ति का साधन बतातीं हैं। अब सन्देह यह होता है कि भक्ति को मुक्ति का साधन माना जाय कि ज्ञान को ? इसके समाधान में यह कहा गया कि "नान्यः पन्था" , " भक्त्या मामभिजानाति" इत्यादि श्रुतियां यह कहतीं हैं कि केवल ज्ञान ही मुक्ति का साधन है। किन्तु व्यासजी का कहना यह है कि यह बात श्रुति/वेद को सर्वांश में अभिप्रेत नहीं है कि, केवल ज्ञान ही मुक्ति का कारण हो सकता है। और श्रुति ने ज्ञान को क्यों और किस अर्थ में मुक्ति का साधन बताया है, इसका स्पष्टीकरण करने के लिये व्यासजी ने उपर्युक्त सूत्र बनाया है। इस सूत्र में व्यासजी ने यह कहा है कि- श्रुति में अक्षरसंबंधी ज्ञान को मुक्ति का साधन केवल "सामान्य" और "तद्भाव" इन दो हेतुओं के कारण ही बताया गया है। "सामान्य" शब्द का अर्थ है- समानता। "तद्भाव" शब्द का अर्थ है- ब्रह्मभाव प्राप्त कर लेना। व्यासजी का कहना यह है कि, ज्ञान को तो केवल इन दो हेतुओं के कारण ही मुक्ति का साधन मान लिया जाता है परन्तु वास्तव में ज्ञान मुक्ति का साधन नहीं है। ज्ञान वैसे तो ब्रह्मप्राप्ति में स्वतन्त्ररूप से साधन नहीं होता परन्तु जैसे कि "उपसद" नामक कर्म में यजमान अपनी स्वतन्त्र इच्छा से किसी एक हृत्विक को यज्ञ का विशेष फल दे देता है, ठीक वैसे ही भगवान विशेष अनुग्रह करके उस ज्ञानी को ब्रह्मभाव दे देते हैं। सिद्ध यह हुआ कि भगवत्प्राप्ति में भी मूलहेतु भगवान का अनुग्रह ही है। [[अब इस सूत्र के अंतर्गत व्यासजी ने इस बात पर विचार किया कि, श्रुति में भगवत्प्राप्ति के लिये दो बातें या दो साधन कहे गये हैं। एक तो "भगवद्धर्म" और दूसरा "ज्ञान"। इसमें से "भगवद्धर्मों" को मुक्तिसाधन के रूप में "परं ब्रह्मैतद्यो ध्यायति.....भवति(गोपालतापनीयोपनिषद् १-१)" इस आथर्वणोपनिषद् में बताया गया है और "ज्ञान" को मुक्तिसाधन के रूप में "तमेवं विद्वानमृत इह भवति(नृसिंहपूर्व०उप० १-१६)" इस श्लोक द्वारा बताया गया है। अब असमंजसता यह हुई कि, क्या भगवद्धर्म और ज्ञान इत्यादि सभी कुछ मिलकर मुक्ति के साधन बनते हैं या फिर केवल कोरा ज्ञान ही मुक्ति का साधन है ? जब यह सन्देह हुआ तो फिर "परमात्मा को जानकर ही जीव मृत्युरूप संसार-सागर से पार होता है , इसके अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा मार्ग नहीं है(श्वेता०उप० ६-१५)" इस तीसरी श्रुति ने यह कहा कि ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी भी साधन से मुक्ति नहीं मिल सकती। क्योंकि यदि ब्रह्म ज्ञानरूप है तो फिर उसे प्राप्त करने का साधन भी ज्ञान ही होना चाहिए ; जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं, यदि उसके लिये विजातीय साधन करेंगे, तो फिर फल भी विजातीय हो जायेगा। साथ ही साथ 'जो मुझे भक्ति द्वारा जानता है , वह मुझमें प्रवेश कर जाता है (भ०गी० १८-५५)" इस भगवद्गीता के वाक्य में भक्ति को ज्ञानप्राप्ति का साधन बताया है और इस भगवद्गीता के वाक्यानुसार भक्ति तो ज्ञान प्राप्त कराने में ही खप गयी अतः निर्णय यह आया कि ज्ञान से ही मोक्ष मिल सकता है।]] इस पूर्वपक्ष के प्रत्युत्तर में व्यासजी ने "अक्षरधियां" इस सूत्र द्वारा इस पक्ष का निराकरण किया। व्यासजी का कथन है कि - "हे गार्गी ! इस तत्त्व को ब्रह्मवेत्ता अक्षर कहते हैं। यह न मोटा है न पतला है। न छोटा है न बड़ा है, न द्रव है, न छाया है, न वायु है, न आकाश है, न रस है, न गन्ध है, न वाणी न मन(छा० ३-८)" , "दो विद्याएँ जानने जैसी हैं- एक परा और दूसरी अपरा। इनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष- ये अपरा हैं। तथा

जिससे उस अक्षर परमात्मा का ज्ञान होता है, वह परा है(मु०उप० १-१-५)" , "ब्रह्म अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण और चक्षुःश्रोत्रादिहीन है। उसे विवेकी लोग सब ओर देखते हैं(मु०उप० १-१-६)" इत्यादि श्रुतियों में कहे गये अक्षरसंबंधी ज्ञान के संग्रह को मुक्तिसाधन के रूप में अवश्य माना गया है परन्तु "सामान्य" और "तद्भाव" के हेतु से। अब इनका अर्थ समझें। "सामान्य" शब्द का अर्थ है- समानता। "तद्भाव" शब्द का अर्थ है- ब्रह्मभाव प्राप्त कर लेना। सामान्य/समानता किससे और किसकी ? तो सामान्य/समानता को समझाते हुए व्यासजी कहते हैं - जैसे उपर्युक्त "परं ब्रह्मैतद्यो ध्यायति रसति भजति.....भवति(गोपालतापनीयोपनिषद् १-१)" श्रुतियों में ब्रह्म के धर्मों को पुरुषोत्तमसंबंधी या इन्हें पुरुषोत्तम को प्राप्त कराने वाले धर्म बताया गया, उसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् में "अम्भस्यपारे(महानारा०उप०-१)" इस वाक्य से आरंभ करके "तदक्षरे परमे व्योमन्(महानारा०उप०-१)" इस वाक्य तक भगवत्स्थान होने के नाते अक्षरब्रह्म को भी पुरुषोत्तमसंबंधी कहा गया है। अतः व्यासजी कहते हैं कि, इस समीकरण को ध्यान में रखते हुए भगवद्धर्म एवं अक्षरब्रह्म दोनों समान हो गये। तात्पर्य यह कि भगवद्धर्म और अक्षरब्रह्म "सामान्य" हैं अर्थात् दोनों समान हैं क्योंकि ये दोनों पुरुषोत्तम से संबंधित हैं। फलितार्थ यह हुआ कि अपने-अपने ढंग से केवल पुरुषोत्तम से संबंधित होने के अर्थ में ही इन दोनों की समानता है। अब "तद्भाव" का अर्थ समझें। तद् का अर्थ है- ब्रह्म। अतः "तद्भाव" शब्द का अर्थ हुआ- ब्रह्मभाव। श्रुति में "जो कोई भी उस परमब्रह्म परमात्मा को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है(मु०उप० ३-२-९)" इस वाक्य द्वारा जो ज्ञानी के लिये तद्भाव(ब्रह्मभाव या ब्रह्मरूप) हो जाना बताया गया है, वह भी इसलिये बताया गया क्योंकि "पूर्ण प्रसन्नता को प्राप्त ब्रह्मभूत पुरुष न शोक करता है और न ही इच्छा करता है(भ०गी० १८-५४)" इस श्रुति के अनुसार ब्रह्मभाव परमभक्ति प्राप्त करने के लिये स्वरूपयोग्यता का सम्पादन करता है। इसीलिये ऊपर कहे "सामान्य" एवं "तद्भाव" इन दो हेतुओं के कारण ही अक्षरसंबंधी ज्ञान को भी पुरुषोत्तम की प्राप्ति का साधन बता दिया जाता है, न कि साक्षात्पुरुषोत्तमप्राप्ति के साधन के रूप में। साक्षात्पुरुषोत्तम की प्राप्ति तो भक्ति से ही होगी- यह व्यासजी उपर्युक्त सूत्र से कहना चाह रहे हैं। चलो ये बात ठीक है किन्तु प्रश्न यह होता है कि "ब्रह्मभाव भक्ति प्राप्त करने में सहकारी बनता है" यह बात तो स्मृति कह रही है, परन्तु श्रुति तो ब्रह्मभाव की बात कह कर समाप्त हो गयी अतः श्रुति और स्मृति दोनों के वाक्यों में परस्पर विरोधाभास प्रतीत होता है। साथ ही साथ , इनमें अक्षरब्रह्म के स्वरूप को भी साफ-साफ नहीं बताया गया कि आखिर अक्षरब्रह्म ज्ञानरूप है कि भक्तिरूप ? इसीलिये अक्षरब्रह्म का ज्ञान होने पर कुछ लोगों को तो सायुज्य प्राप्त होता है और कुछ लोगों को भक्ति का लाभ होता है- ऐसी विषमता का क्या कारण है ? श्रुति-स्मृति के वाक्यों में परस्पर इस विरोध का निराकरण कैसे हो ? ऐसी शंका होने पर ऊपर कहे ब्रह्मसूत्र में "औपसद" नामक दृष्टांत देकर इसका निराकरण किया गया। इस दृष्टांत से यह बताया गया है कि, न तो श्रुति-स्मृति में परस्पर विरोध है और न ही ब्रह्म में किसी प्रकार की विषमता है कि किसी को ज्ञान दे दे, तो किसी को भक्ति। अब "औपसदकर्म" के दृष्टांत को समझें। यज्ञ की प्रक्रिया में एक विशेष कर्म करना होता है, जिसे "तानूनप्त्रस्पर्श" कहते हैं। यज्ञ करने वाले ऋत्विक् यज्ञ में आहुति डालने वाले घी के चार भाग करते हैं। तत्पश्चात् वे घी के उन चार हिस्सों को स्रुचि में लेते हैं। अब यजमान(मुख्य यज्ञ करने वाला) को जिस ऋत्विक् को यज्ञ का विशिष्ट फल देना होता है , वह उस ऋत्विक् को सर्वप्रथम उस घी का स्पर्श कराता है और तत्पश्चात् अन्य ऋत्विक् उस घी का स्पर्श करते हैं। इन चार भागों में बँटे हुए घी को "तानूनप्त्र" कहा जाता है। इस घी को स्पर्श करने की विशेष प्रक्रिया को "तानूनप्त्रस्पर्श" कहा जाता है। अब आगे पढ़ें। जैसे "उपसद" नामक कर्म से सम्बन्धित "तानूनप्त्रस्पर्श" नामक कर्म में "अनाधृष्टमस्यनाधृष्यम्"(तै०सं १-२-१०-१)" इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए तानूनप्त्र नामक आज्य (पिघला हुआ घी) को ध्रौवाज्य (घी लेने का साधन) से स्रुचि(घी रखने का पात्र) में डाल कर, उसके चार भाग करके सोलह ऋत्विक्(यज्ञ कराने वाले) को यजमान(मुख्य यज्ञ करने वाला) "अनु मे दीक्षां (तै०सं १-२-१०-१)" इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए घी का स्पर्श कराता है; कल्पसूत्र एवं श्रुति में यह कहा गया है कि "यजमान को सोलह ऋत्विकों में से जिस ऋत्विक् को यज्ञ का विशिष्ट फल देने की इच्छा है, वह उस ऋत्विक् को सबसे पहले घी का स्पर्श कराता है"; तो, जैसे सभी ऋत्विक् भले ही समान हैं तथापि यजमान की इच्छा से ऋत्विकों को यज्ञ के फल मिलने में अंतर आ जाता है , वैसे यहाँ भी भगवान की विशेष इच्छा से जीवों को फलप्राप्ति होने में अंतर आ जाता है, यह समझिए। व्याससूत्र में कहे "तदुक्तं" शब्द का अर्थ यह है कि, देखिए यही बात गीता के "हे अर्जुन ! महर्षि जिस ब्रह्म में प्रवेश करते हैं, अब मैं तुम्हारे लिये उस मुक्तिपथ का वर्णन करूँगा(भ०गी० ८-११)" , "भगवान तो अनन्यभक्ति से ही प्राप्त हो सकते हैं(भ०गी० ८-२२)" इत्यादि श्लोकों में भी बतायी गयी है अतः श्रुति-स्मृति के वाक्यों में परस्पर विरोध आने जैसी कोई भी बात नहीं है और यह भी सिद्ध हो जाता है कि , ब्रह्म में किसी भी प्रकार की विषमता नहीं है।

------ इतनी सभी बातें उपर्युक्त "अक्षरधियां" इस व्याससूत्र के अंतर्गत प्रतिपादित की गयी हैं।

अतो मर्यादामार्गीयं ज्ञानमपि स्वारस्येन मोक्षमेव शेषित्वेन गृह्णाति, न भक्तिम् । तथा[1] च मीमांसाद्वये कर्मज्ञानयोस्तत्तन्मुख्यफलस्य पृथङ्निरूपणेन केवलाङ्गभूतप्रयाजादितुल्यत्वाभावात्सूत्रतो वैदिकमार्गो भिन्नो, 'दानव्रततपोहोमे'त्यादिवाक्यसिद्धोऽनुग्रहयुतश्च भिन्नः । एवं दैवसर्गात्मा प्रवाहोऽपि मोक्षशेष एव, 'दैवी सम्पद्विमोक्षाये' ति वाक्यात् । इतरस्तु बन्धशेष इति दूरापास्तं भक्तिशेषत्वम् । यदि प्रवाहो भक्तिशेषः स्यात्, भगवानेवम्भावं तत्सम्पत्तेर्न वदेदिति युक्त्या वैदिकः सर्गोऽपि भिन्नोऽनुग्रहयुतश्च भिन्न इत्यनुपदं साधनीयम् । अतः केवलानां त्रयाणां स्वरूपमत्यन्त[2]विविक्तमेवेति सिद्धं मार्गत्रयमित्यर्थः ॥६॥

अतः मर्यादामार्गीयज्ञान का फल भी मोक्ष ही है, भक्ति नहीं। इसी प्रकार कर्ममीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा इन दोनों के फल अलग अलग बताये गये हैं अतः इन्हें भी भक्ति का अंग नहीं माना जा सकता अपितु जैसे प्रयाजादि अनुष्ठान तो केवल यज्ञ के अंगभूत होते हैं और यज्ञ के मुख्यफल की प्राप्ति नहीं करा सकते, वैसे ही कर्ममीमांसा और ज्ञानमीमांसा भी साक्षात्पुरुषोत्तम की प्राप्ति नहीं करा सकते। एवं "दान-व्रत-तप-होम-जप-स्वाध्याय-ध्यान-धारणा-समाधि इत्यादि साधनों के द्वारा भगवान की भक्ति के लिये प्रयत्न किया जाता है(श्री०भा० १०-४७-२४)" इत्यादि वाक्यों में कहा गया अनुग्रहयुक्त पुष्टिमार्ग भी भिन्न है। इसी प्रकार दैवसर्ग की कोटि में आने वाले प्रवाहमार्गीय का फल भी मोक्ष ही है, जैसा कि "दैवी गुण मोक्ष के लिये और आसुरी गुण बन्धनकारी हैं(भ०गी० १६-५)" इस वाक्य में कहा भी गया है। परन्तु जो केवल प्रवाही हैं, वे संसार में बँधे रहने के लिये आये हैं, उनकी तो मुक्ति भी नहीं होगी फिर भक्ति प्राप्त होनी तो दूर की कौड़ी है। यदि शुद्धप्रवाहीजीवों को भी भक्ति मिलनी होती तो भगवान उनके लिये इस प्रकार से संसार में बँधे रहना न कहते। इस युक्ति से वैदिकसृष्टि भी भिन्न है एवं अनुग्रहयुक्त पुष्टिसृष्टि भी भिन्न है- यह समझ लीजिए। अतः केवल/शुद्ध तीनों मार्गों(शुद्धपुष्टि-शुद्धप्रवाह-शुद्धमर्यादा) का स्वरूप नितांत भिन्न-भिन्न ही है, इसलिए कुल मिला कर तीन मार्ग हैं, यह सिद्ध होता है ॥ ६ ॥

एवं स्वरूपं विविच्य उक्तवाक्यैः संयोगपृथक्त्वेन भक्तिशेषत्वे मार्गैक्यं दुर्वारमित्याशङ्कायां पूर्वोक्तविवेकोपष्टम्भाय युक्तिमप्याहुः जीवेत्यादि ।

जीवदेहकृतीनां च भिन्नत्वं नित्यता श्रुतेः ।
यथा तद्वत्पुष्टिमार्गे द्वयोरपि निषेधतः ॥७॥
प्रमाणभेदाद्भिन्नो हि पुष्टिमार्गो निरूपितः ।

'ध्रुवासो अस्य कीरयो जनास' इति श्रुतौ स्तुतिक्रियावतां जननशालिनां चेतनानां नित्यत्वश्रावणाद्यथा पुष्टिमार्गे भिन्नत्वं इतरवैलक्षण्यम्, तद्वत् 'नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः । ज्ञानिनां चात्मपोतानां यथा भक्तिमतामिहे'ति वाक्ये द्वयोर्देहिज्ञानिनोर्निषेधतः सुखेन भगवत्प्राप्तिनिषेधादपि भिन्नत्वम् । यदि सर्वजीवदेहकृतीनां नित्यत्वं स्यात्, "कीरय" इत्यादि विशिष्य श्रुतिस्तन्नित्यत्वं न वदेत् । ब्रह्मवादे नित्यत्वस्य विशिष्टाद्वैतद्वैतवादयोरनित्यत्वस्य मायावादे मायिकत्वस्य सर्वेष्वविशिष्टत्वात् । एवं सत्यपि यदेवं वदति, तेन तादृशतद्विशिष्टः पुष्टिमार्गो भिन्न एव ।

अब कोई पूर्वपक्षी यह शंका करता है कि, इस प्रकार से उपर्युक्त वाक्यों द्वारा तीनों मार्गों का स्वरूप अलग-अलग करने की प्रक्रिया में किसी वस्तु को ग्रहण(संयोग) और किसी वस्तु का निषेध(पृथक्) करने से अंततोगत्वा सभी मार्गों का तात्पर्य भक्तिमार्ग में ही परिणित हो जाता है अतः "केवल एक भक्तिमार्ग ही है अन्य दूसरा कोई मार्ग नहीं है" इस बात को हटाना कठिन है। ऐसी आशंका होने पर अब आचार्यचरण आगे के श्लोक में जीव इत्यादि शब्दों से पूर्व में कहे मार्गों के अंतर(विवेक) को और दृढ़(उपष्टम्भ) करने के लिये अन्य कुछ युक्तियाँ भी कह रहे हैं।

वह यह कि "ध्रुवासो अस्य कीरयो जनास(वि०सू०)" इस श्रुति का अर्थ यह है कि, इस परमात्मा की स्तुति करने वाले जननशाली चेतन जीव नित्य होते हैं। तो जैसे इस श्रुति में परमात्मा का कीर्तन करने वालों को दूसरों से विलक्षण बताया गया है, उसी प्रकार पुष्टिमार्ग के जीव भी अन्यों से भिन्न/विलक्षण होते हैं। यहाँ इस श्रुति का उदाहरण देने का अर्थ यह है कि, इस श्रुति में कीर्तन करने वालों की यह विशेषता दिखाई है कि, वे जन्म लेने वाले भी होते हैं और नित्य भी होते हैं। जबकि जन्म लेने वाला कभी भी नित्य नहीं होता परन्तु इस श्रुति में बताये गये परमात्मा का कीर्तन करने वाले जन्म लेने वाले भी होते हैं और नित्य भी होते हैं। टीकाकार का अभिप्राय यह है कि, इस श्रुति में कहे जीव शुद्धपुष्टिमार्गीयजीव हैं। ठीक इसी प्रकार "यह गोपिकासुत-भगवान अपने अनन्यप्रेमियों के लिये जितने सुलभ है, उतने देहाभिमानी कर्मकाण्डियों एवं तपस्वियों और ज्ञानियों के लिये भी नहीं है(श्री०भा० १०-९-२१)" इस वाक्य में

---

१. तस्मात्सूत्रतो वैदिकमार्गो भिन्नोऽनुग्रहयुतश्च भिन्न इति पाठः । २. अत्यन्तविषक्तमेवेति पाठः ।

देहधारियों एवं ज्ञानी दोनों का निषेध करके यह बताया गया है कि इन्हें सुखपूर्वक भगवत्प्राप्ति नहीं होती अतः इस दृष्टि से भी पुष्टिमार्गीयजीव अन्यों से भिन्न हो जाते हैं। शुद्धपुष्टिमार्गीय-लीलाजीवों की भाँति यदि सभी जीव और उनकी देह और उनकी कृति नित्य होतीं, तो श्रुति उपर्युक्त वाक्य में केवल "कीरय(स्तुति करने वाले, कीर्तन करने वाले)" को ही नित्य क्यों कहती ? इसलिये ये कीर्तन करने वाले शुद्धपुष्टिमार्गीयजीव ही नित्य होते हैं, अन्य सभी नहीं। और देखिए ,यदि सभी जीव-देह-कृति नित्य होती हों, तो फिर बताईये भला ब्रह्मवाद का विशिष्टाद्वैतवाद-द्वैतवाद-मायावाद इत्यादि से क्या अंतर रह जायेगा ? फिर ब्रह्मवाद में कहे जीव-देह-कृति के नित्यत्व, विशिष्टाद्वैत-द्वैतवाद में कहे अनित्यत्व और मायावाद में कहे मायिकत्व इन सभी में क्या अंतर रह गया ? अतः समझिए कि यही कुछ ऐसे सिद्धांत हैं जिनके कारण ये सभी अलग-अलग मत वाले वादों का स्थापन हुआ है यदि सभी का मत समान ही हों, तो फिर इतने वाद बनने ही व्यर्थ हो जाएँ। इतना होने पर भी श्रुति जीवों की जो नित्यता बता रही है , ऐसे विशिष्ट जीवों वाला पुष्टिमार्ग तो भिन्न है ही।

किञ्च । यदि पुष्टिमार्गस्येतरविवेको न स्यात्, उक्तवाक्ये द्वयोः सुखेन भगवदाप्तिं न निषेधेत् । यस्मादेवम्, तस्मान्मार्गो भिन्न इति पूर्वश्लोकस्थयुक्तिपदस्यैवायं प्रपञ्चः । एवञ्च ज्ञानादिमार्गो यदि पुष्टिमार्गः स्यात्, साक्षादेव पुरुषोत्तमप्रापकः स्यात् । यदि तथा स्यात्, 'यतो वाचो निवर्तन्त' इति श्रुतिर्वागाद्यप्राप्यत्वं न वदेत् । 'नैतन्मनो विशती'त्यादि योगेश्वरा न वदेयुः । तथा उक्तवाक्ये ज्ञानिनां देहिनां च तां न निषेधेत् । निषेधो यद्यन्यार्थः स्याद्, 'यथा भक्तिमता'मिति न वदेत् । 'भक्त्या त्वनन्यये'ति 'यमेवैष वृणुत' इति स्मृतिश्रुती न वदेताम् । यस्मादेवं तस्मात्तथेत्यादयोऽप्यनुसन्धेयाः ।

और, यदि पुष्टिमार्ग अन्य मार्गों से भिन्न न होता, तो ऊपर कहे श्लोक में देहधारी एवं ज्ञानी दोनों को सुख से भगवत्प्राप्ति होने का निषेध न किया गया होता ! परन्तु निषेध किया गया है अतः पुष्टिमार्ग इन सभी से भिन्न है ही। वैसे ऊपर कहा हुआ सभी कुछ विस्तार पूर्वश्लोक अर्थात् ६ ठे श्लोक में कहे "युक्ति" पद का ही अर्थ है। तात्पर्य यह कि ऊपर कही हुई समस्त शास्त्र की युक्तियों का विचार-विमर्श करने पर पुष्टिमार्ग अन्य दूसरे मार्गों से भिन्न सिद्ध हो जाता है। और भी, ज्ञान-कर्म इत्यादि मार्ग यदि पुष्टिमार्ग ही होते, तो साक्षात् पुरुषोत्तम की प्राप्ति कराने वाले होते ! और यदि इन मार्गों को पुरुषोत्तम की प्राप्ति कराने वाला मार्ग मान लिया जाय, तो "मन के सहित वाणी आदि समस्त इन्द्रियाँ भी परमात्मा को प्राप्त किये बिना लौट आती हैं(तैति०उ० २-४-१)" ये श्रुति यों न कहती कि परमात्मा का वर्णन करने में वाणी असमर्थ बन जाती है। योगेश्वर भी "परमात्मा में न मन की गति है, न वाणी की। नेत्र उसे देख नहीं सकते और बुद्धि उसे सोच नहीं सकती। प्राण और इन्द्रियाँ तो उसके पास भी नहीं फटक सकते(श्री०भा० ११-३-३६)" यह न कहते। और ऊपर कहे वाक्यों में ज्ञानी एवं देहधारियों को भगवत्प्राप्ति सुख से होने की बात का निषेध भी न किया गया होता। इस श्लोक में निषेध यदि ज्ञानियों के लिये न होकर किसी और के लिये होता, तो यों न कहा गया होता कि भक्ति करने वालों को तो सुख से पुरुषोत्तम की प्राप्ति हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानियों का तो निषेध किया गया परन्तु भक्ति करने वालों को सुखपूर्वक पुरुषोत्तमप्राप्ति होनी बतायी गयी। श्रुति और स्मृति भी "यह गोपिकासुत भगवान अपने अनन्यप्रेमियों के लिये जितने सुलभ हैं, उतने देहाभिमानी कर्मकाण्डियों एवं तपस्वियों और ज्ञानियों के लिये भी नहीं हैं(श्री०भा० १०-९-२१)" , "हे अर्जुन ! केवल अनन्यभक्ति द्वारा ही मुझे तत्व से जाना जा सकता है और प्रत्यक्ष देखा जा सकता है(भ०गी ११-५४)" , "यह परमात्मा न तो वेद के प्रकर्ष वचनों द्वारा, न बहुत सुनने से, न बुद्धि से ही प्राप्त हो सकता है परन्तु यह परमात्मा जिसका वरण कर लेता है, उसी को प्राप्त हो सकता है(कठो०उप० १-२-२३)" इत्यादि वाक्य न कहतीं। अब कारण कि उपर्युक्त समस्त वाक्यों में भक्ति की विशेषता बतायी गयी है अतः सिद्ध होता है कि पुष्टिमार्ग भी सभी से भिन्न है।

एवं नानाप्रमाणैर्मार्गस्वरूपभेदे सिद्धे मर्यादामार्गीयाणां 'श्रोतव्य' इत्यादिषु श्रवणादीनां यद्दर्शनसाधनत्वमुच्यते, तत् 'नायमात्मे'त्यादिपूर्वोक्तश्रुतिस्मृत्यनुरोधाद्भक्तिरूपाणामेव । न तु केवलानाम् । परमात्मनस्तत्राप्रकाशात्क्षरात्मन्येव पर्यवसानात् । 'क्लेशोऽधिकतर' इति वाक्याद्दुःखसाहचर्यं च क्वचित् । ततो मर्यादामार्गीयाण्येव तानि । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यत्रापि तदनुरोधात्स्वकरणकमेव ज्ञानमुच्यते । यद्याविर्भवेत्तदा विद्यादिति । आविर्भावस्तूक्तप्रनाडीकभक्त्यैव ।

इस ढंग से नाना प्रकार के प्रमाणों से मार्गस्वरूप के भेद सिद्ध करने में मर्यादामार्गीयों को "जो अभयपद को प्राप्त करना चाहता है, उसे सर्वशक्तिमान श्रीकृष्ण की ही लीलाओं का श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिए(श्री०भा० १-१-५)" इत्यादि श्रुति में जो श्रवण-मनन आदि को परमात्मा के दर्शन करने में साधन बताया गया है, वह तो "यह परमात्मा न तो वेद के प्रकर्ष वचनों द्वारा, न बहुत सुनने से, न बुद्धि से ही प्राप्त हो सकता है परन्तु यह परमात्मा जिसका वरण कर लेता है, उसी को प्राप्त हो सकता है(कठो०उप० १-२-२३)"

इत्यादि पूर्व की श्रुतिस्मृति में कहे अनुसार वे श्रवण-मनन भक्तिरूप होने के कारण ही कहे गये हैं, केवल मर्यादामार्गीय श्रवण-मनन को साधन नहीं बताया गया। क्योंकि मर्यादामार्गीयों के लिये परमात्मा अपने को प्रकाशित नहीं करते और उनकी बात तो केवल अक्षरब्रह्म तक जाकर पूरी हो जाती है। और मर्यादामार्गीयों को तो "परन्तु जो निराकार-निर्विशेष अक्षरब्रह्म में आसक्त हैं, उनको परमात्मा की प्राप्ति होनी अधिक कठिन है क्योंकि देहाभिमानियों को यह अव्यक्त विषयक ब्रह्म की प्राप्ति अति कठिनाई से होती है(भ०गी० १२-५)" इस वाक्यानुसार कहीं-कहीं दुःख भी उठाना पड़ता है। इसलिये उक्त गीतावाक्य में कहे श्रवण-मनन मर्यादामार्गीय ही हैं। "ब्रह्मवेत्ता परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। उसके विषय में यह श्रुति कही गयी है - ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है। जो पुरुष उसे बुद्धिरूप परम आकाश में निहित जानता है, वह सर्वज्ञ ब्रह्मरूप से एक साथ ही सम्पूर्ण भोगों को प्राप्त कर लेता है (तै०उ० २-१-१)" इस श्रुति में भी भक्ति के माध्यम से भगवान द्वारा ज्ञान प्राप्त होना बताया गया है। भगवान जब प्रकट होते हैं, तब ही उनको जाना जा सकता है और भगवान का आविर्भाव तो ऊपर कही प्रणाली के अनुसार भक्ति द्वारा ही होता है।

'तमेव विदित्वे'त्यत्रापि 'ते ध्यानयोगानुगता' इत्युपक्रमात् मध्ये च 'तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावादि'ति कथनात्सर्वभावेनाश्रयणरूपामुपासनामपेक्ष्यैव ज्ञानमुच्यत इति तादृग्ज्ञानकारणीभूतभावस्य बीजभूतानुग्रहमन्तरेणाभावादुक्तैव प्रनाडी। एवं धर्मदानादयो भक्त्युत्पादकसंहितोक्तरीतिबोधकैकादशस्कन्धोदितप्रकारेणानुष्ठीयमाना भक्तिसाधनतां यान्ति। स प्रकारोऽप्यनुगृहीतानामेवार्थे भगवतोक्तो भिन्न एव। न तु मीमांसितः। तत्र तथानुसन्धानस्य विचारादर्शनात्। अतो विचारितास्तत्तत्फलसाधका एवेति यथाविचारं मर्यादां प्रवाहं वा नातिवर्तन्ते। तथैव योगादयो वामादीनि बाह्यानि च स्वस्वशास्त्रोक्तफलसाधनाय प्रवृत्तानि। अतः सर्वाण्यसङ्कीर्णानि।

"परमात्मा को जानकर ही जीव मृत्युरूप संसार-सागर से पार होता है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा मार्ग नहीं है(श्वेता०उप० ६-१५)" इस श्रुति में भी "ते ध्यानयोगानुगता(श्वेता उप० १-३)" इस मन्त्र से आरंभ करके मध्य में "तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावात् (श्वेता उप १-१०)" इस कथनानुसार सर्वभाव से आश्रयरूप उपासना करते हुए ही ज्ञान की महत्ता बतायी गयी है अर्थात् तब ही ज्ञान परमात्मा के दर्शन कर पाने का साधन बन सकता है और ऐसे ज्ञान का कारणभूत भक्तिभाव है और भाव का कारणीभूत या बीजभूत पदार्थ भगवान का अनुग्रह ही है और भगवान का अनुग्रह तो केवल ऊपर कही प्रणाली के अनुसार ही होता है। इस प्रकार से धर्म-दान इत्यादि भी जब भक्तिसंहिता की रीति अनुसार एकादशस्कंध में बताये गये प्रकार द्वारा किये जाते हैं, तब ही भक्ति उत्पन्न होने के साधन बन पाते हैं। वह प्रकार भी भगवान ने ही कहे हैं एवं उन्हें कहे हैं जिन पर उन्हें अनुग्रह करना है अतः इस दृष्टि से वे प्रकार भी अन्यों से भिन्न प्रकार ही हैं। भगवान ने जो धर्म-दान- इत्यादि का प्रकार बताया है, वह शास्त्र में कहे प्रकार के अनुसार नहीं कहा है क्योंकि शास्त्रों में इनका उस प्रकार से विचार नहीं किया गया, जैसा भगवान ने बताया है। अतः शास्त्रों में जिन मार्गों का विचार किया गया है, वे मार्ग उन-उन फलों की ही सिद्धि कराते हैं इसलिये जिनका विचार शास्त्र ने किया है, वे सभी मार्ग मर्यादामार्ग या प्रवाहमार्ग के ही अंतर्गत आते हैं। इसी प्रकार योगमार्ग-वाममार्ग इत्यादि सभी मार्ग अपने-अपने शास्त्र के अनुसार फलसिद्ध कराते हैं अतः ये सभी मार्ग मर्यादामार्ग और प्रवाहमार्ग के अंतर्गत ही हैं।

तदेतत्सर्वं हृदिकृत्य व्यावर्तकधर्मेण पुष्टिमार्गभेदसाधनमुपसंहरन्ति प्रमाणभेदादित्यादि। अत्र यद्यपि पुष्टिमार्गस्वरूपभेदनिरूपणस्यैवोपसंहारः कण्ठादुक्तः, तथापि मर्यादाप्रवाहयोरपि प्रसङ्गात्सिद्धो ज्ञेयः। अग्रे 'प्रवाहस्थान्प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुता'नितिस्वरूपादिभेदयुतजीवभेदनिरूपणस्यैव प्रतिज्ञानात्। अन्यथा सोऽपि व्यावर्तकप्रमाणभेदैः स्वरूपबोधनाय प्रतिज्ञातः स्यात्॥७॥

यह सभी कुछ हृदय में धारण करके अब आगे आचार्यचरण पुष्टिमार्ग को अन्य मार्गों से भिन्न करने वाले धर्मों के द्वारा पुष्टिमार्ग का दूसरों से अंतर बताने वाले साधनों का प्रमाणभेदात् इत्यादि शब्दों से उपसंहार कर रहे हैं। यहाँ यद्यपि आपश्री ने पुष्टिमार्गस्वरूप का अंतर निरूपण करने का उपसंहार करने की ही बात कही है, मर्यादामार्ग-प्रवाहमार्गस्वरूप के निरूपण का उपसंहार करने की नहीं तथापि पुष्टिमार्गस्वरूप के साथ-साथ मर्यादाप्रवाहस्वरूप का उपसंहार भी हो गया मान लेना चाहिए क्योंकि इस श्लोक के आगे आचार्यचरणों ने केवल जीवस्वरूप-फल इत्यादि का ही निरूपण किया है परन्तु प्रवाह-मर्यादा आदि अन्य मार्गस्वरूप की बात कहीं भी नहीं की है। क्योंकि आगे आपश्री ने "प्रवाहस्थान् ..... क्रियायुतान्" इत्यादि वाक्यों में मार्गों का अंतर नहीं बताया अपितु मार्गस्वरूप से युक्त जीवों का ही अंतर बताने की बात कही है। यदि आपश्री को आगे प्रवाह-मर्यादा मार्ग का स्वरूप भी बताना होता तो वे इनके भी प्रमाण देकर इस विषय में अवश्य कुछ कहते॥ ७॥

एवं प्रमाणबलेन मार्गस्वरूपभेदः साधितः । तेन[1] मार्गत्रयप्रमितौ जनितायां प्रमेयबलेनापि सिद्ध एवेत्यतः साधनभेदेन मार्गत्रयभेदं साधयितुं जीवादिभेदयुताविच्छिन्नसर्गेण पुष्टिभेदसाधनाय सामान्यतः सर्गभेदनिरूपणं प्रतिजानते **सर्गभेदं प्रवक्ष्यामीति** ।

सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतम् ॥८॥
इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरिः ।
वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चयः ॥९॥

ननु 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा' इति श्रुतौ जीवमात्रस्योत्पत्तिरेकप्रकारिकैवोक्तेति तेषु वैलक्षण्यस्यासम्भवे तद्देहेषु भौतिकत्वादेस्तुल्यत्वात्तत्क्रियास्वपि तदनुरूपत्वादेस्तुल्यत्वात्साधनसाङ्कर्यस्य वज्रलेपायितत्वेन सर्गभेदनिरूपणं व्यर्थम् । तथा सति नात्यन्तं विवेक इत्यत आहुः स्वरूपाङ्गक्रियायुतमिति । तथाचैतत्सन्देहनिरासाय तद्भेदोऽपि प्रमाणगोचरीकरिष्यत इति भावः ।

उपर्युक्त प्रकारों से आपश्री ने यहाँ तक प्रमाणों द्वारा मार्गस्वरूप का अंतर सिद्ध किया । इसके पश्चात् तीनों मार्गों का ज्ञान हो जाने पर वह प्रमाणों द्वारा तो सिद्ध हो ही गया परन्तु अब आपश्री तीनों मार्गों के भेद को उन उन मार्गों में बताये गये साधनों के द्वारा भी सिद्ध कर रहे हैं । इसके लिये आपश्री भिन्न-भिन्न जीवों के भेद से युक्त निरंतर चलते रहने वाले प्रवाह से पुष्टिमार्ग की भिन्नता बता रहे हैं और आगे के श्लोक में सामान्यरूप से पहले इन मार्गों की सृष्टिप्रकार के अंतर को **सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । किन्तु यहाँ शंका यह होती है कि, "जिस प्रकार अग्नि में से चिंगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार परमात्मा में से समस्त प्राण, समस्त लोक, समस्त देवगण और समस्त भूत उत्पन्न होते हैं(वृ० २-१-२०)" इस श्रुति में तो समस्त जीवों की उत्पत्ति केवल एक ही प्रकार से हुई है, यह कहा गया है । अतः इस दृष्टि से जीवों में किसी भी प्रकार की विलक्षणता होनी असंभव है । और इन जीवों की देह भौतिक होने के कारण भी समान ही हैं और इस दृष्टि से उन सभी जीवों की क्रियाएं भी भौतिक होने के कारण समान ही होंगी अतः इन जीवों द्वारा किये जाने वाले साधनों की समानता को हटाना असंभव है और इस कारण आचार्यचरणों द्वारा सर्ग(सृष्टि)भेद का निरूपण करना तो व्यर्थ ही है ! इस परिस्थिति में तो ये तीनों मार्ग अलग-अलग हुए ही नहीं ! इस शंका का समाधान आपश्री **स्वरूपाङ्गक्रियायुतम्** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं । इस सन्देह का निराकरण करने के लिये इन जीवों के भेद को भी आचार्यचरण प्रमाणसहित कह रहे हैं ।

तदेवाहुः **इच्छामात्रेणेत्यादि** । अत्रेच्छामात्रेणेत्यनेन 'बहु स्यां प्रजायेयेती'ति श्रौतमालोचनं निमित्तत्वेनोक्तम् । तेनैतदाकारिकेच्छारूपो भगवानेव निमित्तम् । तेन हेतुना मनआदिभिः स्वस्य रूपैः समवायिभिः प्रवाहादीन् सृष्टवान् । तत्र मनसा प्रवाहसृष्टिरेकादशस्कन्धे 'पुरुषः प्रकृतिश्चेति विकल्पः पुरुषर्षभ । एष वैकारिकः सर्गो गुणव्यतिकरात्मक' इत्यनेनोक्तेति ज्ञायते । विकल्पत्वकथनात् ।[2] श्रुतौ च 'असतोऽधि मनोऽसृज्यत, मनः प्रजापतिमसृजत, प्रजापतिः प्रजा असृजत, तद्वा इदं मनस्येव परमं प्रतिष्ठितमि'ति जाग्रति बहिः सृष्टिरुच्यते । तथा 'य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः" ,"न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजत' इति स्वप्ने उच्यते । यत्र मनसा बहिः सृजति, तत्र मायापि सहोपादीयते ।

उन्हीं प्रमाणों को आपश्री **इच्छामात्रेण** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । यहाँ आचार्यचरणों ने "इच्छामात्रेण" यह शब्द "उस परमात्मा ने कामना की कि मैं अनेक हो जाऊँ (तैति० २-६-१)" इस श्रुति के आधार पर कहा है इसलिये ऐसी इच्छा करके भगवान ही इस सृष्टि के निमित्त है । इसी कारण भगवान ने अपने स्वरूप, मन इत्यादि को मूलकारण बनाते हुए प्रवाह आदि सृष्टि की रचना की । मन द्वारा सृष्टि रचने का प्रकार एकादशस्कंध के "हे उद्धवजी ! प्रकृति और पुरुष, शरीर और आत्मा - इन दोनों में अत्यन्त भेद है(श्री०भा० ११-२२-२९)" इत्यादि श्लोक द्वारा जाना जा सकता है । क्योंकि इनमें भगवान के मन को भी सृष्टिरचना करने में एक प्रकार का विकल्प बताया गया है । श्रुति में भी "असतोऽधि मनोऽसृजत.....प्रतिष्ठितम् (तै०ब्रा० २-२-९-१०)" इस वाक्यानुसार ब्रह्म द्वारा जाग्रत अवस्था में बाह्यसृष्टि रचने की बात कही गयी है । और, "जीवात्माओं के कर्मानुसार उनके लिये नाना प्रकार के भोगों का निर्माण करने वाला यह परमपुरुष परमात्मा समस्त जीवों के सो जाने पर अर्थात् प्रलयकाल में भी नित्य जागता रहता है(मु०उप० २-२-८)", "परमात्मा की स्वप्नावस्था में न रथ है, न रथ में जोते जाने वाले अश्व हैं, न कोई मार्ग ही है; परन्तु वह इन सभी की रचना कर लेता है । उस अवस्था में आनन्द, मोद और प्रमोद भी नहीं हैं परन्तु वह इन सभी की रचना कर लेता है(वृ० ४-३-१०)" इस श्रुति के अनुसार ब्रह्म द्वारा स्वप्नावस्था में सृष्टि रचने की बात कही गयी है । इस श्रुति से यह बात समझ में आती है कि, ब्रह्म जब मन से बाह्यसृष्टि का निर्माण करता है , तब माया का आश्रय लेकर करता है ।

---

१. अतः परं प्रमेयबलेन साधनभेदेन च मार्गत्रयभेदमित्यादिः पाठः । २. असंभवात्, एवं भौतिकत्वादेस्तुल्यत्वाद् देहक्रियास्वपीतिपाठः ।
३. तै. ब्रा. २-२-९-५९.

अत एव नृसिंहतापनीयश्रुतौ वटबीजदृष्टान्तमुक्त्वा 'तथेयमपि स्वाव्यतिरिक्तानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवती'त्याद्युच्यते । अत एव 'यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः । नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमय'मिति भगवतापि उभयमयत्वमुच्यते । अत एवासुराः सृष्टिकर्तृत्वं ब्रह्मलक्षणमस्यां दृष्ट्वा मायामेवोपासते । तदपि श्रावितं मण्डलब्राह्मणे 'मायेत्यसुरा' इति इयमेव सृष्टिरन्तरमन्यदित्यादिशब्दैर्व्यवह्रियते श्रुतौ - 'यद्युष्माकमन्तरं बभूवे'ति । 'मायया ह्यन्यदिवे'ति । मायावादिनश्चैतामेवावलम्ब्य ब्रह्मवादिभिः प्रत्यवतिष्ठन्ते । इयं च सत्यसृष्टिमुपधाय तदुत्तरं च जन्यते । अत एव नृसिंहतापनीये योनित्वमात्मन एवोच्यते ।

इसी कारण नृसिंहतापनीयश्रुति में वटबीज का दृष्टांत देकर "जीवेशावाभासेन(नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषत् खंड-८)" यह कहा गया है। इसी कारण "इस जगत् में जो कुछ भी मन से सोचा जाता है, नेत्रों से देखा जाता है, वाणी से कहा जाता है, इन्द्रियों से अनुभव किया जाता है, वह सभी कुछ नाशवान है, मायामात्र है(श्री०भा० ११-७-७)" इस वाक्यानुसार भगवान भी माया एवं मन यों दो प्रकार से सृष्टि उत्पन्न करने की बात कहते हैं। और इसी कारण आसुरी लोग ब्रह्म के सृष्टि रचने वाले धर्म को माया में देखकर माया को ही ब्रह्म मान लेते हैं और माया की ही उपासना करने लगते हैं। यह बात भी मण्डलब्राह्मण में "आसुरीजन माया को जगत् का कारण मानते हैं(मुद्गलोपनिषद्-३)" इस वाक्य द्वारा कही गयी है। यही मायिकसृष्टि "यद्युष्माकमन्तरं बभूव" , "मायया हि अन्यत्" इन श्रुतियों में "अन्तरम्" एवं "अन्यत्" इत्यादि शब्दों द्वारा बतायी गयी है। मायावादी इसी श्रुति का आधार लेकर ब्रह्मवादियों के समक्ष खड़े हो जाते हैं। ये माया सत्यसृष्टि के पश्चात् प्रकट होती है। इसी कारण नृसिंहतापनीयश्रुति में ब्रह्म को ही सत्यसृष्टि का कारण बताया गया है। अनुमानं च, विमतः प्रपञ्चः सत्यसृष्ट्युत्तरकालीनः । मायामनोमयत्वात् । स्वाप्निकैन्द्रजालिकवत् । व्यतिरेके, तत्तन्मतस्थसत्यप्रपञ्चवत् । एतेनैवार्थदिव सत्यसृष्टिसिद्धिरपि । इयमेव निबन्धे 'महेन्द्रजालवत्सर्वं कदाचिन्माययासृजदि'त्यनेन संग्रहीता । तथाच व्यामोहिका स्वतः सत्कार्याक्षमा सदुपधानेन तत्तत्क्षमा सृष्टिः प्रवाहसर्ग इति सिद्धम् । तथाच मनसा व्यामोहबहुलं प्रवाहं सृष्टवानित्यर्थः ।

यह तो शब्दप्रमाण हो गया, अब अनुमानप्रमाण से सिद्ध करना हो तो - अनुमान कहता है कि प्रपंच असत्य है क्योंकि वह सत्यसृष्टि के पश्चात् उत्पन्न हुआ है, क्योंकि प्रपंच मायामनोमय है, स्वापनिक और इन्द्रजाल के पदार्थों की तरह। और व्यतिरेक/उल्टी रीति से देखें, तो सत्यसृष्टि उसे कहेंगे जो मायामनोमय नहीं है, जो स्वापनिक और एन्द्रजालिक पदार्थों की भाँति असत्य नहीं है। और देखिए, प्रपंच को असत्य बताने से ही सत्यसृष्टि की सत्ता भी सिद्ध हो गयी। इसी मायिक और असत्यसृष्टि की बात निबन्ध में "कभी भगवान केवल माया से ही सृष्टि उत्पन्न करवाते हैं, स्वयं उस सृष्टि में प्रवेश नहीं करते(शा०प्र०-३८)" इन वाक्यों द्वारा बतायी गयी है। सत्यप्रपंच क्या है, असत्यप्रपंच क्या है, माया क्या है, माया से उत्पन्न होने वाली प्रवाहीसृष्टि क्या है, इन सभी मुद्दों को आगे बढ़ने से पूर्व संक्षेप में समझ लें। शुद्धाद्वैत के अनुसार संपूर्ण प्रपंच/जगत् ब्रह्मात्मक है क्योंकि ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है और इसीलिये सत्य भी है। क्योंकि ब्रह्म सत्य है और ब्रह्म से उत्पन्न होने वाला प्रपंच/जगत् भी सत्य ही है। परन्तु इस जगत् में दिखाई देने वाली वस्तुएं जैसे कि घड़ा, वस्त्र इत्यादि वस्तुएं सामान्यजीवों को ब्रह्म के रूप में दिखाई नहीं देती अपितु घड़े या वस्त्र के रूप में दिखाई देती हैं। तब कहा जाता है - यह घड़ा है, घड़ा फूट गया, यह घड़ा मेरा है, वस्त्र नीला है, वस्त्र जल गया इत्यादि इत्यादि। वास्तव में तो घड़ा या वस्त्र या यह सारा प्रपंच ब्रह्मात्मक ही है परन्तु ब्रह्मरूप में दिखाई नहीं देता। ऐसा माया के कारण होता है। माया अपनी शक्ति से ब्रह्मात्मक घड़े, वस्त्र या प्रपंच या इस जगत् के ब्रह्मात्मकस्वरूप को ढंक देती है और हमें इनका भौतिकस्वरूप दिखाने लगती है। प्रपंच/जगत् को भौतिकरूप से देखना ही असत्यप्रपंच कहलाता है क्योंकि माया के कारण जैसा प्रपंच दिखलाई पड़ रहा है, वास्तविकता में प्रपंच वैसा तो है ही नहीं। तात्पर्य यह हुआ कि इस संपूर्ण जगत् को जो लोग ब्रह्मात्मकरूप से न देखकर भौतिकरूप में देखते हैं, वे माया से मोहित बुद्धिवाले हो जाने के कारण देखते हैं और इन्हीं लोगों को प्रवाहीसृष्टि या आसुरीसृष्टि कहते हैं। फलितार्थरूप से यह कहा जायेगा कि, माया ने सत्यप्रपंच को ढक कर जगत् को भौतिकरूप से देखनेवाली प्रवाहीसृष्टि या आसुरीसृष्टि उत्पन्न कर दी। माया सत्यसृष्टि को उत्पन्न नहीं कर सकती। इसलिये व्यामोह कराने वाली, स्वयं ही सत्यसृष्टि को उत्पन्न न कर सकने वाली, सदंश को ढँक कर एक जादू की भाँति असत्य की प्रतीति कराती है और जिनको ऐसी प्रतीति होती है, वह प्रवाहसर्ग है- यह सिद्ध हुआ। इसका फलितार्थ यह हुआ कि, भगवान ने अपने मन द्वारा ऐसी प्रवाहसृष्टि को बनाया है जिसमें व्यामोह की अधिकता है।

वचसा सृष्टिश्च 'एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितॄन् तिरःपवित्रमिति ग्रहानाशव इति शस्त्रं विश्वानीति स्तोत्रमभिसौभगेत्यन्याः प्रजा इति, स मनसा वाचं मिथुनं समभवदिति, स भूरिति व्याहरन् भूमिमसृजते'त्यादिश्रुतिषु, 'सर्वेषां स तु

नामानि रूपाणि च पृथक्पृथक् । वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संख्याश्च निर्ममे । नाम रूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम् । वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वर'इत्यादिस्मृतिषु च स्फुटा । न चात्र तृतीयाप्रयोगात्करणत्वमेव, नोपादानत्वमिति वाच्यम् । 'मृदा घटं निर्मिमीत' इत्यादावपि तथा प्रयोगात् । न चैवं ब्रह्मोपादनत्वश्रुतिव्याकोपः । 'वाचाऽविरूपनित्यया','वेदो नारायणः साक्षादि'त्यादिभिर्भगवद्रूपताबोधनेन तन्निवृत्तेः । न च शब्दस्यार्थोत्पादकत्वमसङ्गतमिति वाच्यम् । शब्दतन्मात्रादाकाशोत्पत्तेः स्मृतिशतसिद्धत्वात् ।

अब वाणी द्वारा सृष्टि रचने वाली बात "एत इति वै प्रजापतिः" इत्यादि श्रुतियों में एवं "सर्वेषां स तु नामानि" इत्यादि श्रुतियों में स्पष्टतया कही गयी है। किन्तु इस श्रुति में कहे "वेदशब्देभ्यः" शब्द में तृतीयाविभक्ति लगी होने से आप ऐसा मत सोचिए कि अब वाणी अप्रधान हो गयी और इसलिये वाणी से सृष्टि करने वाला ब्रह्म भी अब सृष्टि का प्रधानकारण नहीं माना जायेगा। व्याकरण में तृतीयाविभक्ति को "करण" कहा जाता है। और करण प्रधानकारण नहीं होता अपितु अप्रधानकारण होता है। अतः किसी पूर्वपक्षी की शंका यह है कि, चूंकि उपर्युक्त श्रुति में "वेदशब्देभ्यः" इस शब्द में तृतीयाविभक्ति लगी होने के कारण वाणी को अप्रधानकारण मान लेना चाहिए और इसलिये अब वाणी अप्रधान हो गयी, तृतीयाविभक्ति के कारण अब वाणी को मुख्य या प्रधानकारण नहीं माना जा सकता। वाणी अप्रधान है तो वाणी से सृष्टि करने वाला ब्रह्म भी अप्रधान कारण हो गया। **नहीं**, आपकी शंका ठीक नहीं है। क्योंकि "मिट्टि से घड़े का निर्माण किया" इस वाक्यानुसार तृतीयाविभक्ति का प्रयोग तो प्रधानकारण में भी प्रयोग होता देखा-सुना गया है। साथ ही साथ वाणी को सृष्टि रचने का प्रधानकारण(उपादानकारण)मान लेने से ब्रह्म को ही समस्त वस्तुओं का प्रधानकारण(उपादानकारण)मानने वाली श्रुतियों से भी विरोध नहीं आयेगा क्योंकि "वाचाऽविरूपनित्यया" , "वेद स्वयं भगवान के स्वरूप हैं(श्री०भा० ६-१-४०)" इत्यादि श्रुतियों में वाणी को भगवद्रूप ही माना गया है अतः सभी का प्रधानकारण(उपादानकारण)अंततोगत्वा ब्रह्म ही सिद्ध होता है। कोई ये शंका भी न करे कि, केवल शब्द(वाणी) ही किसी को कैसे उत्पन्न कर देगा ? नहीं, ये शंका उचित नहीं क्योंकि शब्द आदि तन्मात्राओं से आकाश की उत्पत्ति हुई है , यह तो सैंकड़ों स्मृतियों में सिद्ध हुई बात है।

तथा वर्णात्मकादपि तदुत्पतौ बाधकाभावात् । वस्तुतस्तु 'वेदा यथा मूर्तिधरास्त्रिपृष्ठ'इति वाक्याद्वेदाभिमानिदेवतैवोपादीयते । अत एव 'ॐमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम् । भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव । सर्वं ह्येतद् ब्रह्मे'ति माण्डूक्येऽपि श्रूयते । नामसृष्टौ तु नाद एव प्रणवद्वारोपादीयते । अत एव द्वादशस्कन्धे ॐकारमुपक्रम्य 'स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद्वाचकः परमात्मनः । स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातन'मित्युक्तम् । 'स एष जीव' इत्यादि च । तेन वेदपुराणाद्यात्मकसृष्टेः प्रणव एवोपादानम् । एवञ्च, 'मनः पूर्वो वागुत्तर' इत्यादिश्रुत्या वाचो मनःपूर्वकत्वश्रावणात्, 'वचसा वेदमार्गं ही'त्यत्रार्थादेव मनःपूर्वकत्वसिद्धिः । तथाच मनस्समाधिपूर्वकं वचसा वेदमार्गं सृष्टवान् । हि युक्तश्चायमर्थः । तेन मार्गेण भगवान् प्राप्यत इति ।

और, जब ऊपर कही श्रुतियों के अनुसार तन्मात्राओं से सृष्टि उत्पन्न होनी कही गयी है, तो फिर वर्णात्मक शब्द से भी सृष्टि की उत्पत्ति में कोई भी विरोध नहीं आता है। वास्तव में मूल बात तो यह है कि, "हे महात्माओं ! आप सभी सत्यलोक में रहने वाले मूर्तिमान वेदों के समान हैं(श्री०भा० १-१९-२३)" इस वाक्यानुसार चारों वेद के देवतारूप सृष्टि की रचना करते हैं। इसी कारण माण्डूक्य उपनिषद् की श्रुति में "ॐ यह अक्षर है। यह संपूर्ण जगत् उसी की महिमा बताने वाला है। भूत-भविष्य-वर्तमान सबका सब जगत् ओंकार ही है(मा०उप०-१)" यह कहा गया है। नामसृष्टि की रचना में तो नाद को ही प्रणव द्वारा प्रधानकारण(उपादानकारण) माना जाता है। इसी कारण द्वादशस्कंध में "ओंकार(श्री०भा० १२-६-३९)" से आरंभ करके "ॐकार अपने आश्रय परमात्मा परब्रह्म का साक्षात् वाचक है और ॐकार ही सम्पूर्ण मन्त्र, उपनिषद् और वेदों का सनातन बीज है(श्री०भा० १२-६-४१)" यह कहा गया है एवं एकादश में "हे उद्धव ! निखिल वस्तुओं को सत्ता-स्फूर्ति-जीवनदान करनेवाले परमात्मा ही हैं। वे ही सर्वप्रथम नादस्वरूप परा वाणी नामक प्राण के साथ मूलाधारचक्र में प्रवेश करते हैं(११-१२-१७)" यह कहा गया है। इन वाक्यों से सिद्ध होता है कि, वेदपुराणात्मक सृष्टि बनने का प्रधानकारण(उपादानकारण)प्रणव ही है। इसलिए "पहले मन बना एवं फिर वाणी बनी" इस श्रुति के अनुसार वाणी को मनपूर्वक कहा गया है। इसी कारण आचार्यचरणों ने इस ग्रन्थ में सबसे पहले मन द्वारा सृष्टि उत्पन्न होने की बात कही। अतः आचार्यचरणों द्वारा कहे "वचसा वेदमार्गं हि" से ही सिद्ध हो जाता है कि आपश्री ने यहाँ मनपूर्वक वाणी द्वारा सृष्टि बनने की बात कह रहे हैं। इसका फलितार्थ यह हुआ कि भगवान ने मन को समाहित करके अपनी वाणी द्वारा वेदमार्गीय सृष्टि की रचना की। हि इस अर्थ की युक्तता बताने के लिये प्रयुक्त हुआ है। इस वेदमार्ग के द्वारा भगवान को प्राप्त किया जाता है।

यतो हरिः सर्वदुःखहर्ता। तथाच वेदमार्गं विना जीवानां दुःखनिवृत्तिर्न स्यादतस्तथा कृतवानित्यर्थः। एतदेव 'तेने ब्रह्म हृदे'त्यनेनोच्यते। अत एव 'जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वा'दिति सूत्रकारोऽपि रूपसृष्टेर्नामसृष्टेर्भेदं क्रमेणाह। तथा 'रूपप्रपञ्चकरणादासक्तस्वांशवारणे। श्रुतिमात्मप्रसादाय चकारात्मानमेव स' इत्याचार्यैर्निबन्धे निरूपितम्। इदमत्राकूतम्। 'स वै नैव रेम' इति श्रौते सन्दर्भे रमणार्थमेव प्रपञ्चरूपेणाविर्भाव उच्यते। तथाच रमणं वैचित्र्यं विना न सम्भवतीति सर्वेषामविद्यया स्वशक्त्या तत्तदासक्तिरूपं बन्धं सम्पादितवान्। पश्चात्सर्वे एते दुःखिता एव भविष्यन्तीति करुणया वेदमार्गकरणं दुःखनिवर्तकम्। अतो मनस्समाधिपूर्वकत्वमुच्यते। तथाच येषां वेदमार्गेण मुक्तिस्ते दैवजीवाः। येषां बन्ध एव ते आसुराः। 'दैवी सम्प'दिति वाक्यात्।

चूँकि भगवान हरि हैं अर्थात् सर्वदुःखहर्ता हैं और वेदमार्ग का अनुसरण किये बिना जीवों के दुःख दूर नहीं होंगे इसलिये भगवान ने वेदमार्ग को बनाया - यह अर्थ है। यही बात "जिसने ब्रह्मा को भी अपने संकल्प से वेदज्ञान का दान दिया है, उस परमात्मा का हम ध्यान करते हैं(श्री०भा० १-१-१)" इस श्लोक में कही गयी है। और इसी कारण "इस जगत् का जन्म, स्थिति और लय जिससे होते हैं, वह ब्रह्म है(ब्र०सू० १-१-२)" इस श्लोक के सूत्रकारों ने भगवान द्वारा उनके रूप से एवं नाम से सृष्टि बनाने की बात क्रमपूर्वक कही है। और आचार्यचरणों ने निबन्ध में भी "भगवान का जगत्-रूप बड़ा विचित्र है। इस विचित्र जगत् में जीवों को भ्रम हो जाता है अतः उनके भ्रम को दूर करने के लिये श्रुति-वेदरूप से भगवान ही प्रकट हुए(सर्व०नि०-१८)" यों कहा है। आचार्यचरणों की इस कारिका का अर्थ यह है कि, "उस ब्रह्म ने अकेले रमण नहीं किया अतः ब्रह्म ने दूसरे की इच्छा की और वह उतना ही बन गया, जितना आलिङ्गित स्त्री और पुरुष होते हैं(बृ० १-४-३)" इस श्रुति के संदर्भ में यह कहा गया है कि भगवान रमण करने के लिये प्रपञ्चस्वरूप से आविर्भूत हुए। और रमण अनेक प्रकार की चित्र-विचित्र उत्तम-मध्यम-जघन्य प्रकारक सृष्टि किये बिना संभव नहीं हो सकता अतः भगवान ने अपनी अविद्या नामक शक्ति द्वारा सृष्टि के जीवों में आसक्ति उत्पन्न करवा कर उन्हें संसार के बन्धन में डाल दिया। तत्पश्चात् भगवान ने मन में विचार किया कि, अब संसार के बन्धन से ये सभी दुःखी होंगे अतः उन्होंने करुणापूर्वक वेदमार्ग बनाया जो समस्त दुःखों का निवारण करने वाला है। अतः इस दृष्टि से आचार्यचरणों ने यहाँ भगवान द्वारा उनके मन से वेदमार्ग को उत्पन्न करने वाली बात कही है। इसलिये फलितार्थ यह हुआ कि, जिनकी वेदमार्ग द्वारा मुक्ति होती है, वे दैवीजीव हैं और जो संसार के बंधनों में बँधे रह गये, वे आसुरीजीव हैं। जो बात "दैवी गुण मोक्ष के लिये और आसुरी गुण बन्धनकारी है(भ०गी० १६-५)" इस श्लोक में भी कही गयी है। पुष्टिं तु कायेन। 'कस्य रूपमभूद् द्वेधा तत्कायमभिचक्षत' इति कायपदनिर्वचनात्। 'स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवता'मिति पुरुषविधब्राह्मणे श्रवणात्स्वरूपस्यैवानेकधा भवनम्, स्वरूपं चानन्द एवेत्यानन्देनेत्यर्थः। तत्रापि निश्चयः नितरां चय एकीभावो यस्य तादृशोऽतिसावधानः। तेन मनोवचःपूर्वकत्वमर्थादेव सिद्धम्। गोवर्धनोद्धरणप्रसङ्गे तथात्वं स्पष्टम्। तस्यामानन्दांशादेर्न तिरोभावः। एतद्यथा तथा विद्वन्मण्डने निबन्धे च स्पष्टम्। यद्यपि पूर्वत्र समवायित्वं भगवत एवेति तस्यापि कायेनैव सृष्टिरायाति, तथापि तत्र समवायित्वे सच्चितोरेव प्राधान्यम्, अत्र तु केवलानन्दस्येति भेदः।

पुष्टिसृष्टि की रचना भगवान ने अपनी काया से की है। इस बात का प्रमाण "जिस समय ब्रह्माजी सृष्टि प्रकट होने में आने वाले विघ्नों का विचार कर रहे थे, तब अकस्मात् उनके शरीर के दो भाग हो गये। "क" ब्रह्माजी का नाम है, उन्हीं से विभक्त होने के कारण शरीर को "काय" कहते हैं(श्री०भा० ३-१२-५२)" यह श्लोक है जिसमें "एक रूप के दो हो जाने को काया कहते हैं" - यह कहा गया है। और, "उस ब्रह्म ने अपने देह को ही दो भागों में विभक्त कर डाला। उस दो भाग से पति और पत्नी हुए(बृ० १-४-३)" श्रुति के अनुसार भगवत्स्वरूप का ही अनेक रूपों में परिवर्तित हो जाना, भगवत्स्वरूप आनन्दमय ही है एवं सृष्टि की रचना ब्रह्म ने आनन्दपूर्वक की- इत्यादि बातें कही गयी हैं। ध्यातव्य है कि अन्य सभी टीकाकारों ने इस ग्रन्थ के संदर्भ में यह कहा है कि, भगवान ने अपने मन द्वारा प्रवाहीसृष्टि, अपनी वाणी से मर्यादासृष्टि एवं अपनी काया से पुष्टिसृष्टि उत्पन्न की है। परन्तु प्रस्तुत टीकाकार का मत इनसे भिन्न है। ये कहते हैं - भगवान ने मायायुक्त मन से प्रवाहीसृष्टि उत्पन्न की है। मनसहित वाणी से मर्यादासृष्टि उत्पन्न की। और, मन एवं वाणी दोनों के सहित अपनी काया से पुष्टिसृष्टि उत्पन्न की। अध्येता जब ध्यान से धैर्यपूर्वक पूर्वापर का संदर्भ पढ़ेंगे तब उन्हें टीकाकार का यह मत समझ में आयेगा। यही बात आचार्यचरणों ने "निश्चयः" शब्द से कही है- निश्चयः का अर्थ है- निः अर्थात् पूर्णतया ; चय का अर्थ है - एकीकरण करना। फलितार्थ यह हुआ कि- भगवान ने अपने मन को पूर्णतया समाहित करके अर्थात् अति सावधान होकर अपनी काया से पुष्टिसृष्टि की रचना की। इसी बात से यह अपने आप सिद्ध हो जाता है कि, भगवान ने अपने मन एवं वाणी दोनों के संग अपनी काया द्वारा पुष्टिसृष्टि की रचना की है। गोवर्धन पर्वत उठाने में भी यही भाव है। अर्थात् भगवान ने अपने मन में व्रजवासियों

की रक्षा करने का विचार करते हुए गोवर्धनपर्वत उठाया। अतः पुष्टिसृष्टि में आनन्द-अंश का तिरोभाव नहीं है। साधारण पाठकों के लिये यह जान लेना आवश्यक होगा कि, इस पंक्ति में सामान्य पुष्टिमार्गीयजीवों के विषय में नहीं कहा जा रहा है अपितु शुद्धपुष्टिमार्गीय जीवों के विषय में कहा जा रहा है। प्रवाहपुष्टि-मर्यादापुष्टि-पुष्टिपुष्टि-शुद्धपुष्टि इत्यादि के विषय में इसी ग्रन्थ के टीकाकारों का विवेचन एवं ग्रन्थसार पढ़ लेना योग्य रहेगा। यह सभी कुछ विद्वन्मण्डन एवं निबन्ध में विस्तार से कह दिया गया है। यद्यपि पहले की सृष्टि में अर्थात् मर्यादा-प्रवाह सृष्टि में भी सृष्टिनिर्माण में समवायिकारण(मूलकारण या प्रधानकारण) तो भगवान ही हैं और वो सृष्टि भी भगवान की काया से ही बनी हैं तथापि अंतर इतना है कि, मर्यादासृष्टि एवं प्रवाहसृष्टि भगवान के क्रमशः सत्-अंश एवं चित्-अंश से बनी हैं और पुष्टिसृष्टि केवल भगवान के आनन्द-अंश से।

अथवा । मर्यादायाः समवाय्यप्यक्षरमेव । 'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना । मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः','अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः', 'अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वा' इत्यादिवाक्यैर्मयादासृष्ट्युपादानकारणत्वेनाक्षरं ब्रह्म निरूपयित्वा, 'परस्तस्मात्तु भावोऽन्य' इत्यादिना तस्य क्षरात्परत्वमुक्त्वा, तस्य स्वधामत्वं चोक्त्वा, अग्रे 'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यये'ति स्वस्य ततो भिन्नत्वं भणितवान् भगवान्। अत एव 'एकांशेन स्थितो जग'दिति स्पष्टमेव सङ्गच्छते। अत्र 'एकांशेने'ति कथनाद्भगवदंशस्याक्षरस्य मर्यादासमवायित्वमवगम्यते। कालपक्षेऽपि तस्याभिन्नत्वादविरोधः। अत एव बृहद्वामनपुराणे ब्रह्मवाक्यं 'अक्षरं ब्रह्म परमं वेदानां स्थानमुत्तम'मिति। अत एव 'द्विरूपं तद्धि सर्वं स्या'दिति सिद्धान्तमुक्तावल्यामाचार्यैर्निरूपितम्।

अथवा तो मर्यादासृष्टि का समवायिकारण(प्रधानकारण) भी अक्षरब्रह्म ही है, भगवान नहीं- यों समझ लें। और, स्वयं भगवान ने गीता में "संपूर्ण चराचर प्राणी मुझमें स्थित हैं परन्तु मैं उनमें नहीं हूँ(भ०गी० ९-४)" , "मेरा परमधाम अव्यक्त अक्षर कहलाता है(भ०गी० ८-२१)" , "ब्रह्मा के दिन के आने पर यह जीवसमूह अव्यक्त से प्रकट होता है और ब्रह्मा की रात्रि का आगमन होने पर फिर उसी में लय हो जाता है(भ०गी० ८-१८)" इत्यादि वाक्यों में मर्यादासृष्टि का उपादानकारण अक्षरब्रह्म को बता कर आगे "इस व्यक्त-अव्यक्त होने वाली जड़ प्रकृति से परे एक अन्य सनातन प्रकृति है जो अविनाशी है(भ०गी० ८-२०)" इस वाक्य द्वारा अक्षरब्रह्म को क्षर से ऊँचा बता कर एवं अक्षरब्रह्म को अपना निजधाम बताकर आगे फिर "वे परमपुरुष भगवान अनन्यभक्ति से ही प्राप्त हो सकते हैं। अपने परमधाम में विराजमान होते हुए भी वे सर्वत्र व्याप्त हैं(भ०गी० ८-२२)" इस वाक्य द्वारा खुद को अक्षरब्रह्म से भिन्न बताया है। अतएव "हे अर्जुन ! अधिक जानने की आवश्यकता नहीं। तुम केवल इतना जान लो कि, अपने एकमात्र अंश से इस सम्पूर्ण जगत् को धारण करके मैं इसमें व्याप्त हो रहा हूँ(भ०गी० १०-४२)" यह वाक्य भी स्पष्टरूप से यहाँ संगत बन जाता है। और, इस श्लोक में "एकांश" कहने से भगवदंश-अक्षरब्रह्म मर्यादासृष्टि का समवायिकारण(प्रधानकारण) है- यह मालूम पड़ता है। जहाँ कहीं काल द्वारा मर्यादासृष्टि रचने की बात आती है, तो काल भी आखिरकार अक्षरब्रह्म से भिन्न नहीं है क्योंकि काल भी भगवद्रूप है अतः विरोधाभास जैसी कोई बात नहीं है। अतएव बृहद्वामनपुराण में "अक्षरं ब्रह्म परमं वेदानां" यह ब्रह्मवाक्य कहा गया है। इसी कारण सिद्धान्तमुक्तावली में आचार्यचरणों ने "यह अक्षरब्रह्म ही दो रूप धारण करके जगत् के रूप में परिवर्तित हो जाता है(३)" यह कहा है।

एवं प्रवाहेऽपि मायामनोरूपः समवायी। 'द्वे अस्य बीजे' इत्यारभ्य 'मायामयं वेद स वेद वेद'मिति भगवता निरूपणात्। न च मिथ्यात्वं सर्वस्य । मायामात्रस्यैव तथात्वात् । सन्ध्याधिकरणेन तथा निश्चयात् । अत्र मात्रपदाभावात् । कात्स्न्र्येनाभिव्यक्तस्वरूपत्वाच्च । मायायाः शक्तितया सतीत्वेन मयटो विकारार्थत्वेऽप्यदोषाच्च । अतोऽहङ्कारस्य चिदचिद्ग्रन्थिरूपत्ववद्व्यावहारिकप्रवाहस्य सदसद्ग्रन्थिरूपतया सत्यत्वस्यापि विद्यमानत्वात्र कोऽपि शङ्कालेशः।

और, प्रवाहसृष्टि का प्रधानकारण(समवायिकारण)भगवान की माया एवं मन है। क्योंकि भगवान ने भागवत में "इस संसारवृक्ष के दो बीज हैं- पाप और पुण्य(श्री०भा० ११-१२-२२)" इस श्लोक से आरंभ करके "प्रिय उद्धव ! वास्तव में तो मैं एक ही हूँ। मेरा अनेकों प्रकार का जो रूप है, वो केवल मायामय है। जो इस बात को अपने गुरुजनों से समझ लेता है, वही वास्तव में समस्त वेदों का रहस्य जानता है(श्री०भा० ११-१२-२३)" यहाँ तक इसके विषय में कहा है। आप संपूर्ण जगत् या संपूर्ण सृष्टि को मिथ्या न समझें क्योंकि केवल माया से निर्मित वस्तु ही मिथ्या मानी जायेगी। ब्रह्मसूत्र के सन्ध्याधिकरण(३-२-३) में इसका स्पष्टीकरण दिया गया है।

|| जिस प्रकार मर्यादा के विषय में अक्षरब्रह्म की समवायिरूपता है, उसी प्रकार प्रवाह के विषय में भी मायामनोरूप को समवायि कारण) कहा है। उपर्युक्त श्रीभागवत के प्रमाणवचन में आए "मायामनोमय" पद से प्रवाहमार्ग एवं प्रवाहसृष्टि के अन्तर्गत सभी कुछ की मिथ्यारूपता नहीं मान लेनी चाहिए ! कारण कि उल्लिखित श्रीभागवतवचन में "मायामनोमय" पद का सकोच कथन है एवं वहाँ "मायामात्र" पद का उल्लेख नहीं किया गया है क्योंकि जिन प्रमाणवचनों में "मायामात्र" पद का ग्रहण होता है, उन्हीं स्थलों पर

वस्तुतत्त्व की मिथ्यारूपता स्वीकारी जाती है, अन्यत्र नहीं। इस तथ्य का निश्चय श्रीसूत्रकार ने सन्ध्याधिकरण ब्रह्मसूत्र ३।२।१-६) में स्पष्टतया कर दिया है। प्रथमतः यहाँ उल्लिखित प्रमाणवचन में कारण कि समासपद "माया....." के साथ "मात्र" पद का प्रयोग नहीं हुआ है, तथा उक्तस्थल पर जिस प्रापंचिकसृष्टि का निरूपण किया गया है, वह भी कृत्स्नता अर्थात् अपेक्षित देश-काल-विषय-सन्निधि इत्यादि सापेक्षनिरूपक छह तथ्यों की अभिव्यक्ति के सहित किया गया है किन्तु सन्ध्याधिकरण में जिस संदिग्ध विषयवाक्य का विचार किया गया है, उस स्थल में इन अपेक्षित छह निर्धारक तथ्यों का निरूपण नहीं किया गया है। अतएव सन्ध्याधिकरणगत स्वप्नविचार के संदर्भ में स्वाप्निकी सृष्टि का मिथ्यात्व कहा गया है। अतएव प्रवाह की "प्रवाहमार्ग एवं प्रवाहसृष्टि" की मिथ्यारूपता नहीं है। माया के भगवान की शक्ति होने से माया की सत्यता है। तथा सत्यरूप होने से यदि उल्लिखित प्रमाणवचन में "मायामय" पद में माया पद से जुड़े "मयट्-प्रत्यय" का विकार-अर्थ भी ग्रहण किया जाय, तो भी स्व-अभिन्न शक्ति के शक्तिमत्स्वरूप में अनुक्तसिद्ध होने से पदार्थसिद्धि में किसी भी प्रकार का दोष उपस्थित नहीं होता। अतएव "श्रीवाल्लभमत" में अहंकार का निरूपण चित् एवं अचित् उभयाकाररूप में हुआ है। जैसे अहंकार का अस्तित्व चिद्रूपता और अचिद्रूपता अर्थात् जड़रूपता से समन्वित है, उसी प्रकार व्यावहारिक प्रवाह अर्थात् प्रवाहसृष्टि की क्रियाकारिता/क्रियाशीलता की अवस्था में सद्रूपता एवं असद्रूपता को समन्वित स्वीकारना चाहिए। इस प्रकार सद्-असद् आकार होने से प्रवाहसृष्टि की सत्यता में किन्तु कोई सन्देह नहीं रह जाता। जहाँ तक समन्वित असद् आकार का सवाल है, तो सृष्टिगत अभिमत्यात्मक संसार की असद्रूपता से सिद्धान्त में किसी भी प्रकार का दूषण संभाव्य नहीं है श्रीदेवकीनन्दनाचार्यजी महाराज/चतुर्थपीठ/श्रीमद्गोकुल)।।

टीकाकार उपर्युक्त एकादशस्कंध(११-१२-२३)के श्लोक एवं उपर्युक्त ब्रह्मसूत्र(३-२-३)के बीच का अंतर समझा रहे हैं। चर्चा प्रवाहीसृष्टि के विषय में चल रही है। चर्चा यह है कि, शुद्धप्रवाहीसृष्टि मिथ्या है कि नहीं। टीकाकार का कहना है कि, एकादशस्कंध के उपर्युक्त श्लोक में बताये गये केवल संसारचक्र में पड़े हुए प्रवाहीजीवों को भगवान ने "मायामय" कहा है। इसी प्रकार ब्रह्मसूत्र में उस सृष्टि के विषय में बताया गया है, जिसे जीवात्मा स्वप्न में देखता है। भगवान अपनी माया से उसे ऐसी सृष्टि दिखाते हैं। इस सृष्टि को उपर्युक्त ब्रह्मसूत्र में "मायामात्र" कहा गया है। टीकाकार का कहना यह है कि, जिस सृष्टि के विषय में उपर्युक्त ब्रह्मसूत्र में "मायामात्र" शब्द से बताया गया है, वही सृष्टि मिथ्या है। इसका कारण बताते हुए वे कहते हैं कि, एकादशस्कंध में जिस प्रवाहीसृष्टि के विषय में कहा गया है, उसे केवल "मायामय" कहा गया है अर्थात् यह सृष्टि माया से युक्त है। परन्तु ब्रह्मसूत्र में बतायी गयी सृष्टि को मात्र माया ही बताया गया है अतः मायामात्र होने के कारण वही सृष्टि मिथ्या है, एकादशस्कंध में बतायी गयी सृष्टि नहीं। ब्रह्मसूत्र में बताया गया है कि जीवात्मा को स्वप्न में दिखाई देने वाली सृष्टि संपूर्णतया स्पष्टरूप से दिखाई नहीं देती इसलिये यही सृष्टि मिथ्या है। एकादशस्कंध के श्लोक में बतायी गयी सृष्टि तो स्पष्टतया अभिव्यक्त होती है अतः इसमें बतायी गयी सृष्टि मिथ्या नहीं है। टीकाकार एक बात और कहते हैं। वे कहते हैं कि, वैसे "मायामय" शब्द में "मयट्-प्रत्यय" का प्रयोग है और मयट्-प्रत्यय विकार अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस पर यदि कोई पूर्वपक्षी ये शंका करे कि, तब तो माया विकारी हो गयी और माया से उत्पन्न होने वाला जगत् भी विकारी मानना पड़ेगा !! तो इसका निराकरण करते हुए टीकाकार आगे लिख रहे हैं कि, माया तो भगवान की अभिन्नशक्ति है और भगवान की शक्ति होने के नाते माया की भी सत्ता है ही। जैसे भगवान की सत्ता है, वैसे ही माया की भी सत्ता है। अतः माया से बनी हुई सृष्टि भी सत्तावान है, मिथ्या नहीं है। ब्रह्मसूत्र के सन्ध्याधिकरण में बतायी गयी स्वाप्निक सृष्टि को "मायामात्र" बताया गया है अर्थात् वह मात्र माया से ही निर्मित हुई सृष्टि है। और ये बताया गया है कि जीवात्मा को स्वप्न में दिखाई देने वाली सृष्टि संपूर्णतया अभिव्यक्त नहीं होती। परन्तु उपर्युक्त एकादशस्कंध में बतायी गयी संसारचक्र में ही बहते रहने वालों की सृष्टि तो पूर्णतया अभिव्यक्त होती है, दिखाई देती है इसलिये मिथ्या नहीं है। यदि कोई पूर्वपक्षी मुझसे यों कहे कि मैं जिस एकादशस्कंध के श्लोक का उदाहरण दे रहा हूँ, उसमें बतायी सृष्टि को "मायामय" कहा गया है, जिसमें "मयट्-प्रत्यय" का प्रयोग है जो विकार-अर्थ में प्रयुक्त होता है इसलिये माया विकारी सिद्ध हो गई और उससे बनने वाली सृष्टि भी विकारी सिद्ध हो गयी। तो नहीं, पूर्वपक्षी का ऐसा सोचना ठीक नहीं है क्योंकि माया भगवान की शक्ति है और यदि भगवान की सत्ता है तो माया की भी सत्ता है अतः माया से उत्पन्न होने वाली सृष्टि की भी सत्ता है ही। इसलिए भले ही भगवान ने मायामय होकर सृष्टि की रचना की हो और किसी अंश में इस सृष्टि को विकारी भी कह दें, तथापि इसमें दोष नहीं है। अतः अहंकार जैसे चित्-अचित् ग्रन्थिरूप है अहंकार (अर्थात् अन्तःकरण के अंतर्गत आनेवाला मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार) को चित् भी कहते हैं और अचित् भी (देखें श्री०भा० ११-२४-७) इसलिये इसे चित्-अचित् ग्रन्थिरूप कहते हैं। तात्पर्य यह कि, अहंकार में चिदंशरूपता भी है और जडंशरूपता भी है उसी प्रकार व्यावहारिक प्रवाहसृष्टि भी ब्रह्मरूप होते हुए भी सत्-असद् ग्रन्थिरूप है इसलिये व्यावहारिक

संदर्भ में तो सत्यरूप से विद्यमान है ही और प्रवाहसृष्टि को मायिक नहीं कहा जा सकता अतः इसमें कोई भी शंका नहीं है।

पुष्टौ तु पुरुषोत्तम एव सर्वांशेन कार्यकारणरूप इत्यभिप्रेत्य कायेनेत्युक्तम् । अत एव श्रुतौ साक्षात्परम्पराभ्यां सृष्टिः स्वस्यैव सर्वरूपेण भवनं चेति प्रकारत्रयेण सृष्टिकथनम् । अत एव तैत्तिरीये ब्रह्मवित्प्रपाठके 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत'इति 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति', 'स आत्मान स्वयमकुरुते'ति वारत्रयं सृष्टिरुक्ता । वैजात्याभावे तथा कथनमप्रयोजनकं स्यात् । तस्मान्न कोऽपि शङ्कांशः । कारणवैजात्ये फलवैजात्यन्यायस्य तुल्यत्वात् । अवान्तरभेदास्त्वेतेष्वेवान्तर्भवन्ति । एतच्च लीलासृष्टेर्भगवदात्मकत्वं नारायणसमो गुणै'रित्यत्र 'तमद्भुतमि'त्यत्रापि च निर्णीतं श्रीमदाचार्यचरणैः ।

पुष्टिसृष्टि में तो पुरुषोत्तम ही सर्वांशरूप से कार्य और कारण हैं अतः आचार्यचरणों ने **पुष्टि कायेन निश्चयः** यों कहा। अतः श्रुति में साक्षात् रूप से सृष्टि करनी, परम्परा से करनी एवं स्वयं भगवान का सर्वरूप हो जाना यों तीन वार सृष्टि हो जानी कही है। इसी कारण तैत्तिरीय ब्रह्मवित्पाठक में "परमात्मा ने स्वयं अपने आप को ही जड़-चेतनात्मक जगत् के रूप में बनाया है(तैति०उ० २-७-१)" , "सर्ग के आदि में परमात्मा ने विचार किया कि मैं नानारूप में उत्पन्न होकर बहुत हो जाऊँ(तैति०उ० २-६-१)" , "अन्तर्यामि परमात्मा से पहले आकाशतत्व हुआ, आकाश से वायुतत्व, वायु से अग्नितत्व, अग्नि से जलतत्व और जल से पृथ्वी हुई(तैति०उ० २-१-१)" यों तीन वार सृष्टि होनी बतायी है। यदि सृष्टि भिन्न-भिन्न(वैजातीय) या तीन प्रकार की न होती और एक जैसी ही होती, तो श्रुति एक ही सृष्टि को तीन प्रकार से क्यों कहती ? इस कारण भी तीन प्रकार की सृष्टि कहने में कोई भी शंका नहीं है। उपर्युक्त श्रुतियों के अनुसार जब सृष्टि बनने के कारणों में भी भेद/भिन्नता है, तो कार्य में तो भेद/भिन्नता आयेगी ही। और, सृष्टि के अन्य जितने भी अवान्तर भेद हैं , वे सभी इन्हीं तीन प्रकार की सृष्टि के अंतर्गत हैं, यह समझ लीजिए। इस पुष्टिसृष्टि के लीलासृष्टि और भगवदात्मक होने की बात आचार्यचरणों ने "हे नन्दजी ! गुण, ऐश्वर्य, सौंदर्य, कीर्ति और प्रभाव चाहे जिस भी दृष्टि से देखें, तुम्हारा बालक नारायण के समान है अतः इस बालक के अलौकिक कार्यों को देखकर आश्चर्य नहीं करना चाहिए(श्री०भा० १०-२६-२२)" और "वसुदेवजी ने देखा - उनके सामने एक अद्भुत बालक खड़ा है। उसके चार हाथ हैं और शंख, चक्र, गदा पद्म लिये हुए है। गले में कौस्तुभमणि धारण की है(श्री०भा० १०-३-९)" इत्यादि वाक्यों द्वारा निर्णीत कर दी है।

अत एव 'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म', 'दहर उत्तरेभ्य' इत्यादिश्रुतिसूत्रैर्भगवल्लीलासृष्टेर्भगवद्रूपत्वमुच्यते । बृहद्वामनपुराणे 'आनन्दमात्रमिति यद्वदन्तीह पुराविदः । तद्रूपं दर्शयास्माकं यदि देयो वरो हि न' इति श्रुतिभिः प्रार्थितो भगवान् 'स्वलोकं प्रकृतेः परम् । केवलानुभवानन्दमात्रमक्षरमध्यग'मित्युपक्रम्य 'किशोराकृतिरच्युत' इत्यन्तेन वृन्दावनगोवर्धनयमुनादिसर्वभक्तसहितं स्वस्वरूपं दर्शितवानिति सर्वस्या एव लीलासृष्टेस्तद्रूपत्वमायातीत्येतत्सर्वं विद्वन्मण्डने स्पष्टम् ।

अतएव "ब्रह्म के नगररूप मनुष्यशरीर में कमल के आकारवाला एक घर(हृदय) है, उसके भीतर जो वस्तु है उसे जानने की इच्छा करनी चाहिए(छा० उप० ८-१-१)", "दहर उत्तरेभ्यः(ब्र०सू० १-३-१४)" इत्यादि श्रुति/सूत्रों में भगवल्लीलासृष्टि को भगवद्रूप कह दिया गया है। वृहद्वामनपुराण में "आनन्दमात्रमिति यद्वदन्तीह" इत्यादि श्रुतियों द्वारा प्रार्थना किये जाने पर भगवान ने "स्वलोकं प्रकृतेः परम्" इस वाक्य से आरंभ करके "किशोराकृतिरच्युतः" इस वाक्य तक वृन्दावन-गोवर्धन-यमुना आदि समस्त भक्तों सहित अपने स्वरूप को दिखाया अतः समस्त लीलासृष्टि भगवत्स्वरूप है, यह सिद्ध हो जाता है- यह सभी कुछ विद्वन्मण्डन में स्पष्ट किया गया है।

ननु भवत्वेवं सर्गभेदः, तथापि सर्वेषां जीवानां भगवदंशत्वाविशेषात्प्रावाहिकाणामेव अतिदुष्टत्वे को हेतुः । न च रमणेच्छैव हेतुः । तथा सति स्वरतीच्छायां तेषां लयः स्यात् । न च जायत एवेति वाच्यम् । तथा सति अतिदुष्टता न स्यात् । यथा कर्मिणाम् । न चेष्टापत्तिः । तथा सति 'मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गति'मिति भगवद्वाक्यविरोधः स्यात् । एवकारश्च सर्वमुक्तिदशायामपि प्राप्त्यभावद्योतको विरुध्येत । कर्मिणामपि । सर्वमुक्तितोऽर्वाक् भगवत्प्राप्त्यभावादुच्चनीचकर्मणा चाधमादिगतेरपि जायमानत्वादविशेषश्च स्यात् । मामित्यस्य पदस्याक्षरपरत्वेऽपि न निस्तारः । उक्तदोषतादवस्थ्यात् । वस्तुतस्तु लयाभावोऽप्यशक्यवचनः । 'यथाद्रिप्रभवा'इति वाक्यात् । अथोक्तगीतावाक्यानुरोधा'द्यथाद्री'ति वाक्यस्थे गतिपदे सङ्कोचः कार्यः । तथा सति तेषामन्यतमःप्रवेश एव मुक्तिः ।

अध्येता ध्यान में लें कि यहाँ से टीकाकार ने किसी पूर्वपक्षी की शंका स्थापित की है। पूर्वपक्ष बहुत लंबा है, कई पक्ष बनाये गये हैं अतः अध्येताओं की सुविधा के लिये संपूर्ण पूर्वपक्ष को कोष्ठक में कर दिया गया है। पूर्वपक्ष समाप्त होने के पश्चात् जहाँ से उत्तरपक्ष आरंभ हो रहा है, वहाँ पुनः निर्देश किया गया है। [[एक शंका यह होती है कि, चलो मान लें कि भिन्न-भिन्न प्रकार की सृष्टि(सर्ग)होती होगी, तथापि समस्त जीव आखिरकार तो भगवान के ही अंश हैं, फिर केवल प्रावाहिकसृष्टि को ही अतिदुष्ट मानने का क्या कारण है ? इसके

प्रत्युत्तर में यदि आप यों कहो कि भगवान की ऐसी ही इच्छा है कि इन्हें दुष्ट बना कर ही इनके साथ रमण करें ; तो ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि रमण संपूर्ण होने के पश्चात् जब सृष्टि का भगवान में लय होगा, तो प्रावाहिकों का भी भगवान में लय होना स्वीकारना पड़ेगा ! और यदि आप ये कहते हो कि, हाँ प्रावाहिक जीवों का भी भगवान में लय हो जाता है , तो फिर प्रावाहिकों को अतिदुष्ट नहीं कहा जा सकेगा। जैसे कर्ममार्गियों को भी अतिदुष्ट तो नहीं ही कह सकते क्योंकि वे यत्किंचित् कर्म तो करते ही हैं। आप ये भी नहीं कह सकते कि प्रावाहिकसृष्टि अतिदुष्ट नहीं है क्योंकि तब फिर "हे अर्जुन ! आसुरी योनि को प्राप्त हुए मूढ़ मनुष्य जन्म-जन्म में भी मुझे प्राप्त करते ही नहीं और फिर उससे भी अधम गति में गिरते हैं(भ०गी० १६-२०)" इस भगवद्वाक्य से विरोध आ जायेगा। इस गीतावाक्य में भगवान ने एवकार(मां अप्राप्य एव= आसुरी मुझे प्राप्त नहीं ही कर पायेंगे)का प्रयोग किया है, जिससे ज्ञात होता है कि सर्वमुक्तिदशा के समय भी ये प्रावाहिक/आसुरी भगवान को प्राप्त नहीं करते। भगवत्प्राप्ति तो सभी की मुक्ति के पश्चात् कर्ममार्गीय को भी नहीं होती एवं अपने उच्च-नीच कर्मों के अनुसार वे भी अधमगति को प्राप्त होते ही हैं अतः उनमें एवं प्रवाहमार्गीयों में भी कहाँ भेद रहा ? यदि आप कहें कि —उपर्युक्त गीतावाक्य में कहे "मां" पद का अर्थ अक्षरब्रह्म है और मर्यादामार्गीय तो अक्षरब्रह्म की प्राप्ति करते हैं एवं पुष्टिमार्गीयों को पूर्णपुरुषोत्तम की प्राप्ति होती है अतः इस अर्थ में वे आपस में भिन्न हैं— तो भी आप मर्यादा एवं प्रवाही जीवों के बीच का अंतर नहीं मिटा पाये क्योंकि अंततोगत्वा तो प्रवाहीजीवों की भांति मर्यादाजीवों की मुक्ति तो नहीं ही हुई न ! वास्तविकता तो यह है कि "मर्यादामार्गीयों का अंततोगत्वा भगवान में लय नहीं होता" यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि भागवत में तो "जैसे पर्वतों से निकली हुई अनेकों नदियाँ घूम-फिर कर समुद्र में पहुंच जाती हैं, वैसे ही सभी प्रकार के उपासना मार्ग देर-सवेर आपके ही पास पहुंच जाते हैं(श्री०भा० १०-४०-१०)" यह कह दिया गया है। अतः उपर्युक्त गीतावाक्य में जहाँ भगवान ने यह कह दिया है कि, आसुरी मुझे प्राप्त कर ही नहीं सकते, वहाँ इस भागवतवाक्य(श्री०भा० १०-४०-१०) से विरोध आ जाता है अतः भागवत के इस श्लोक को सीमित अर्थ में समझना चाहिए। तात्पर्य यह कि, प्रवाहीजीवों को भगवान को प्राप्त करने वाली मुक्ति तो नहीं परन्तु हाँ, अन्धतम नरक में प्रवेशरूपा मुक्ति ही मिलती है, जिसका अर्थ ये है कि, वे जन्म-मरण के चक्कर से छूट कर मुक्त हो जाते हैं।

तथाच सर्वमुक्तिदशायामपि न भगवति तेषां लय इति स्वीक्रियत इति चेत् । तर्हि 'यतो वा इमानी'त्यादि 'अव्यक्तादीनि भूतानी'त्यादिश्रुतिभगवद्वाक्ययोर्भगवत एवोत्पत्तेर्भगवत्येव च लयस्य कथनात्तेषां तत्र लयानङ्गीकारे तत उत्पत्तिरपि न स्यात् । यदि चोभयसामञ्जस्यार्थमन्यतमसस्ततोऽतिरेकेण प्रलये स्थितिरङ्गीक्रियते, तदा 'भवानेकः शिष्यतेऽशेषसंज्ञ' इति श्रीभागवतवाक्यविरोधः । न च सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वादन्धतमसोऽपि तथात्वादेकपदस्य मुख्यवाचकत्वेनाप्युपपत्तेस्तत्स्थितौ को दोष इति वाच्यम् । अन्धतमसो विकारत्वात्तस्य ब्रह्मत्वाङ्गीकारे 'वाचारम्भणं विकार'इत्यादि 'विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवा'नित्यादिश्रुतिभगवद्वाक्यविरोधात् । 'बृहदुपलब्ध्यमेतदवयन्त्यवशेषतये'त्यादि 'निर्दोषपूर्णगुणविग्रह'इत्यादिवाक्यानि च विरुध्येरन् । अतो भगवति लयानङ्गीकारे भगवतो न तदुपादानत्वमिति सिध्येत् ।

अब यदि "समस्त जीवों की मुक्ति होने की दशा में भी प्रवाहीजीवों का भगवान में लय नहीं होता" - यह मान लिया जाय, तो फिर "ये प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले समस्त प्राणी जिनसे उत्पन्न होते हैं और जिसका बल पाकर जीते हैं और महाप्रलय के समय जिनमें विलीन हो जाते हैं, उनको जानने/पाने की इच्छा कर (तैति०उ० ३-१-१)" , "सभी प्राणी जन्म से पूर्व अव्यक्त रहते हैं और निधन होने के पश्चात् पुनः अव्यक्त हो जाते हैं। वे केवल मध्य में ही व्यक्त रहते हैं, फिर इसमें शोक का क्या कारण है ? (भ०गी० २-२८)" इत्यादि श्रुतिवाक्य एवं भगवद्वाक्यों में तो सभी की उत्पत्ति एवं लय भगवान में ही होनी बतायी गयी है अतः इस दृष्टि से विरोध यह आयेगा कि यदि इनका भगवान में लय ही नहीं होता, तो फिर भगवान से उत्पत्ति होनी भी कैसे मानी जा सकेगी ? और यदि आप दोनों बातों का तालमेल बैठाने के लिये एक तीसरी नई बात कह देते हैं कि, न भगवान में और न ही अन्धतम नरक में अपितु कोई तीसरा ऐसा स्थान है जहाँ इनकी मुक्ति होती है , तो फिर "जिस समय कालशक्ति के प्रभाव से सारे लोक नष्ट हो जाते हैं, उस समय केवल आप ही शेष रहते हैं(श्री०भा० १०-३-२५)" इस वाक्य से विरोध आ जायेगा जिसमें यह कहा गया है कि, प्रलय के पश्चात् तो केवल एक भगवान ही बचे रहते हैं और कुछ भी नहीं बचता, फिर उस तीसरे स्थान की कल्पना आप कहाँ से करेंगे ? क्योंकि प्रलय के पश्चात् भगवान के अतिरिक्त और कुछ तो बचता ही नहीं ? और अब यदि आप ये तर्क देते हो कि, सभी कुछ तो ब्रह्मात्मक ही है अतः अन्धतम नरक भी ब्रह्मात्मक ही हुआ, और उपर कहे श्री०भा० १०-३-२५ के वाक्य में प्रयुक्त "भवान् एकः(केवल आप ही शेष रहते हैं)" का अर्थ ये है कि, प्रलय होने के पश्चात् मुख्यरूप से तो एक भगवान ही शेष बचे रहते हैं परन्तु गौणरूप से ब्रह्मात्मक होने के नाते अन्धन्तमनरक की भी स्थिति बनी रहती है ; यदि यों अर्थ किया जाय तो क्या दोष है ? नहीं आपका तर्क सही नहीं है क्योंकि अन्धतम नरक तो विकाररूप

है और यदि अन्धतम को ब्रह्मात्मक स्वीकार कर लिया जायेगा तो, "मिट्टि के एक पिंड को जान लेने से सम्पूर्ण मिट्टि के पिंडों का ज्ञान हो जाता है। नाम तो वाणी के विकार हैं, उन सभी मिट्टि के पात्रों में मिट्टि ही एकमात्र सत्य है।(छा० ६-१-४)" , "हे अर्जुन ! प्रकृति और जीव दोनों को ही अनादि जान। उनके विकारों और त्रिविध गुणों को प्रकृति से उत्पन्न हुआ जान(भ०गी० १३-१९)" इत्यादि श्रुति एवं भगवद्वाक्यों से ही विरोध आ जायेगा। और "सारे मन्त्र अथवा सभी मन्त्रद्रष्टा ऋषि प्रतीत होने वाले इस सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्मस्वरूप ही अनुभव करते हैं। हम चाहे जिस नाम या जिस रूप का वर्णन करें, वह आपका ही नाम और आपका ही रूप है(श्री०भ० १०-८७-१५)" एवं "भगवान का विग्रह निर्दोष और पूर्ण है। प्राकृतशरीर के गुणधर्मों से रहित है। भगवान के श्रीहस्त, चरण, श्रीमुख, उदर आदि आनन्दमय है(शा०प्र०-४४)" इत्यादि वाक्य भी विरुद्ध हो जायेंगे। इसलिये यदि आप भगवान में इनका लय होना नहीं स्वीकारेंगे, तो फिर इन्हें बनाने में भगवान को उपादानकारण भी नहीं माना जा सकेगा।

किञ्च । रमणेच्छाप्येतदुत्पतौ न कारणीभवितुमर्हति । यतो रमणेच्छया स्वयं तावद्रूपो भूत्वा क्रीडतीत्युच्यते । एतेषां च केवलं दुःखित्वान्न रमणलेशोऽपि । अत एव 'केवलं नित्यदुःखा' इति श्रीवल्लभाष्टकोक्तिरपि सङ्गच्छते । न च भगवद्भिन्ना एव केचनैव जीवाः सन्ति येषामियं व्यवस्थेति वाच्यम् । अद्वैतश्रुतिविरोधात् । तस्मादुत्पत्तेरेवाभावान्मार्गभेदव्यवस्था कर्तुमेवाशक्येति चेत् ।

और, आप ये भी नहीं कह सकते कि प्रवाहीसृष्टि को भगवान ने अपनी रमण करने की इच्छा से बनाया है ! नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भगवान तो स्वयं के जैसा ही दूसरा रूप धारण करके रमण(क्रीडा) करते हैं और प्रवाहीजीव तो केवल दुःखरूप ही हैं एवं इनके भगवान के संग रमण करने का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। इसी कारण श्रीवल्लभाष्टक में इन्हें केवल दुःखरूप बताया गया है। आप ये भी नहीं कह सकते कि ये जीव तो न मुक्त होने के लिये और न रमण के लिये बने हैं अपितु ये तो भगवान से भिन्न किसी और ही तरह के जीव हैं। नहीं, आप ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि यदि आप ऐसा कहेंगे तो अद्वैतसिद्धान्त से ही विरोध आ जायेगा। इसलिये उपर्युक्त समस्त वाक्यों का विचार करने के पश्चात् यदि ये सिद्ध हो जाता हो कि, इन जीवों की उत्पत्ति ही भगवान से नहीं हुई है तो फिर अलग-अलग प्रकार के मार्ग होने की व्यवस्था करने का तो अवकाश ही नहीं रह जाता।|| यहाँ पर पूर्वपक्ष पूर्ण हुआ।

अत्रोच्यते । भगवान् हि सर्वरसभोक्ता राजवद्रमणार्थं स्वस्वरूपात्मकं प्रपञ्चं कृतवान् । तत्र च वैरिणोऽप्यपेक्षिताः । अन्यथा वीररसभोगो न स्यात् । स्वांशाश्च वैरिणो न भवन्त्येव । 'यो यदंश स तं भजते' इति वाक्यात् । तथाच पूर्वोदाहृतश्रुतिस्मृतिभिर्भगवता स्वसामर्थ्यरूपया मायया केचन जीवा मायांशा एव 'जीवेशावाभासेन करोती'ति श्रुत्युक्ता व्यावहारिकास्तद्योग्यव्यावहारिकसकलसामग्रीयुक्ताः सृष्टाः सन्तीत्यवगम्यते । व्यवहारश्च लौकिको गुणानां सन्निपातः । 'अदृष्ट्वान्यतम'मित्यस्य देवक्युद्देशेनोक्तस्य भगवतो वाक्यस्य विवरणे 'यद्यपि मत्तोऽन्ये ये केचन सम्भवन्ति मायया सृष्टा' इत्यत्र स्पष्टमिदम् । सप्तत्रिंशाध्यायेऽक्रूरस्तुतौ 'म्लेच्छघ्नाये'त्यस्य विवरणे च 'म्लेच्छा ये सहजा दैत्यास्ते गुणवन्तोऽपि हन्तव्या' इत्यनेन । अत एव श्रीमदाचार्यैरपि सृष्टिभेदनिरूपणे निबन्धे 'महेन्द्रजालवत्सर्वं कदाचिन्माययासृजत् । तदा ज्ञानादयः सर्वे वार्तामात्रं न वस्तुत' इति पद्याभासे 'स्वप्नादिसृष्टिसङ्ग्रहार्थमाहे'-त्यादिपदमेतदभिप्रायकमेवोक्तम् । अत एव 'मायेत्यसुराः', 'यो यदंशः स तं भजत'इत्यादिश्रुत्यादयोऽपि सङ्गच्छन्ते ।

अब यहाँ से उत्तरपक्ष आरंभ हो रहा है। यदि कोई इस प्रकार से शंका करता हो तो अब हम इस शंका का निराकरण कर रहे हैं। सर्वप्रथम तो यह समझिए कि भगवान सर्वरसभोक्ता हैं और उन्होंने रमण करने के लिये एक राजा की भाँति अपने स्वरूपात्मक प्रपंच को बनाया है। अब रमण या क्रीडा ही करनी है , तो भगवान को फिर वैरी-शत्रु भी चाहिए अन्यथा भगवान वीररस का भोग कैसे करेंगे ? किन्तु भगवान के अपने निजजन तो वैरी हो ही नहीं सकते क्योंकि कहा ही गया है कि "जो जिसका अंश है, वह उसका भजन करता है"। इसलिये पूर्व में कही श्रुतिस्मृतियों के अनुसार भगवान ने अपनी सामर्थ्यरूपा माया के द्वारा कुछ जीवों को माया का अंश बना कर उत्पन्न किया। जैसा कि "जीवेशावाभासेन(नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषत् खंड-८)" इस श्रुति के अनुसार उन्हें व्यावहारिक बनाया एवं उन्हें संसार में व्यवहार करने योग्य समस्त सामग्रियों से युक्त करके बनाया - यह बात समझ में आती है। व्यवहार का अर्थ है- लौकिक व्यवहार अर्थात् जीव में लौकिक राजस-तामस-सात्विक गुणों का प्रकट होना। और, जब "भगवान ने कहा- संसार में शील-स्वभाव, उदारता तथा अन्य गुणों में कोई भी मेरे जैसा नहीं है अतः मैं ही तुम दोनों का पुत्र हुआ(श्री०भा० १०-३-४१)" इस भगवद्वाक्य का विवरण आप सुबोधिनी में देखेंगे तो वहाँ "यद्यपि..... सृष्टाः" इस वाक्य में आचार्यचरणों ने माया द्वारा भी सृष्टि रचने की बात कही है। सुबोधिनी के सैंतीसवें अध्याय में अक्रूरस्तुति में भी "म्लेच्छघ्नाय(सु० १०-३७-२२)" इस श्लोक के विवरण में आचार्यचरणों ने "म्लेच्छ जो कि सहज दैत्य हैं, वे भले ही गुणवान हों तब भी भगवान उनका वध कर देते हैं" यह बात कही गयी है। अत एव श्रीमदाचार्यचरणों ने भी निबन्ध के अंतर्गत सृष्टिभेद का निरूपण करने में "कभी भगवान केवल माया से ही सृष्टि उत्पन्न

करवाते हैं, स्वयं उस सृष्टि में प्रवेश नहीं करते(शा०प्र०-३८)" इस पद्य के आरंभ में "स्वप्नादिसृष्टिसङ्ग्रहार्थमाह" इत्यादि पद इसी अभिप्राय से कहे हैं। अतएव ऊपर कहे इन सभी वाक्यों का अनुसंधान रखते हुए "मायेत्यसुरा(मुद्गलोपनिषद्-३)" एवं "यो यदंशः" इत्यादि वाक्यों की समाहिती होती है।

अत एव श्रीगोकुलनाथचरणैरपि सिद्धान्तमुक्तावलीविवृतिस्थायाः 'सेवा हि सेवकधर्मस्तदुक्त्या जीवानामशेषाणां सहजदासत्वं ज्ञापित'मिति फक्किकाया व्याख्याने 'आसुरव्यतिरिक्तानामशेषाणा'मित्युक्तम्। अत एव 'पुमान् विरज्येत विना पशुघ्ना'दिति श्लोकव्याख्याने 'अनिवर्त्यदोषेण चाप्रवेश'इत्युक्तिराचार्याणामस्माकमाश्रयः। 'सहजासुरत्वेनेत्यर्थ' इति प्रभुचरणतद्विवृतिरपि। अत एव 'असन्नेव स भवति असत् ब्रह्मेति वेद चे'दिति 'न सत्यं तेषु विद्यत' इत्यादिश्रुतिभगवद्वाक्ये तेषां व्यावहारिकं सत्त्वं वदतः। अत एव देवकीसुतानयनाय गतवन्तं भगवन्तं स्तुवतो बलेर्वाक्यविवृतौ श्रीमदाचार्यैरुक्तम्, 'ते चेत् द्वेषिणस्तदा तेषां नरकपात आवश्यक इत्या'सुरीं योनिमापन्ना' इति वाक्यानुसारेण कदाचिदप्यमुक्तौ कथं भगवान् सर्वात्मे'ति। तथाच इच्छामात्रेण निमित्तेन मायोपादानकं प्रवाहं सृष्टवान्। न तु स्वयं तत्र प्रविष्टः। तथाच मायया निर्मितेषु नरकादिरूपविकारेषु ते पतन्तीति न कोऽपि दोष इत्यर्थः। ये च मुच्यन्ते ते च नासुराः। किन्त्वासुरावेशिनः। तथाच ते भगवदंशा एवेति निष्कर्षः।

इसी कारण श्रीगोकुलनाथचरणों ने सिद्धान्तमुक्तावली(१) की श्रीगुसांईजी की विवृति में कहे "[सेवक का धर्म भगवत्सेवा करनी ही है। इसका आशय यह है कि समस्त जीव भगवान के दास हैं]" - इस पंक्ति का व्याख्यान करते समय इसीलिये "समस्त जीवों" का अर्थ "आसुरीजीवों के अतिरिक्त समस्त जीव भगवान के सहज दास हैं"- यों इस प्रकार से किया है। अतएव "पशुघाती अथवा आत्मघाती मनुष्य के अतिरिक्त और ऐसा कौन है जो श्रीकृष्णचन्द्र के गुणानुवाद से विमुख हो सकता है(श्री०भा० १०-१-४)" इस श्लोक का व्याख्यान करने में "अनिवर्त्यदोषेण चाप्रवेश" इत्यादि शब्दों द्वारा आचार्यचरणों का कथन ही मेरी बात को प्रमाणित करता है। साथ ही साथ प्रभुचरणों का इस वाक्य की विवृति में "सहजासुरत्वेनेत्यर्थः" यह कथन भी मेरी बात को प्रमाणित करता है। इसी कारण "यदि ब्रह्म को असत् जानता है तो वह स्वयं भी असत् ही हो जाता है(तै०उप० २-६-१)", "धर्म में प्रवृति एवं अधर्म से निवृत्ति को आसुरी नहीं जानते। उनमें न अन्तःकरण की शुद्धि न सदाचार और न ही सत्य ही होता है। (भ०गी० १६-७)" इत्यादि भगवद्वाक्य वाली श्रुतियों में प्रवाहीजीवों का संसार में व्यवहार करना बताया गया है। अतएव देवकीपुत्रों को लाने गये भगवान की स्तुति करने वाले राजा बलि के वाक्यों(श्री०भा० १०-८५-४१) का विवरण करने में श्रीमदाचार्यचरणों ने- - "यदि वे भगवान के द्वेषी हैं तो उनका नरकपात होना आवश्यक है, जैसा कि [हे अर्जुन ! आसुरी योनि को प्राप्त हुए मूढ़ मनुष्य जन्म-जन्म में मुझे प्राप्त न होकर और फिर उससे भी अधम गति में गिरते हैं(भ०गी० १६-२०)] इस वाक्यानुसार उनकी मुक्ति कभी भी नहीं होती" - - यह कहा है। इस समस्त बातों से यह सिद्ध होता है, भगवान ने केवल निमित्तरूप से, मात्र इच्छा से माया को प्रधान कारण बना कर प्रवाहसृष्टि की रचना की है, वे स्वयं प्रवाहीसृष्टि में प्रविष्ट नहीं हुए। और, यदि माया से ही बने हुए नरक आदि विकार में प्रवाहीजीव गिरते हैं, तो इस अर्थ में कुछ भी दोष नहीं है -यह अर्थ है। किन्तु आसुरीजीवों के अंतर्गत जिन जीवों की मुक्ति होती है, वे आसुरी हैं ही नहीं परन्तु आसुरीजीवों के अंतर्गत पैदा होने वाले भगवदीय ही हैं और उनमें केवल असुरता का आवेश मात्र(ऐसों को ही आसुरावेशी कहा जाता है।)है। निष्कर्ष यह कि वे भगवदंश ही हैं।

यदा च स्वरतीच्छा तदा मायामप्युपसंहरतीति तेऽपि न प्रतिभासन्ते। वस्तुतस्तेषामसत्त्वात्। तथाच ये प्रपञ्चं मायिकमेवाहुस्त आसुरा एव। यतस्तेषां तथैव भासते। 'पुण्यो गन्ध' इत्यादिवाक्यविचारेण दोषप्रतीतिमात्रस्य मायिकत्वमिति न कोऽपि दोषः। ननु सामर्थ्यस्य स्वरूपानतिरिक्तत्वात्प्रावाहिकाणां विकारस्य च मायोपादानकत्वाद्विकारित्वं ब्रह्मणो दुर्वारमिति चेत्। न। न हि तेषां सामर्थ्यरूपत्वम्। असत्त्वात्। किन्तु सामर्थ्यात्प्रतीयमानत्वम्। अन्यथा सत्यता स्यात्। दृश्यतेऽपि नटैः प्रदर्श्यमानस्य मिथ्यात्वं क्षणिकत्वात्तत्सामर्थ्यस्य च सत्यत्वमिति न मार्गभेदानुपपत्तिः।

और जब भगवान को आत्मरमण(अर्थात् प्रलय जिसमें केवल एक भगवान ही रहते हैं) करने की इच्छा होती है, तब वे सबके साथ माया को भी अपने भीतर समेट लेते हैं और तब आसुरीजीव भी प्रतिभासित नहीं होते। क्योंकि इनकी वास्तविक सत्ता तो है ही नहीं। जो सारे के सारे प्रपंच को मायिक कहते हैं, वही तो आसुरी कहलाते हैं। क्योंकि प्रपंच इनको मायिक ही लगता है, भगवत्स्वरूप नहीं लगता। यदि "मैं पृथ्वी में आद्य सौरभ हूँ और मैं ही अग्नि में तेज हूँ। मैं ही सब प्राणियों में उनका जीवन और तपस्वियों में तप हूँ(भ०गी० ७-९)" इत्यादि वाक्यों का विचार करें, तो प्रपंच को दोषदृष्टि से देखना ही माया है क्योंकि प्रपंच तो भगवद्रूप है, उसमें कोई भी दोष नहीं है। अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, किसी की भी सामर्थ्य आखिर तो उसी के स्वरूप के अंतर्गत या उसके भीतर ही होती है और यदि

माया भगवान की सामर्थ्य है तो वह भगवद्रूप ही है, भगवान से अतिरिक्त/अलग नहीं है । अतः इस दृष्टि से यदि भगवान की माया से निर्मित हुए प्रावाहिकजीवों को विकार कहा जा रहा है, तो फिर माया भी विकार सिद्ध हुई एवं माया की सामर्थ्य धारण करने वाले ब्रह्म में भी विकार आया - यह स्वीकार करना पड़ेगा । अतः शंका यह है कि अब किसी भी सूरत में ब्रह्म को विकाररहित कहना बड़ा कठिन हो जायेगा !! नहीं, यह शंका ठीक नहीं है । क्योंकि आसुरीजीव भगवान की सामर्थ्य थोड़े ही हैं, उनकी तो सत्ता ही नहीं है, वे तो माया की सामर्थ्य के कारण केवल प्रतीत होते हैं । यदि ऐसा न होता तो आसुरीजीवों को सत्य कहा जाता । जैसे कि हमने देखा ही है कि, जादूगर अपने जादू के सामर्थ्य से हमें जो कुछ दिखाते हैं, वह दिखाई देने वाली वस्तु तो क्षणिक होने के कारण मिथ्या होती ही है परन्तु जादूगर की सामर्थ्य मिथ्या नहीं होती । इसलिये इन समस्त बातों का सूक्ष्मता से विचार करेंगे तो ज्ञात होगा कि, तीन प्रकार के मार्ग कहने में कोई भी आपत्ति नहीं है ।

यद्वा । वीररसभोगार्थमुत्पादिता अपि जीवाः सत्या एव 'जीवेशाबाभासेने'ति श्रुत्युक्तस्याप्याभासस्याभास्यसमानाकारत्वात् । तयोः समानाकारत्वस्यैव लोके दर्शनात् । अत्राभासाभास्ययोरुभयोरप्यान्तरत्वेन द्वेषरूपधर्मप्रतिबिम्बेऽपि बाधकाभावात् न च वीररस उपयुज्यमानस्य तद्धर्मस्य द्वेषस्य तेष्वभावः शङ्क्यः । द्वेषस्याप्यानन्दतिरोभावात्मकत्वेन तेषु तत्सत्त्वात् । अतस्तद्विशिष्टा एव ते ।

अथवा तो आसुरीजीवों के विषय में दूसरे प्रकार की व्याख्या समझ लें । और वह यह कि, भगवान ने वीररस का भोग करने के लिये जिन प्रवाहीजीवों को बनाया है, वे भी सत्य ही हैं क्योंकि "जीवेशाबाभासेन(नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषत् खंड-८)" इस श्रुति के कथनानुसार आभास्य(ब्रह्म) से उत्पन्न होने वाले अन्तर्यामि(आभास) और जीव(आभास) ये दोनों ब्रह्म के समान हैं । अतः जैसे ब्रह्म की सत्ता सत्य है, वैसे इन दोनों की सत्ता भी सत्य है : इस दृष्टि से आसुरीसृष्टि को भी यदि सत्य कह दें तो कोई आपत्ति नहीं है । क्योंकि लोक में भी आभास्य और आभास तो समान ही कहे जाते हैं । अब यदि आप ये तर्क देते हों कि, आसुरी तो भगवान से द्वेष करते हैं और भगवान से द्वेष करना तो मायिकधर्म है अतः आसुरीजीवों को सत्य नहीं माना जा सकता ; तो इसके समाधान में यह समझ लीजिए कि आभास(अन्तर्यामि और जीव) एवं आभास्य(ब्रह्म) ये दोनों तो देह के भीतरी धर्म हैं और द्वेषधर्म का तो बाहरी देह पर केवल प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, द्वेष की तो केवल प्रतीति हो रही है अतः इस दृष्टि से आसुरीजीवों को सत्य कह दिया जाय तो इसमें कुछ भी बाधक नहीं है । आप ये भी मत समझिए कि भगवान को वीररस का भोग करने के लिये उपयोग में आने वाला द्वेषधर्म जीवों में नहीं होता क्योंकि जब भगवान जीवों में से आनन्द का तिरोधान कर देते हैं, तो जीवों में द्वेषधर्म भी प्रकट हो जाते हैं । अतः प्रावाहिकजीव भी द्वेषयुक्त ही होते हैं ।

किञ्च । 'सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः । स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीता मायया विभो'रिति द्वितीयस्कन्धोक्ता भगवदुत्पन्ना गुणाः कार्यार्थं मायया यथा गृह्यन्ते, तथा भगवत्कार्यार्थं तया ते जीवा अपि स्वजन्यया अविद्याशक्त्या गृह्यन्ते । अत एव विद्वन्मण्डने 'यस्मिञ्जीवे यादृशीच्छा तदनुरूपा एवाविद्यादिशक्तयः सत्त्वादिभेदेन तं व्याप्नुवन्तीति महदैश्वर्यं भगवत' इत्युक्तम् । तेन ते 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चे'त्युक्तासुरधर्माणो भवन्ति । तद्धननादिना भगवानपि वीररसादिकं भुङ्क्ते । तादृशभगवदिच्छावशादेव तेषां तथात्वमिति 'यो यदंशः स तं भजत' इति वाक्यस्यापि न विरोधः । तैर्भजनकारणे भगवदिच्छाभावात् । तेन तेषां देहादिकं सदसद्ग्रन्थिरूपं प्रागेव साधितम् । एवं सति ते स्वकर्मणान्धे तमसि प्रविशन्ति । अन्धंतमश्च प्रलयेऽविद्यायां प्रविशति । अविद्या च मायायाम्, माया च ब्रह्मणि । प्रलयस्य श्रुतौ पुराणेषु च प्रतिसञ्चरत्वेन सृष्टिविपरीतक्रमतया सिद्धत्वात्तदापि ते भगवन्तं न प्राप्नुवन्तीति 'मामप्राप्यैवे'ति वाक्यमप्युपपद्यते ।

और, "सत्व-रज-तम यही तीनों गुण द्रव्य-ज्ञान और क्रिया का आश्रय लेकर मायातीत नित्यमुक्त पुरुष को ही माया में स्थित होने पर कार्य, कारण और कर्तापन के अभिमान से बाँध लेते हैं(श्री०भा० २-५-१८)" इस द्वितीयस्कंध के श्लोक में यह बताया गया है कि, सत्व-रज-तम आदि गुण यद्यपि भगवान से ही उत्पन्न हुये हैं तथापि जैसे माया सृष्टि की रचना करने के लिये सत्व-रज-तम गुणों को ग्रहण करके सृष्टि की रचना करती है, उसी प्रकार भगवान का रमण परिपूर्ण करने के लिये माया जीवों को भी अपनी अविद्या नामक शक्ति द्वारा ग्रहण कर लेती है और उनमें सत्व-रज-तम आदि गुणों को डाल देती है । इसका फलितार्थ यह है कि भगवान जिस जीव के संग जिस प्रकार का रमण करना चाहते हैं, माया उस जीव में वैसे ही गुणों का आधान कर देती है । यदि भगवान को जीव के संग प्रणयरस लेना है तो वैसा और वीररस का आनंद लेना है तो वैसा । अतएव विद्वन्मण्डन में प्रभुचरणों ने "जिस जीव के प्रति भगवान की जैसी इच्छा होती है, वे उसके अनुरूप ही अपनी अविद्या आदि शक्तियों द्वारा उसमें सत्व-रज-तम आदि गुण व्याप्त कर देते हैं । यह भगवान का एक महद् ऐश्वर्य है" यह कहा है । इसी कारण "धर्म में प्रवृति एवं अधर्म से निवृत्ति को आसुरी नहीं जानते । उनमें न

अन्तःकरण की शुद्धि न सदाचार और न ही सत्य ही होता है(भ०गी० १६-७)" इत्यादि वाक्यानुसार इस संसार में जीव आसुरीधर्म वाले हो जाते हैं। इन असुरों का हनन करके भगवान भी वीररस का भोग करते हैं। ये जीव आसुरीधर्म वाले इसीलिये हो गये क्योंकि इन जीवों के प्रति भगवान की इच्छा ही ऐसी है। और यदि इनका भगवान द्वारा हनन हो जाता हो, तो भी "जो जिसका अंश है, वह उसी का भजन करता है" इस वाक्य से विरोध नहीं आता क्योंकि भगवान की इच्छा ही नहीं है कि ये आसुरी भगवान का भजन करें ; फिर भले ही जीव भगवान का अंश भी क्यों न हो। इसलिये इन प्रावाहिकजीवों की देह आदि सद्-असद् ग्रन्थिरूप है , यह हम पूर्व में सिद्ध कर चुके हैं। इस परिस्थिति में ये प्रावाहिकजीव अपने कर्मों के कारण अन्धन्तम नरक में प्रविष्ट होते हैं। अन्धन्तम भी प्रलय होने पर अविद्या में प्रविष्ट हो जाता है। अविद्या माया में प्रविष्ट हो जाती है और माया अंततोगत्वा ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाती है। श्रुति-पुराण में प्रलय के बारे में यह कहा गया है कि, प्रलय प्रति युग में होती है। और प्रलय के समय जब हर एक वस्तु-पदार्थ-जीव इत्यादि जहाँ से उत्पन्न हुए हैं उसी में लीन होते चले जायेंगे। परन्तु प्रलय के समय भी आसुरीजीव भगवान को प्राप्त नहीं कर पाते हैं और इसीलिये भगवान द्वारा आसुरीजीवों के लिये कहा हुआ "आसुरी मुझे कभी प्राप्त करते ही नहीं(भ०गी० १६-२०)" यह वाक्य भी संगत हो जाता है। **न च विकारस्य सत्यत्वे ब्रह्मणो विकारित्वापत्तिः । विकारस्य वाचारब्धत्वेन तदनन्यतया तदभावात् । तस्य दुष्टताया अपि लीलार्थमैच्छिकत्वात् । वस्तुविचारे दोषस्य प्रतीतिमात्रत्वात् । तदनन्यत्वाधिकरणे तथैव सिद्धत्वात् । द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यामपि 'यत्किञ्चिद्दूषणं त्वत्र दूष्यं चापि हरिः स्वयम् । विरुद्धपक्षाः सर्वेऽपि सर्वमत्रैव शोभत' इति निर्णीतत्वाच्च । अत एवं विचारेऽपि न मार्गभेदानुपपत्तिः । न च पक्षद्वयमध्येऽन्यतरवैयर्थ्यं शङ्क्यम् । कल्पभेदेनोभयथापि सामञ्जस्यात् । तथाच पूर्वोक्तरीतिकेनेच्छामात्रेण निमित्तेन मनसा सहजासुरानसुरावेशिनो दैवांश्च सृष्टवान् । तथाच द्विधा प्रवाहोऽत्रोक्तः सहजासुरावेशिभेदेनेति ज्ञेयम् । अन्यत्स्पष्टम् ।** और, यह भी नहीं कहा जा सकता कि, यदि विकार सत्य है तो ब्रह्म को भी विकारी कहना पड़ेगा !!! नहीं, ब्रह्म को विकारी नहीं कहा जा सकता क्योंकि विकार तो केवल वाणी से लिये जाने वाले नाममात्र है, विकार तो माया के कारण प्रतीत होता है, वास्तव में तो विकार भी ब्रह्मरूप ही है और उससे भिन्न नहीं है(देखें छा०उप० ६-१-४) अतः ब्रह्म में विकार नहीं कहा जा सकता। प्रावाहिकों की दुष्टता भी भगवान ने लीला करने के लिये और भगवान की अपनी इच्छा के कारण है। वास्तविकता देखें तो दोष तो केवल हमारी प्रतीति मात्र है, सभी कुछ ब्रह्मात्मक होने के कारण शुद्ध ही है। ब्रह्मसूत्र के "तदनन्यत्वाधिकरण(ब्र०सू० २-१-१४)" में यही बात सिद्ध की गयी है। द्वितीयस्कंधसुबोधिनी में भी यही कहा है कि कुछ भी दोषयुक्त दीखे है, वह सभी कुछ हरि ही है(भा०उ० २०-२३)। यह बात निर्णीत कर दी गयी है। अतः इस सभी बातों का विचार करें तो भी मार्गों का भेद करना अनुचित नहीं है। और तो और, ऐसा भी नहीं है कि, ऊपर कहे अनुसार दो पक्ष(अर्थात् एक प्रावाहिकजीवों को मिथ्या मानने वाला पक्ष एवं दूसरा सत्य मानने वाला पक्ष) में यदि एक पक्ष को मान लें तो दूसरा पक्ष व्यर्थ हो गया ; क्योंकि एक कल्प में प्रावाहिकजीवों को मिथ्या मान लो और दूसरे कल्प में सत्य मान लो - यों दोनों पक्षों का सामंजस्य बैठ जाता है। इस प्रकार फलितार्थ यह हुआ कि पूर्व में कहे अनुसार भगवान ने अपनी इच्छा को निमित्त बनाकर अपने मन द्वारा सहज-आसुरी एवं आसुरावेशी-दैवीजीवों की सृष्टि की। इस प्रकार से सहज-आसुरी एवं आसुरावेशी यों दो प्रकार के प्रवाहीजीव होते हैं , यह जान लेना चाहिए। बाकी और तो खैर स्पष्ट ही है।

ननु 'तदिच्छामात्रतस्तस्माद्ब्रह्मभूतांशचेतना' इत्यादिना दैवसृष्टिर्निबन्धे इच्छामात्रत एव निरूपितेति कथं त्वया मनस्त उच्यते । उच्यते त्वभिप्रायज्ञानात् । तथाहि । निबन्धे यदिच्छामात्रेति पदं तदनुपहितस्य स्वतन्त्रस्य निर्गुणस्य कारणताबोधाय । अत्र तु यत्तत्पदं तदस्यां स्वसमवायिकारणताकत्वनिरासार्थम् । अत एव निबन्धे तत्र 'ब्रह्मभूतांशे'त्यादि जीवविशेषणमुक्तम् । अत्र तु नोक्तमित्येवं विनिगम्यते । न च तत्रत्यमेवात्रातिदेश्यम् । असुरसृष्टित्वात् । 'प्रवाहस्थान्प्रवक्ष्यामी'त्यादिना प्रावाहिकसृष्टेरासुरत्वनिर्धारणात् । तस्मादेवं सर्गभेदेन भूतभेदादेहादिवैलक्षण्यसिद्धेः साधनसाङ्कर्याभावान्न सर्गभेदनिरूपणवैयर्थ्यमिति मार्गाणामत्यन्तविवेक उपपन्नः प्रामाणिक एवेति भावः ॥९॥

किन्तु किसी को एक शंका यह होती है कि, "जब भगवान की बहुत प्रकार से प्रकट होने की इच्छा हुई, तब सृष्टि के प्रारंभ में ब्रह्म के संकल्पमात्र से और भगवान के स्वरूप से बहुत छोटे-छोटे चेतनरूप साकारजीव प्रकट हुए(शा०प्र २७)" इस निबन्ध के वाक्यानुसार आचार्यचरणों ने आसुरावेशी-दैवीसृष्टि की रचना भगवान की इच्छामात्र से होनी बतायी है, फिर आपश्री यहाँ इनकी मन से सृष्टि होनी क्यों बता रहे हैं ? तो यह समझिए कि हमें आचार्यचरणों का अभिप्राय ज्ञात है इसलिये हम ऐसा कह रहे हैं। वह इस प्रकार कि, इस निबन्धवाक्य में जो आचार्यचरणों ने "भगवान की इच्छामात्र से सृष्टि हुई" यों कहा है, वहाँ आपश्री को यह बताना है कि इस सृष्टि का कारण निर्लिप्त-स्वतन्त्र-निर्गुण ब्रह्म ही है और वह केवल अपनी स्वतन्त्र इच्छा से ही सृष्टि रचने में सक्षम है और उसे किसी अन्य की

आवश्यकता नहीं है। और यहाँ इस कारिका में जो आचार्यचरण "भगवान ने अपनी इच्छा से मन द्वारा सृष्टि की" ऐसा कह रहे हैं, वह इसलिये क्योंकि इस श्लोक में आपश्री को प्रवाहीसृष्टि की रचना के विषय में बताना है और ये निर्देश करना है कि प्रवाहीसृष्टि की रचना में ब्रह्म समवायीकारण(मुख्य कारण) नहीं है अपितु ब्रह्म का मायामनोमय मुख्यकारण है। इसी कारण उपर्युक्त निबन्धवाक्य में आपश्री ने दैवीजीवों को "ब्रह्मभूतांश(ब्रह्म के अंश)" बताया है परन्तु यहाँ आपश्री ने प्रवाहीजीवों को ब्रह्मभूतांश नहीं कहा- इससे बात सिद्ध हो जाती है। इससे बात साफ हो जाती है कि प्रवाहीजीव दैवीजीवों से भिन्न हैं और इनकी सृष्टि के मूलकारण भगवान नहीं हैं। आप ऐसा न कहें कि, निबन्ध में कही बात को ही यहाँ इस ग्रन्थ में दोहरा दिया गया है क्योंकि यहाँ आपश्री को आसुरीसृष्टि के विषय में कहना है और निबन्ध में आपश्री ने दैवीसृष्टि के लिये कहा है। यह बात तो आपश्री के इसी ग्रन्थ में कहे "अब हम प्रवाहीजीवों के लिये कहना आरंभ करते हैं(पु०प्र०म०-२३)" इस कथन से ही स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ वे प्रवाहीसृष्टि को ही आसुरीसृष्टि बता रहे हैं। इसलिये उपर्युक्त प्रकार से सर्गभेद करने से प्राणीभेद भी सिद्ध हो गया और इससे यह भी सिद्ध हो गया कि इनके देह-आदि भी अलग-अलग हैं ; साथ ही साथ यह भी सिद्ध हो गया कि ये एक जैसे साधन भी नहीं करेंगे अतः आचार्यचरणों का सर्गभेद का निरूपण करना व्यर्थ नहीं है और मार्गों का वर्गीकरण करना प्रामाणिक ही है, यह भाव है॥ ९॥

ननूपादानभेदेऽपि निमित्तसाजात्ये कार्यं फलं च तुल्यमेव लोके दृष्टम्। यथा सौवर्णराजतताम्रघटास्ततो जलाहरणं च। वेदेऽपि यथा व्रीहियवप्रकृतिकपुरोडाशाभ्यां समानो यागोऽदृष्टं च तद्वदत्रापि निमित्तसाजात्यादैक्याद्वा फलमेकमेव चेद्व्यर्थः सृष्टिभेदमार्गभेदसाधनप्रयास इत्याशङ्क्यायामुपोद्घातसङ्गत्या फलनिमित्तयोर्भेदमाहुः मूलेच्छात इति।

मूलेच्छातः फलं लोके वेदोक्तं वैदिकेपि च।
कायेन तु फलं पुष्टौ भिन्नेच्छातोऽपि नैकथा ॥१०॥

'प्रजायेये'त्याकारिकया मूलेच्छया। सिसृक्षयेति यावत्। तया कृत्वा फलं लोके भवति। न त्वलौकिकम्। 'अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेति। अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति। धूमाद्रात्रिं रात्रेरपक्षीयमाणपक्ष'मित्यादिश्रुतेः। 'एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते', 'क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिष्वि'त्यादिस्मृतेश्च।

चलिये, भले ही सृष्टिजीवों की रचना होने में उपादानकारण(प्रधानकारण) भले ही अलग-अलग हो परन्तु जिस निमित्त से वह बनायी जा रही है, वह निमित्त एक ही है। उदाहरण के रूप में घड़ा ले लीजिए। घड़ा सोने का भी बन सकता है, चाँदी का भी और ताँबे का भी। अतः घड़ा बनाने के उपादानकारण सोना-चाँदी-ताँबा इत्यादि भले ही अलग-अलग होते हैं परन्तु तीनों घड़े एक ही निमित्त से बनाये जाते हैं और वो निमित्त है- जल भरना। जैसे कि भले ही घडा चाहे स्वर्ण-रजत या तांबे से भी क्यों न बना हो, कार्य तो वह जल भरने का ही करेगा ! और, वेद में भी जैसे पुरोडाश(आहुति देने के लिये एक पदार्थ) चाहे चावल(व्रीहि) का हो चाहे गेहूँ(यव)का हो, यज्ञ में या यज्ञ के फल(अदृष्ट)में कोई अंतर नहीं पड़ता, वैसे ही यहाँ भी इन सृष्टि का निमित्त तो ब्रह्म की इच्छा ही है और सभी ब्रह्म से ही उत्पन्न हुए होने के कारण एक समान ही हैं इसलिये इनको मिलने वाला फल भी एक ही होना चाहिए ; इसलिये सृष्टिभेद-मार्गभेद करने का प्रयास करना व्यर्थ है- यदि ऐसी शंका होती हो तो आगे आचार्यचरण मूलेच्छातः इत्यादि शब्दों से इन सृष्टियों को मिलने वाला फल एवं सृष्टि रचने के कारण को भूमिका के रूप में कह रहे हैं।

"उसने ईक्षण किया- मैं अनेक बन जाउँ(छा० ६-२-३)" - यह भगवान की मूलेच्छा है। जिसे सृष्टि करने की इच्छा(सिसृक्षा) कहते हैं। भगवान की इस मूलेच्छा द्वारा लोक में जीवों को फल प्राप्त होता है। अलौकिक फल प्राप्त नहीं होता। क्योंकि ऐसा "उत्पन्न होओ और मरो" यही तृतीयस्थान होता है(छा०५-१०-८)" इस श्रुति एवं "वे उस स्वर्गसुख को भोग कर पुण्य क्षीण होने पर पुनः मृत्युलोक में गिरते हैं(भ०गी० ९-२१)" , " मुझसे द्वेष करने वाले दुराचारी एवं क्रूरकर्मी नराधमों को मैं निरन्तर आसुरी योनियों में ही गिराता हूँ(भ०गी १६-१९)" इत्यादि स्मृति में कहा गया है।

न च त्रयीधर्मानुप्रपन्नत्वे कथमासुरत्वमिति शङ्क्यम्। दैवावेशेन तत्सम्भवात्। आसुरलक्षणेषु 'यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये', 'यजन्ते नाम यज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वक'मित्युक्तत्वादिति। वैदिके मर्यादामार्गे वेदोक्तं स्वर्गमोक्षादिरूपं फलं भवति। 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्ती'ति 'यत्र दुःखेन सम्भिन्न'मिति 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति', 'न स पुनरावर्तत' इत्यादिश्रुतेः। 'त्रैविद्या मा'मित्यादिस्मृतेश्च। अत्रापि 'एष उ एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषती'त्यादिश्रविता उन्निनीषाधोनिनीषा च कारणत्वेनानुसन्धेया, अज्ञानरूपकार्यान्मुमोचयिषा चानुमातव्या। कायेन आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपेण फलं नानाविधं

तल्लीलानुभवरूपं पुष्टौ भवति । तुना लौकिकवैदिकप्रकारशङ्का निरस्ता ।

ये शंका न करें कि, उक्त श्लोक के अनुसार जो वेदत्रयी में बताये धर्मों का यदि पालन कर रहा है, तो उसे आसुरी क्यों बताया गया ? आप ऐसी शंका न करें क्योंकि कभी-कभार दैवी-आवेश आ जाने के कारण वह थोड़ा-बहुत कभी-कभी इन धर्मों का पालन कर लेता है, परन्तु वास्तव में तो वह आसुरी ही है। परन्तु क्या आसुरीजीव वेदविधि का पालन कर सकते हैं ? तो देखिए, भगवान ने गीता में आसुरीजीवों के लक्षण तो "आसुरी स्वभाव वाले सोचते हैं कि आज मैं यज्ञ करूँगा, मैं दान दूँगा और आनन्द करूँगा(भ०गी० १५-१६)" , "अपने को ही श्रेष्ठ मानने वाले, अशिष्ट व्यवहार करने वाले, धन और मान के मद से अंधे असुर शास्त्रविधि के बिना नाममात्र के यज्ञ करते हैं(भ०गी० १६-१७)" इत्यादि वाक्यों में इस प्रकार से बताये ही हैं। और वैदिके अर्थात् मर्यादामार्ग में वेदोक्त स्वर्गमोक्ष आदि फल प्राप्त होता है। जैसा कि "जो वन में श्रद्धा और तप करते हैं(छा०५-१०-१)" , "यन्न दुःखेन(सर्व०-५)" , "जो कोई भी उस परमब्रह्म परमात्मा को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है(मु०उप० ३-२-९)" , "आत्मज्ञान हो जाने पर वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है और फिर वहाँ से नहीं लौटता(छा० ८-१५-१)" इत्यादि श्रुतियों में एवं "तीनों वेदों में वर्णित कर्मों को करने वाले, सोमरस पीने वाले पापरहित मनुष्य स्वर्गप्राप्ति के लिये यज्ञों द्वारा मेरी अप्रत्यक्षरूप से आराधना करते हैं(भ०गी० ९-२०)" इस स्मृतिवाक्य में भी कहा गया है। इन श्रुतियों में भी "भगवान जिसकी उन्नति करना चाहते हैं, उससे सत्कार्य करवाते हैं और जिसकी अधोगति करना चाहते हैं, उससे बुरे कार्य करवाते हैं (कौशीतकी उप० ३-८)" इस श्रुति के अनुसार जीव की उन्नति एवं अधोगति करने की भगवान की इच्छा ही कारण है- यह अनुसंधान रखना चाहिए एवं उन्हें अज्ञानरूपी कार्यों से मुक्त कराने की भगवदिच्छा का भी अनुमान करना चाहिए। **कायेन तु फलं पुष्टौ** का अर्थ है - पुष्टि में भगवान के आनन्दमात्र-कर-पाद-मुख-उदर आदि रूप से अनेकविध भगवल्लीलारूपी फल प्राप्त होता है। तु शब्द से पुष्टिमार्गीयों को लौकिकवैदिकफल प्राप्त होने की शंका निरस्त कर दी गयी।

तथाच यथा यथा पुष्टिमार्गीया वाञ्छन्ति, तथा तथा ताननुरुध्य ददाति । न त्वीश्वरत्वेन । यथान्यत्र । अत एव प्रभुचरणैर्नवरत्नस्थ'निजेच्छातः करिष्यती'त्यस्य व्याख्याने 'निजानामिच्छातः स्वेच्छातश्चे'त्युभयथा व्याख्यातम् । 'गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यत्', 'यां गोपीमनय'दित्यादौ स्पष्टं च तथा । अत्रापि 'गोपाये स्वात्मयोगेन', 'सङ्कल्पसिद्धये तेषां कृपयैतदचिन्तयत', 'वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्र' इत्यादिभिरनुमापितोक्ता चेच्छा कारणत्वेन बोध्या । एवञ्च यत्र धूममार्गीयसङ्कीर्णमन्यद्वा सङ्कीर्णं फलं तत्र तद्धेतुभूता सङ्कीर्णेच्छानुमातव्या । अत एवं भिन्नेच्छातः अपिशब्दात्फलभेदतश्च नैकधा सर्गा मार्गाश्च एकविधा नेत्यर्थः नैकतेति पाठे सर्गाणां मार्गाणां चैकता नेत्यर्थः । एवमुत्पत्तिमारभ्यान्तं मार्गप्रवाहभेदात्प्रमेयबलेन मार्गत्रयभेदः साधितः । तेन प्रमीयमाणावस्थासम्बन्धिनः सन्देहा निवारिताः ॥१०॥

फलितार्थ यह हुआ कि, पुष्टिमार्गीय जैसा-जैसा चाहते हैं, भगवान उन्हें उनकी चाहना के अनुरूप वैसा-वैसा फल देते हैं ; अपनी ईश्वरता रखते हुए खुद अपने अनुसार नहीं। जैसे भगवान अन्यत्र सभी जगह अपनी स्वतन्त्र इच्छा से फल देते हैं, वैसे पुष्टिमार्ग में नहीं करते ; पुष्टिमार्ग में वे जीव की इच्छानुसार फल देते हैं। इसी कारण प्रभुचरणों ने नवरत्नग्रन्थ की व्याख्या में "निजेच्छातः करिष्यति(२)" का अर्थ "निजजनों की इच्छानुसार" एवं "अपनी खुद की निज-इच्छानुसार" यों दोनों प्रकारों से किया है। यह बात तो "सर्वशक्तिमान भगवान कभी-कभी गोपियों के फुसलाने पर साधारण बालक की तरह नाचने लगते। वे उनके सर्वथा अधीन हो गये(श्री०भा० १०-११-७)", "यां गोपीमनयत्(?)" , इत्यादि वाक्यों में स्पष्ट बता ही दी गयी है। "यह सारा व्रज मेरे आश्रित है और एकमात्र मैं ही इसका रक्षक हूँ। अतः मैं अपनी योगमाया से इसकी रक्षा करूँगा(श्री०भा० १०-२५-१८)" , "भगवान अपने आत्मीय गोपों की अभिलाषा जान गये और उनका सङ्कल्प सिद्ध करने के लिये कृपा करके उसके विषय में सोचने लग गये(श्री०भा० १०-२८-१२)", "भगवान ने अपनी अचिन्त्य महाशक्ति योगमाया के सहारे रासक्रीड़ा करने का सङ्कल्प किया(श्री०भा० १०-२९-१)" इत्यादि वाक्यों में भी सर्वत्र भगवान की इच्छा को ही कारण बताया गया है। जिन जीवों को धूममार्गीय तुच्छ फल मिल रहा है, वहाँ ये समझना चाहिए कि भगवान को उन्हें ऐसा ही तुच्छ फल देने की इच्छा है। अतः इस प्रकार भगवान की भिन्न-भिन्न प्रकार की इच्छा एवं भिन्न-भिन्न प्रकार के मिलने वाले फलों की दृष्टि से भी **नैकधा** अर्थात् सभी सृष्टि(सर्ग) एवं सभी मार्ग एक जैसे नहीं हैं- यह अर्थ है। यदि नैकधा के स्थान पर नैकता पाठ माने तो अर्थ यह होगा कि- सभी सर्गों एवं सभी मार्गों की एकता नहीं है अर्थात् सभी एक जैसे नहीं हैं। इस प्रकार से हमने जीवों की उत्पत्ति से आरंभ करके अन्त तक भिन्न मार्गों से सृष्टि का प्रवाह एवं प्रमाणों से तीन प्रकार के मार्ग सिद्ध किये। यहाँ तक आचार्यचरणों ने प्रमाण-अवस्था वाले लोगों का सन्देह दूर किया ॥ १० ॥

अतः परमनुष्ठीयमानावस्थासम्बन्धिनः सन्देहान्परिहर्तुं मार्गसाधनीभूतजीवदेहक्रियाभिर्भेदः पूर्वप्रतिज्ञातो वक्तव्यः । तेषु जीवानां मुख्यत्वात् प्रथमं तद्भेदं वदिष्यन्त इच्छाभेदेऽपि जीवेषु वैलक्षण्याभावात्कथं फलभेद इत्याशङ्कामपि परिहरिष्यन्तश्चिद्रूपत्वाविशेषेपि तत्तदसाधारणधर्मभेदाज्जीवा भिद्यन्ते, तेन फलभेद इति हृदिकृत्य अत्यन्तविविक्तो धर्मः प्रावाहिकाणामेवेति प्रथमं तानाहुः तानहमित्यादि ।

अब इसके पश्चात् जो लोग पुष्टिमार्ग का अनुसरण कर रहे हैं, उन लोगों के संदेह को दूर करने के लिये आचार्यचरणों को मार्ग के साधनीभूत जीव-देह-क्रिया इत्यादि का भेद कहना है , जैसा कि आपश्री ने पूर्व में कहने की प्रतिज्ञा की थी। इन सभी में जीव मुख्य है अतः पहले आपश्री इन जीवों का भेद कह रहे हैं। चलो, जीवों को फल देने के लिये भले ही भगवान की इच्छा अलग-अलग हो परन्तु जीव तो एक समान ही हैं ? आखिरकार सभी जीव तो ब्रह्म से ही निकले है अतः एक घड़ी भले ही फल देने की भगवान की इच्छा अलग-अलग होती हो परन्तु जीव तो अलग-अलग नहीं हैं, फिर उन्हें अलग-अलग फल क्यों मिलना चाहिए ?- इस शंका का भी आचार्यचरण आगे परिहार कर देंगे। समझने की बात यह है कि, भले ही सभी जीव ब्रह्म के चिद्रूप हैं अर्थात् चैतन्य दृष्टि से तो सभी जीव परस्पर समान हैं परन्तु इन जीवों के अपने कुछ असाधारण धर्म भी हैं जिनके कारण ये एक दूसरे से अलग पड़ जाते हैं और इसी कारण उनको मिलने वाले फलों में भी अंतर आ जाता है। यह सभी कुछ हृदय में धारण करके आचार्यचरण सबसे अलग तो प्रावाहिक ही हैं अतः सर्वप्रथम तानहं इत्यादि वाक्यों से प्रावाहिकजीवों के विषय में ही कह रहे हैं।

'तानहं द्विषतो' वाक्याद्भिन्ना जीवाः प्रवाहिणः ।
अत एवेतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्षप्रवेशतः ॥११॥

तथाच येषां भगवद्द्वेषोऽसाधारणधर्मस्तेन सार्वदिकोऽतिघोरः संसारस्ततोऽन्धतमःप्रवेशः पर्यवसाने ते प्रवाहिणः । भगवद्द्वेषश्च त्रिविधः । मूलरूपावतारूपद्वेषो विभूत्यादिद्वेषो जगद्रूपद्वेषश्च । तत्र मूलरूपावतारूपान्यतरद्विषो भगवन्तं पश्यन्तः कालं प्राप्य मुच्यन्त इति 'मन्येऽसुरान् भागवता'नित्यत्र व्यवस्थापितम् । 'कामं क्रोध'मिति वाक्याच्च । 'तदेव रूपं दुरवापमाप', 'लेभे गतिं धात्र्युचिता'मिति कंसपूतनयोर्मुक्त्युक्तेश्च ।

जिन लोगों में भगवान से द्वेष करने जैसा असाधारणधर्म देखा जाता है, जो सर्वदा अतिघोर संसार में पड़े रहते हैं और तत्पश्चात् अन्धन्तम नरक में प्रविष्ट होते हैं , वे प्रवाहीजीव होते हैं। प्रवाहीजीव तीन प्रकार से भगवान से द्वेष करते हैं। मूल अवतारूप से द्वेष, विभूतिरूप से द्वेष एवं जगद्रूप से द्वेष। इनमें से मूलरूप या अवतारूप से द्वेष करने वाले आसुरीजीव पहले युद्ध में भगवान को देखते हैं, फिर कालक्रम से भगवान युद्ध में उनका संहार करते हैं और तब वे मुक्त होते हैं। "मन्येऽसुरान् भागवतान्(श्री०भा० ३-२-२४)" इस श्लोक की सुबोधिनी में श्रीमहाप्रभुजी ने विचार किया है कि - यदि भक्त भी भगवान को प्राप्त करते हैं और असुर भी भगवान को प्राप्त करते हैं , तो फिर भक्त और असुरों के बीच क्या अंतर रह गया ? इस शंका का समाधान करते हुए आचार्यचरणों ने वहाँ समझाया है कि, असुर पहले तो भगवान द्वारा वध कर दिये जाते हैं और तत्पश्चात् भगवान को प्राप्त करते हैं परन्तु भक्त तो जीवित अवस्था में ही भगवद्रस का उपभोग करते हैं- यह दोनों में अंतर है। विशेष जानने के लिये उक्त सुबोधिनी देखें। जैसा कि "मैं असुरों को भी भगवान का भक्त समझता हूं क्योंकि भगवान के प्रति वैरभाव के कारण उनका चित्त सदा श्रीकृष्ण में लगा रहता है(श्री०भा० ३-२-२४)" , "काम, क्रोध, भय, स्नेह, नाता या सौहार्द- चाहे जिस भाव से भगवान में अपनी वृत्तियाँ जोड़ दी जाएँ, वे वृत्तियाँ भगवन्मय हो जाती हैं(श्री०भा० १०-२९-१५)" इत्यादि वाक्यों में भी कहा गया है। और, "कंस भय के मारे खाते-पीते-सोते-उठते-बैठते अपने सामने चक्र धारण किये श्रीकृष्ण को ही देखता रहता था। चाहे द्वेषभाव से ही सही परन्तु उसे ऐसी सारूप्यमुक्ति प्राप्त हुई जो बड़े-बड़े तपस्वियों को भी प्राप्त होनी कठिन है(श्री०भा० १०-४४-३९)" , "जिस पूतना ने श्रीकृष्ण को मार डालने की नीयत से अपना विषयुक्त दूध पिलाया, भगवान ने उसे भी धाय की गति प्रदान की(श्री०भा० ३-२-२३)" इत्यादि वाक्यों में जहाँ कंस-पूतना की मुक्ति बतायी गयी है।

विभूतिद्विषस्तु द्वेषत्यागे क्रमेण शुध्यन्ति । 'अत्यागे धर्महीनाः पतन्ति', 'सम्मुह्यन्तु हरद्विष' इत्यस्य निबन्धे शिवद्विषां तथा व्यवस्थापनात्समानन्यायेनान्यत्रापि युक्तिसिद्धत्वात् । एते उभयेऽप्यासुरावेशिन इत्यग्रे सेत्स्यति । जगद्द्विषस्तु जायमाना अन्ततोऽन्धतमः प्रविशन्ति । इदमपि सुबोधिन्यां स्थापितम् ।

भगवान की विभूति से द्वेष करने वाले द्वेष का त्याग करके क्रमपूर्वक शुद्ध हो जाते हैं। क्योंकि "अत्यागे धर्महीनाः पतन्ति" , "ये शङ्करद्रोही कर्मों के जाल में ही फँसे रहे(श्री०भा० ४-२-२५)" इन श्लोकों के निबन्ध में शिव से द्वेष करने वाले राजा दक्ष के लिये यही बताया गया है और इसी प्रकार अन्यत्र भी दूसरी युक्तियों से भी यही क्रम से शुद्ध होने वाली प्रक्रिया सिद्ध होती है। मूल-अवतारूप

से द्वेष करने वाले एवं भगवान की विभूति से द्वेष करने वाले दोनों प्रकार के प्रवाहीजीव आसुरावेशी हैं- यह बात आगे कही जायेगी। जगत् से द्वेष करने वाले आसुरी अन्ततोगत्वा अन्धन्तम नरक में प्रविष्ट होते हैं। यह बात भी सुबोधिनी में स्थापित कर दी गयी है। **'ये चान्धन्तमः प्रविशन्ति, ते केवला एव प्रविशन्ति, न तु प्राणादिसहिता' इत्यपि धृतराष्ट्रं प्रत्यक्रूरवाक्ये 'अकृतार्थं प्रहिण्वन्ती'त्यस्य सुबोधिन्यां निर्णीतम्। आर्तभागब्राह्मणे मुक्तेरनुपक्रान्तत्वेन 'अत्रैव समवनीयन्ते', 'स उ क्ष्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेत' इति श्रुतेस्तादृशपरत्वस्य महता विचारेण व्यवस्थापनात्। इदमत्राग्रिमग्रन्थस्य त्रुटितत्वाद्यथाबुद्धि परबोधनायोक्तम्।**

"जिन प्राण, धन, और पुत्र को यह मूर्ख जीव अपना समझकर अधर्म करके भी पालता-पोसता है, वे भी जीव को असंतुष्ट छोड़कर चले ही जाते हैं(श्री०भा० १०-४९-२३)" इस धृतराष्ट्र के प्रति अक्रूरजी के वाक्य का व्याख्यान करने वाली सुबोधिनी में भी "जो प्रवाहीजीव अन्धन्तम नरक में प्रवेश करते हैं, वे केवल जीव के रूप में ही प्रवेश करते हैं, देहसहित नहीं(सुबो० १०-४६-२३)" इस वाक्य द्वारा भी यह बात निर्णीत कर दी गयी है। आर्तभागब्राह्मण में "आर्तभाग ने कहा - जिस समय यह मनुष्य मरता है, उस समय इसके प्राणों का उत्क्रमण होता है कि नहीं ? तो याज्ञवल्क्य ने कहा - नहीं ! वे यहाँ ही लीन हो जाते हैं। वह वायु को भीतर खींचता है और वायु से पूर्ण हुआ ही मृत होकर पड़ा रहता है(वृ०उप० ३-२-११)" इत्यादि श्रुतियों में इन सभी मुद्दों का बड़ा गहन विचार किया गया है। इसके आगे का ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता जिसमें कदाचित् प्रवाहीजीवों का स्वरूप आचार्यचरणों ने बताया भी होगा अतः हमारी बुद्धि के अनुसार दूसरों को समझाने के लिये हमने अपनी ओर से प्रवाहीजीवों के विषय में बता दिया।

प्रकृतमनुसरामः। अत एव द्वेषिभेदादेव। इतरौ मर्यादापुष्टिस्थौ जीवौ। जात्यभिप्रायेण द्विवचनम्। तेभ्यो विविक्तौ। अत्रापि पूर्ववत्फलभेदमाहुः सान्तौ मोक्षप्रवेशतः। मोक्षोऽक्षरप्राप्तिः। प्रवेशः पुरुषोत्तमस्वरूपे। 'विशते तदनन्तर'मिति वाक्यात्। ताभ्यां सान्तौ पर्यवसाने निवृत्तजीवभावौ। प्रावाहिकास्तु ताभ्यां न तथेति त्रयोऽपि जीवा भिन्ना इत्यर्थः।

चलिये, अब हम प्रकृत विषय की चर्चा करते हैं। **अत एव** का अर्थ है - भगवान से द्वेष करने जैसा भेद होने के कारण ही **इतरौ** अर्थात् मर्यादा और पुष्टि जीव भिन्न पड़ जाते हैं। मूलश्लोक में "इतरौ" शब्द द्विवचन में है। इतरौ अर्थात् मर्यादाजीव और पुष्टिजीव। यद्यपि मर्यादाजीव एवं पुष्टिजीव तो केवल दो न होकर अनेक हैं अतः उन्हें बताने के लिये आचार्यचरणों को बहुवचन का प्रयोग करना चाहिए था परन्तु आपश्री ने द्विवचन का प्रयोग जाति के अभिप्राय से किया है। अर्थात् एक मर्यादाजीवों की जाति और एक पुष्टिजीवों की जाति। आपश्री का कथन है - ये दोनों प्रकार के जीव भगवान से द्वेष करने वाले प्रवाहीजीवों से अलग हैं। पूर्व की भाँति यहाँ भी मर्यादा एवं पुष्टि जीवों को प्राप्त होने वाले फल में भेद आपश्री सान्तौ मोक्षप्रवेशतः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। मोक्ष का अर्थ है - अक्षरब्रह्म की प्राप्ति करना। प्रवेश का अर्थ है - पुरुषोत्तमस्वरूप में प्रवेश करना। जैसा कि "जो मुझे भक्ति द्वारा जानता है, वह मुझमें प्रवेश कर जाता है (भ०गी० १८-५५)" इस वाक्य में कहा गया है। अक्षरब्रह्मप्राप्तिरूपमोक्ष प्राप्त होने एवं पुरुषोत्तम में प्रवेश होने के पश्चात् मर्यादाजीवों एवं पुष्टिजीवों का जीवभाव निवृत्त हो जाता है। प्रावाहिकजीवों का मोक्ष या पुरुषोत्तम में प्रवेश नहीं होता अतः इनका जीवभाव निवृत्त नहीं होता इसलिये ये तीनों जीव परस्पर भिन्न पड़ जाते हैं- यह अर्थ है।

एवं चात्र मोक्षप्रवेशत इति कथनान्मर्यादिनामेव वेदोक्तमुक्तेरुक्तत्वाद्भगवति साधारणभावेन प्रमाणेऽभिनिवेशेन यथाविधि वेदोक्तकर्मज्ञानादिप्रवृत्तिपरत्वमेव तेषां लक्षणम्। अतस्तेऽपि भिन्ना इत्युन्नेयम्। इदं हि पुष्टिप्रकरणम्। अतः पुष्टिभेदनिरूपणाय यावत्तत्स्वरूपनिरूपणमुपयुज्यते, तावत्क्रियते। विशिष्य तु तत्तत्प्रकरण एव निरूप्यमिति न दोषः। भगवत्प्रियत्वसाधकभक्तिमत्त्वं पुष्टिजीवानां लक्षणं तु पूर्वोक्तवाक्यविचारादेव फलतीति न विशिष्योक्तम् ॥११॥

और, यहाँ आचार्यचरणों के मोक्षप्रवेशतः इस कथन में मर्यादामार्गीयों को ही वेद में कही मुक्ति मिलनी बतायी है अतः मालूम पड़ता है कि मर्यादामार्गीयों को भगवान के प्रति साधारण भाव होता है और इसलिये वे प्रमाण में रुचि रखते हैं अतः उनकी यथाविधि वेद में कहे कर्म-ज्ञान इत्यादि में प्रवृत्ति होनी ही इन्हें जानने का लक्षण है। और, इस कारण ये मर्यादाजीव भी भिन्न हैं- यह समझ लीजिए। यह पुष्टि का प्रकरण है अतः पुष्टिभेद का निरूपण करने के लिये मर्यादा का निरूपण जितनी मात्रा में जितना उपयोगी है, उतनी ही मात्रा में निरूपण किया गया है। विशेष तो उन-उन प्रकरणों में ही निरूपित करेंगे अतः इस सीमित निरूपण में कोई दोष नहीं है। भगवान का प्रिय बनाने में साधक बनने वाली भक्ति से युक्त पुष्टिजीवों के लक्षण तो पूर्व में किये गये समस्त विचार-विमर्श द्वारा ही समझ में आ जायेंगे अतः आपश्री ने उन्हें यहाँ विशेषतया नहीं कहे॥ ११॥

तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः।
भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत् ॥१२॥

एवं लक्षणफलयोर्भेदेन यत्सिद्धं तदाहुः तस्मादिति । यस्मादेवं लक्षणभेदस्तस्मात्पुष्टिमार्गीया जीवा मार्गान्तरीयजीवेभ्यो भिन्ना एव । एतावता सर्वथा भेदसिद्धौ मेलने प्रकारान्तरासम्भवादाहुः न संशय इति । यद्यपि 'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एवे'ति श्रुताविति शब्देन द्वेषादयः संग्रहीतुं शक्या इति सोपाधिकानामेव भेदः समायाति, न केवलानाम् ।

तो, उपर्युक्त प्रकार से जीवों के लक्षण एवं उनके फल का अंतर बता कर जो सिद्ध हुआ, उसे आपश्री तस्मात् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। तात्पर्य यह कि, जिन कारणों से पुष्टिजीवों के लक्षण अन्य जीवों से भिन्न है, उन कारणों से पुष्टिमार्गीयजीव अन्यमार्गीय जीवों से भिन्न होते हैं। यहाँ तक की गयी समस्त स्पष्टता के कारण अब इन तीनों मार्गों का आपस मिल जाने का अन्य कोई प्रकार संभव नहीं है अतः आपश्री न संशयः यों कह रहे हैं। यहाँ से टीकाकार यह कहना चाह रहे हैं कि, इस ग्रन्थ में बताये गये जीवभेद देहसहित जीवों के भेद हैं, देहरहित जीवों के भेद नहीं। यद्यपि "काम, सङ्कल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धारणशक्ति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय- ये सब मन ही है(बृ० १-५-३)" इस श्रुति में काम, संकल्प, श्रद्धा, अश्रद्धा इत्यादि सभी कुछ मन ही है- यह कहा गया है और फिर इन सभी के आगे "इति" शब्द भी कहा गया है, जिस "इति" शब्द का अर्थ "द्वेष" इत्यादि भी लिया जा सकता है अतः इस श्रुति के अनुसार भगवान से द्वेष करने वालों को भी जीव कहा जा सकता है और इसलिये सदेह जीवों का ही यहाँ परस्पर भेद बताया जा रहा है, देह से रहित केवल जीव का नहीं।

न च जीवपदोक्तिविरोधः । 'एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत् षोडशविस्तृतम् । एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयत' इति चतुर्थस्कन्धे नारदवाक्ये जीवपदस्य तादृशेऽपि प्रयोगात् । 'तानह'मिति गीतावाक्ये द्वेषादिधर्मोक्तेश्च । तथापि 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वा'दित्यधिकरणे उपादानसूत्रे बुद्धिसम्बन्धात्कर्तृत्वमिति निराकृत्य, जीवगतमेव कर्तृत्वं बुद्धिसम्बन्धादुद्गच्छतीत्याकरे व्यवस्थापितम् । तद्वदेते द्वेषसाधारणभावभक्तयोऽपि ज्ञेयाः । अत एव फलवैजात्यम् , अन्धतमप्रवेशो मुक्तिः पुरुषोत्तमप्राप्तिरिति । पर्यवसितं फलं केवलस्यैवेत्यनुपदमेव व्युत्पादितम् । तदेतदुक्तं न संशय इति ।

द्वेष करने वालों को भी जीव पद से कहने में कोई विरोधास्पद बात नहीं है क्योंकि चतुर्थस्कंध के "पंचतन्मात्राओं से बना हुआ तथा सोलह तत्वों के रूप में विकसित यह त्रिगुणमय संङ्घात ही लिङ्गशरीर है। यही चेतनाशक्ति से युक्त होकर जीव कहा जाता है(श्री०भा० ४-२९-७४)" इस नारदवाक्य में ऐसों को भी जीव शब्द से कहा गया है। और, "मुझसे द्वेष करने वाले दुराचारी एवं क्रूरकर्मी नराधमों को मैं निरन्तर आसुरी योनियों में ही गिराता हूँ(भ०गी १६-१९)" इस गीतावाक्य में भगवान से द्वेषधर्म रखने वालों को भी भगवान ने जीव ही कहा है। फिर भी "समस्त कर्मों का कर्ता जीव ही है। जीवात्मा का सम्बन्ध शरीर से है अतः उसी से जीवात्मा को कर्ता माना गया है (ब०सू० २-३-३३)" इस ब्रह्मसूत्र के अधिकरण में, उपादानसूत्र(२-३-३५) में "बुद्धि कर्ता है, जीव कर्ता नहीं है" - इस पक्ष का निषेध करके यह सिद्ध किया गया है कि, सभी वृत्तियों का कर्तृत्व तो जीव में ही निहित है परन्तु जीव का संबंध बुद्धि(आदि) से होने के कारण वह कर्तृत्व हमें बुद्धि(आदि)से निसृत होता हुआ लगता है- यह सभी कुछ आकरग्रन्थों में व्यवस्थापित किया गया है। इसी प्रकार, द्वेष करने की ही तरह भाव-भक्ति इत्यादि वृत्तियों का कर्तृत्व भी जीव में ही है अर्थात् इन समस्त वृत्तियों का कर्ता वास्तव में जीव ही है। जीवों की इसी विविधता के कारण इन्हें प्राप्त होने वाले फल भी विजातीय हो जाते हैं : भगवान से द्वेष रखने वालों को अन्धन्तमप्रवेश, साधारणभाव रखने वालों को मुक्ति और भक्ति करने वालों को पुरुषोत्तम में प्रवेश।

ननु 'यदा यस्य', 'यस्यानुग्रहम्' 'यमेवैष वृणुत' इत्यादिषु यच्छब्दस्य यदाशब्दस्य चोपबन्धात्कञ्चिदेव जीवं कस्मिंश्चित्काले भगवाननुगृह्णातीति सिध्यति । तेनानुगृहीतः पुष्टिमार्गे प्रविश्य पुष्टिजीवो भवतीति न जीवभेदः । न चानुग्रहविशिष्टस्य केवलापेक्षया भेदात्र दोष इति वाच्यम् । विशिष्टस्यानतिरिक्तत्वात् । देवदत्तः कुण्डलीतिवत् । विशेषणविशेष्यसम्बन्धस्यैव पर्यवसानतोऽतिरेकः सेत्स्यति, न जीवानामिति जीवभेदाङ्गीकारो व्यर्थ इति चेत् । न । प्रामाणिकत्वात् । 'त्रयाः प्राजापत्या देवा मनुष्या असुराश्चेति' बृहदारण्यके श्रावणात् । पञ्चरात्रेऽपि 'उत्पन्नास्त्रिविधा जीवा देवदानवमानवाः । तत्र देवा मुक्तियोग्या मानुषेषूत्तमा अपि । मध्यमा मानुषा ये तु सृतियोग्याः पुनः पुनः । अधमा निरयायैव दानवास्तु तमोलया' इति कथनात् ।

इसके आगे पूर्वपक्षी की शंका है जो अध्येताओं की सुविधा के कोष्ठक में कर दी गयी है। [[अब यहाँ पूर्वपक्षी को एक शंका होती है। वह कहता है कि "हृदय में बार-बार चिन्तन किये जाने पर भगवान जिस समय जिस जीव पर कृपा करते हैं, वह लौकिकव्यवहार एवं वैदिक कर्ममार्ग की बद्धमूल आस्था से छुट्टी पा जाता है(श्री०भा० ४-२९-४६)" , "जिस पर मैं अनुग्रह करना चाहता हूँ, उसका धन धीरे धीरे हर लेता हूँ ताकि उस निर्धन को उसके स्वजन छोड़ दें और वो विरक्त होकर मेरे भक्तों की शरण में आ जाये(श्री०भा० १०-८८-

८)" . "यह परमात्मा न तो वेद के प्रकर्ष वचनों द्वारा, न बहुत सुनने से, न बुद्धि से ही प्राप्त हो सकता है परन्तु यह परमात्मा जिसका वरण कर लेता है, उसी को प्राप्त हो सकता है(कठो०उप० १-२-२३)" इत्यादि श्रुतियों में "यत्" एवं "यदा" शब्द जुड़े होने से यह सिद्ध होता है कि, भगवान किसी विशिष्ट जीव पर किसी एक विशेष काल में अनुग्रह करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि, ऐसा अनुग्रहीत जीव ही पुष्टिमार्ग में प्रविष्ट होकर पुष्टिजीव बनता है। इसलिये अनुग्रह होने की प्रक्रिया से पहले तो सभी जीव समान ही हैं अतः जीवों में परस्पर कोई भेद नहीं है। ये भी नहीं कहा जा सकता कि पुष्टिजीव तो अनुग्रहविशिष्ट जीव हैं और दूसरे अनुग्रहरहित, इसलिये जीव परस्पर भिन्न हो गये। नहीं , ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनुग्रहविशेषण से विशिष्ट जीव आखिरकार तो मूलरूप से जीव ही हैं, बस फर्क इतना पड़ा कि अब उसमें अनुग्रह नामक विशेषण लग गया और अब उन्हें अनुग्रहीतजीव कहा जाने लगा। उदाहरण के रूप में देवदत्त नामक किसी व्यक्ति ने कुंडल पहन लिये। तो अब हम उसे कुंडल वाला देवदत्त कहेंगे। केवल कुंडल पहल लेने से कोई देवदत्त थोड़े ही बदल गया ! देवदत्त तो वही का वही रहा, हाँ परन्तु अब उसमें विशेषण लग कर उसे कुंडल वाला देवदत्त कहा जाने लगा। ठीक इसी प्रकार जीव तो अनुग्रह से पहले और अनुग्रह के पश्चात् भी जीव ही रहते हैं, बस अनुग्रह होने के पश्चात् उन्हें अनुग्रहीत पुष्टिजीव कह दिया जाता है। अंतर केवल विशेषण और विशेष्य का है, जीवों में परस्पर अंतर नहीं है। अतः आचार्यचरणों द्वारा जीवों का भेद करना व्यर्थ है।)] यदि पूर्वपक्षी ऐसी शंका करे तो उसकी शंका ठीक नहीं है क्योंकि जीवों का भेद तो प्रमाणसिद्ध है। स्वयं बृहदारण्यक के "देव, मनुष्य और असुर - इन प्रजापति के तीन पुत्रों ने पिता प्रजापति के यहाँ ब्रह्मचर्यवास किया(बृ० ५-२-१)" इस श्रुतिवाक्य में जीवों के भेद कर दिये गये हैं। नारदपञ्चरात्रस्मृति में भी "जीवों को मुख्यरूप से तीन विभागों में बाँटा गया है- देव, दानव और मानव। मनुष्यों से उत्तम देव है जो मुक्ति के योग्य हैं। मध्यम कोटि में मनुष्य आते हैं, जो पुनर्जन्म के योग्य हैं। अधम कोटि में दानव आते हैं जो अन्धन्तम नरक में गिरते हैं(नारदपंचरात्रस्मृति १-८७,८८)" इस वाक्य द्वारा जीवों का भेद किया ही गया है।

नन्वत्र देहस्य देहविशिष्टस्य वा भेद उक्तो, न केवलस्येति चेत् । न । फलोक्त्या तन्निश्चयात् । केवलस्यैव पर्यवसितं फलमिति पूर्वमेव व्युत्पादितत्वात् । न च पञ्चरात्रस्याप्रामाण्यं शङ्क्यम् । भारते मोक्षधर्मे नारायणीये तत्प्रामाण्यस्य कण्ठत एवोक्तत्वात् । तर्कचरणेऽपि विरुद्धांशमात्रानङ्गीकारेण शेषाभ्यनुज्ञानात् । जैमिनीयस्मृतिपादेऽपि स्मृतीनां तथैव प्रामाण्यसाधनात् । किञ्च । 'यदा यस्ये'त्यादिषु न तदैव पुष्टिजीवत्वमित्युच्यते, किन्तु साधनसंपत्त्यान्यत्र वैराग्यमनर्थनिवृत्तिः स्वलाभश्च । अतोऽपि तथा । तस्माद्यदानुगृह्य ततः स्वस्वरूपे प्रवेश्य पुनः पुष्टिसृष्टावुत्पादयति, तदा पुष्टिजीवत्वम्, न त्वनुग्रहमात्रात् । एतत्सर्वं बृहद्वामनयीसन्दर्भविचारे 'उक्तकालं समासाद्य गोप्यो भूत्वा हरिं गता' इत्यत्र विद्वन्मण्डने स्पष्टम् । अत एव निबन्धेऽपि 'आदिमूर्तिः कृष्ण एव सेव्यः सायुज्यकाम्यये'त्युक्तम् । अन्यथा पूर्वमार्गसङ्कीर्णत्वानिवृत्तेः ।

अब पूर्वपक्षी कहेगा- नहीं, यहाँ देह या देहविशिष्ट जीव का भेद किया गया है, केवल जीव का नहीं। तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि नारदपञ्चरात्र की इस श्रुति में फल मिलने की बात कही गयी है और स्मरण रखिए कि हम यह पहले ही कह चुके हैं कि, फल हमेशा जीव को ही मिलता है, देह को नहीं अतः उपर्युक्त स्मृतिवाक्य में जीव के ही विषय में कहा गया है, देह के विषय में नहीं। और, नारदपञ्चरात्रग्रन्थ को अप्रामाणिक भी नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि महाभारत में मोक्षधर्म वाले प्रकरण में स्वयं भगवान नारायण ने भी अपने श्रीमुख से नारदपञ्चरात्रस्मृति की प्रशंसा की है एवं इसे प्रामाणिक कहा है (देखें- महाभारत-शान्तिपर्व-मोक्षधर्मपर्व-३३५वां अध्याय-२५वें श्लोक से जहाँ से राजा उपरिचर की कथा का वर्णन है। इनकी कथा में वर्णन आता है कि ये नित्य पञ्चरात्रस्मृति का पाठ करते थे एवं वैष्णवपद्धति से जीवनयापन करते थे। इन्हीं की कथा में आगे भगवान नारायण ने पञ्चरात्रस्मृति की भूरि-भूरि प्रशंसा की है) अतः महाभारत जैसे उच्च कोटि के ग्रन्थ में नारदपञ्चरात्र स्मृति की प्रामाणिकता स्पष्टतया स्वीकारी गयी है। तर्कचरण नामक शास्त्र में भी केवल अपने से विरुद्धांश को छोड़कर शेष ग्रन्थ को स्वीकार किया है। जैमिनीयस्मृति में भी स्मृतियों की उसी प्रकार से प्रामाणिकता मानी है। और, "हृदय में बार-बार चिन्तन किये जाने पर भगवान जिस समय जिस जीव पर कृपा करते हैं, वह लौकिकव्यवहार एवं वैदिक कर्ममार्ग की बद्धमूल आस्था से छुट्टी पा जाता है(श्री०भा० ४-२९-४६)" इत्यादि श्लोक में भी यही कहा गया है कि, केवल अनुग्रह होने मात्र से ही उस जीव को पुष्टिजीव नहीं कह दिया जाता अपितु जब वह पुष्टिमार्गीय साधन करता है, और जब उसे प्रभु के अतिरिक्त सर्वत्र वैराग्य होता है, और जब उसके अनर्थों की निवृत्ति हो जाती है, और जब उसे अपने स्वरूप का ज्ञान होता है, तब ही उसे पुष्टिजीव कहा जाता है। इस कारण से भी जीवभेद स्वीकार करना चाहिए। इसलिये भगवान उस पर अनुग्रह करने के पश्चात् अपने स्वरूप में प्रवेश करवा कर पुनः पुष्टिसृष्टि को बनाते हैं और तब उसे पुष्टिजीव कहा जाता है, केवल अनुग्रह मात्र से नहीं। इन समस्त वस्तुओं का विचार बृहद्वामनपुराण के संदर्भ का विचार करने में "उक्तकालं.....गता" इस पंक्ति के द्वारा विद्वन्मण्डन(५०)

में स्पष्ट किया गया है। अतएव निबन्ध में भी "जिसे सायुज्यफल की कामना हो, उसे आदिमूर्ति श्रीकृष्ण की ही सेवा करनी चाहिए(शा०प्र०-१३)" ये कहा गया है। यदि पुष्टिमार्ग की ये सभी प्रकियाएँ नहीं मानेंगे, तो पूर्वमार्गों से पुष्टिमार्ग का मिश्रण दूर नहीं हो पायेगा।

न चैवमनुग्रहस्यानित्यत्वापत्तिः । फलबलेन प्रनाड्या अपि विचारितत्वनिश्चयात् । तस्मात्सुक्तं भिन्ना एवेति ।

अब आप ये मत कहिए कि, उपर्युक्त विवेचनों की दृष्टि से अनुग्रह अनित्य हो गया (अर्थात् यों शंका मत करिये कि, अनुग्रह प्रथम बार में ही निवृत्त हो गया। अभी ऊपर वाली प्रकिया में बताया गया कि भगवान पहले तो जीव पर अनुग्रह करते है फिर बाद में उसे अपने स्वरूप में प्रवेश कराते हैं। फिर पुनः एक सृष्टि का निर्माण करते हैं, जिसे पुष्टिसृष्टि कहा जाता है। पूर्वपक्षी का कथन यह है कि, इस प्रकिया में अनुग्रह की सत्ता तो केवल प्रारंभ काल में ही रही ; इसके पश्चात् के समस्त कार्य तो भगवान ने स्वयं ही किये, अनुग्रह ने नहीं किये। अतः सिद्ध ये होता है कि, अनुग्रह की सत्ता नित्य बनी नहीं रहती। अनुग्रह अनित्य हो गया।) आप ऐसी शंका न करें क्योंकि भगवान जब अंत में उस जीव को फल देंगे, तो उस पर किये अनुग्रह का विचार करके ही देंगे। प्रणाली भी यही है अतः अनुग्रह की सत्ता तो अंत तक बनी रहती है, यह जान लीजिए। इसलिये आपश्री ने पुष्टिसृष्टि के विषय में भिन्ना एव कहा है, वह ठीक ही है।

ननु भवत्वेवं जीवभेदः फलभेदश्च, तथापि गीतायां सर्गद्वयस्यैव कथनात्पुष्टिमार्गीयः सर्गोऽपि दैवसर्ग एव निवेशनीयः, तथा सति दैव्या सम्पदा मोक्षः, अनुग्रहसाहचर्ये भक्त्या सायुज्यमिति फलविभागोऽपि सेत्स्यति, तथा सति सर्गस्वभावात्साधनसाङ्कर्यमेव, न तु विवेक इत्याशङ्क्यां तत्सर्गप्रयोजनमाहुः भगवदिति । भगवतो रूपस्य या सेवा, रूपेण स्वसौन्दर्येण वा या सेवा तदर्थं तत्सृष्टिः । नान्यथा भवेत्, एतत्सृष्टिकरणाभावे अधिकार्यभावाद्भगवतो रूपसेवैव न भवेत् । तथा रूपसेवां चेन्न कारयितुमिच्छेत्तान्न सृजेत् । नामसेवाया दैवान्तैरपि सम्भवात् । तथा तादृशरूपाभावे तत्कृता या रमणोपयुक्तसेवा सापि न भवेत् ।

चलिये मान लिया कि, जीवों में भेद होता है, उन्हें मिलने वाले फलों में भेद होता है परन्तु प्रश्न यह है कि, भगवद्गीता में तो केवल दो ही सर्ग बताये गये हैं- एक दैवी और दूसरा आसुरी। इस गीताकथन के अनुसार तो फिर पुष्टिमार्गीय सर्ग को दैवीसर्ग की कोटि में ही मानना चाहिए। और यदि दैवीसर्ग में मानें तो दैवीसंपत्ति वाले जीवों को तो मोक्ष मिलता है एवं दैवीजीवों में से जिन पर भगवान का अनुग्रह है, उन्हें भक्ति द्वारा सायुज्य प्राप्त होता है- इस प्रकार से इनके फल भी अलग-अलग बताये गये हैं। इस परिस्थिति में तो मोक्ष प्राप्त करने वाले एवं अनुग्रह प्राप्त करने वाले दोनों ही दैवीसर्ग कहे जायेंगे और एक ही सर्ग के होने के कारण इनके साधन भी एक ही होंगे। इसलिये जीवों को भिन्न नहीं माना जा सकता। ऐसी शंका होने पर आचार्यचरण अब आगे पुष्टिसर्ग का प्रयोजन भगवद्रूप इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। भगवद्सेवार्थं तत्सृष्टिः का अर्थ है - भगवान के रूप की सेवा अथवा तो भक्त के अपने सौंदर्य के द्वारा भगवान की सेवा ; ऐसी सेवा के लिये भगवान ने पुष्टिसृष्टि को बनाया है। वह पुष्टिसृष्टि नान्यथा भवेत् अर्थात् यदि भगवान ऐसी सृष्टि न बनायें तो साक्षात् भगवत्सेवा करने के कोई अधिकारी ही नहीं रहेंगे और फिर भगवान के स्वरूप की सेवा ही संभव नहीं बन पायेगी। यदि भगवान को अपने स्वरूप की सेवा कराने की इच्छा न होती, तो वे पुष्टिसृष्टि का निर्माण ही न करते। नामसेवा तो खैर अन्य दूसरे दैवीजीव भी कर सकते हैं। अतः भगवान उन भक्तों को ऐसे सौंदर्ययुक्त न बनायें, तो उनके द्वारा जो भगवान के संग रमण करने वाली सेवा संभव हो पा रही है , वह संभव न बन पाती।

इदं च प्रयोजनं 'स वै नैव रेम' इति श्रुत्यैव सूचितम् । तथाच दैवत्वाविशेषेऽपि स्वसेवार्थं तेषामालोचितत्वादन्येषामन्यार्थमालोचितत्वात्स्वार्थपरार्थत्वाभ्यां दैवसर्गभेदः केन वार्यते । सिद्धे च तद्भेदे न साधनसाङ्कर्यगन्धोऽपि । तादृशसृष्टिश्च पूर्वमेव साधिता । 'स आत्मानँ स्वयमकुरु'तेति श्रुत्युपन्यासेन ।

भगवान का ऐसा प्रयोजन तो "ब्रह्म अकेला रमण नहीं कर सकता अतः ब्रह्म ने दूसरे की इच्छा की और वह उतना ही बन गया, जितना आलिङ्गित स्त्री और पुरुष होते हैं(बृ० १-४-३)" यह श्रुति ही सूचित कर रही है। इसलिये ऊपर बताये दोनों प्रकार के दैवीजीवों में (एक दैवीजीव जो मोक्ष के अधिकारी हैं और दूसरे वे दैवीजीव जिन पर भगवान अनुग्रह करते हैं)भले ही समानता हो, परन्तु पुष्टिजीवों को भगवान ने अपनी सेवा कराने के लिये एवं दूसरे दैवीजीवों को दूसरे कार्य के लिये बनाया है अतः स्वार्थ-परार्थ की दृष्टि से दैवीजीवों में परस्पर भेद है, यह बात कौन काट सकता है ? और यदि दैवीजीवों में भेद सिद्ध हो गया, तो फिर इन दोनों के साधन एक कहने की तो गन्ध भी नहीं है। और, पुष्टिसृष्टि की सत्ता तो "परमात्मा ने स्वयं अपने आप को ही जड़-चेतनात्मक जगत् के रूप में बनाया है(तैति०उ० २-७-१)" इस श्रुति के अनुसार हम पहले ही सिद्ध कर चुके हैं।

एवञ्चासुरेण प्रावाहिकेण सर्गेण विप्रकृष्टा क्रीडा । मार्यादिकेन परम्परिता । पुष्टिसर्गेण साक्षादित्युत्कर्षोऽपि फलितः । किञ्च । 'द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मि'न्नित्यत्राप्यस्मिंल्लोक इत्यनेन अमुक्तसम्बन्धी विधातृकृतो लोकः परामृश्यते । अन्यथैतद्वैयर्थ्यं स्यात् । तस्मात्तत्र द्वौ । तावता तदतिरिक्ते मुक्तसम्बन्धिनि तादृग्दैवसर्गस्य केन वारणम् ।

उपर्युक्त प्रकार से आसुरी प्रावाहिकसृष्टि के संग भगवान दूर से ही क्रीड़ा करते हैं, उन्हें अपने निकट नहीं लाते। मार्यादिकों के संग परम्परा से क्रीड़ा करते हैं। और पुष्टिसृष्टि के संग साक्षात् रूप से क्रीड़ा करते हैं- यों पुष्टिसृष्टि का उत्कर्ष भी फलित होता है। और भी, "हे अर्जुन ! इस लोक में दैवी और आसुरी ये दो प्रकार की सृष्टि होती है(भ०गी० १६/६)" इस श्लोक के अंतर्गत "इस लोक में" इन शब्दों में बताये गये लोक का अर्थ वह लोक है जो विधाता ने बनाया है और जो अमुक्तजीवों के लिये है -यह जान लीजिए। यदि ये प्रयोजन न होता, तो इस लोक को बनाना व्यर्थ हो जाता क्योंकि वह लोक तो केवल अमुक्त लोगों के लिये बनाया गया है, ऐसों के लिये जो मुक्त होने वाले नहीं हैं। इसलिये उक्त गीतावाक्य में दो सर्ग(सृष्टि)कहे गये हैं- एक आसुरी और दूसरा दैवी। अतः इतने विवेचन से ही यह पता चल जाता है कि, इस सर्ग से अतिरिक्त मुक्तजीवों से सम्बन्धित दैवीजीवों का एक अलग लोक है।

न च 'न स पुनरावर्तते', 'अनावृत्तिः शब्दा'दिति श्रुतिन्यायविरोधात्पूर्वोक्तमुक्तसर्गोऽनुपपन्नः । 'सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दा'दित्यधिकरणे आकरे व्यवस्थापितत्वात् । तत्र हि ब्रह्मसम्पन्नानां 'सोऽश्नुते सर्वान् कामा'नित्युक्त आनन्दानुभवोऽन्तर्बहिर्वेति सन्दिह्य, 'न स पुनरावर्तत' इति श्रुत्या पुनरिहागमननिषेधादिहागमनं विना च बहिरनुभवासम्भवादन्तरेवानुभव इति पूर्वपक्षे, सम्पद्य ब्रह्म प्राप्यापि स्वेन भगवतैवाविर्भावो बहिः प्राकट्यं तेषां भवति । यत उक्तश्रुत्युक्तः सर्वकामाशनरूपो भोगः स्वप्राधान्येन ब्रह्मणो विपश्चितो विविधचातुर्यवतः सहभावेन यः स बहिरेव शक्य इत्यशनवाचकादश्नुत इति शब्दादेव निर्णीयते ।

अब कोई ये शंका न करे कि, "आत्मज्ञान प्राप्त कर लेने वाला अन्त में ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है और फिर वहाँ से नहीं लौटता(छा० ८-१५-१)" , "श्रुति में बार-बार यह बात कही गयी है कि, ब्रह्मलोक में गया हुआ साधक वापस नहीं लौटता(ब्र०सू० ४-४-२२)" इत्यादि श्रुतियों से विरोध आ जायेगा जिसमें यह कहा गया है कि, मुक्तजीव तो मुक्त होने के बाद पलटकर वापस आते ही नहीं तो फिर भगवान उनके संग क्रीड़ा कैसे करेंगे ? अतः पूर्व में कहा गया मुक्तजीवों का सर्ग अप्रामाणिक है। नहीं, ये शंका ठीक नहीं है। क्योंकि "जो इस शरीर से उठकर परम ज्ञानस्वरूप परमधाम को प्राप्त होता है, वह वहाँ अपने वास्तविक स्वरूप से सम्पन्न हो जाता है(ब्र०सू० ४-४-१)" इस ब्रह्मसूत्र के अधिकरण में इसके विषय में स्पष्ट कर दिया गया है कि मुक्तजीव भी भगवान के संग क्रीड़ा करने आते हैं। इस सूत्र में सर्वप्रथम यह प्रश्न किया गया कि, ब्रह्मभाव प्राप्त कर लेने वाले जीवों के लिये "ब्रह्मवेत्ता परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। उसके विषय में यह श्रुति कही गयी है - ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है। जो पुरुष उसे बुद्धिरूप परम आकाश में निहित जानता है, वह सर्वज्ञ ब्रह्मरूप से एक साथ ही सम्पूर्ण भोगों को प्राप्त कर लेता है (तै०उ० २-१-२)" इस श्रुति में कहा गया ब्रह्म के संग समस्त वस्तुओं का भोग करने का अनुभव जीव को अन्तकरण में होता है कि बाहर ? इस प्रकार का सन्देह करके फिर से पूर्वपक्ष किया गया कि, "आत्मज्ञान प्राप्त कर लेने वाला अन्त में ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है और फिर वहाँ से नहीं लौटता(छा० ८-१५-१)" इस श्रुति के अनुसार तो जीव का फिर वापस से पुनरागमन तो नहीं होता और पुनरागमन बिना तो बाहरी ओर से ब्रह्म के संग भोग कर सकना संभव नहीं बनेगा अतः यही कहना चहिए कि उसे अन्तर में ही ब्रह्म का अनुभव होता है। ऐसा पूर्वपक्ष करके वहाँ यह समाधान किया गया कि, ब्रह्मभाव प्राप्त कर लेने के बाद भी स्वयं भगवान द्वारा ही उनका आविर्भाव अर्थात् बाह्यरूप से प्राकट्य होता है एवं तब वे ब्रह्म के संग भोग करते हैं। क्योंकि इस श्रुति में कहा हुआ ब्रह्म के संग समस्त कामों का जैसा भोग करना बताया है , वैसा भोग जीव का अपनी प्रधानता रखते हुए चतुर ब्रह्म के संग सहभाव से भोग करना तो बाहर से ही संभव है। अतः "जीव भोग करता है" इस वाक्यानुसार "अश्नुते" शब्द से ही यह निर्णय हो जाता है कि, जीव बाहर प्रकट होकर ही ब्रह्म के संग भोग करता है।

शक्तेश्च व्यवस्थापकता पूर्वतन्त्र एव नामधेयपादे 'अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वा'दित्यधिकरणे निर्णीता । 'अञ्जलिना सक्तून् प्रदाव्ये जुहुया'दिति होमे देवताप्रसादनादाविव संयुक्तहस्तद्वयस्याञ्जलेरशक्तत्वाद्धस्तयोर्विकासनं विना होमासम्भवात् व्याकोश एवाञ्जलिः शक्तः । आख्यातानामर्थं ब्रुवतां शक्तेः सहकारित्वादिति ।

और, ... यदि आप ये शंका करते हो कि, "अश्नुते(भोग करता है)" शब्द का अर्थ तो केवल भोग करना ही हुआ, केवल "अश्नुते" मात्र कह देने से यह कैसे सिद्ध हुआ की जीव बाहर प्रकट होकर ही भोग करता है ? .....तो पहले समझिए कि शब्द की शक्ति क्या होती है या शब्द का अर्थ क्या होता है। इसके विषय में पूर्वतन्त्र में नामधेयपाद में "अर्थात् कल्पनैकदेशत्वात्(जैमिनीकर्ममीमांसासूत्र-प्रथमपाद-चतुर्थ अध्याय-३०)" इस अधिकरण में निर्णीत किया गया है। वहाँ बताया गया

है कि, "अञ्जलि द्वारा सत्तू का प्रदाव्य नामक अग्नि में होम करिए" इस वाक्य में जैसे देवताओं को प्रसन्न करने के लिये अञ्जलि को कमल की आकृति बना कर नमस्कार किया जाता है (प्राचीनकाल में अञ्जलि को कमल की आकृति बना कर नमस्कार करने की पद्धति थी। देवताओं को कमल सहज प्रिय है अतः अञ्जलि को कमलाकार बना कर नमस्कार करने से वे प्रसन्न होते है) वैसे दोनों हाथों को मिलाये बिना अञ्जलि बनेगी नहीं और दोनों हाथों को मिलाकर कमल का आकार बनायेंगे तो दोनों हाथों को बंद रखना पड़ेगा और बंद हाथों से होम करना संभव बनेगा नहीं। क्योंकि दोनों हाथ बंद और कमलाकार हों, उसी को अञ्जलि कहा जाता है। इसलिये वहाँ एक हाथ को खोले हुए ही अञ्जलि का रूप देने में अञ्जलि शब्द का अर्थ माना गया है। तात्पर्य यह कि, आख्यात-शब्दों का अर्थ करते समय शब्द के सामान्य अर्थों को भी ध्यान में रखते हुए अर्थ करना चाहिए। इसलिये समझिए कि जैसे होम में अञ्जलि शब्द से बंद और कमलाकार आकृति को छोड़कर प्रसंगानुसार खुले हुए हाथ से भी अञ्जलि का अर्थ ले लिया गया , वैसे यहाँ भी "अश्नुते" शब्द से प्रसंगानुसार "जीव बाहर प्रकट होकर ब्रह्म के संग समस्त वस्तुओं का भोग करता है" - यह अर्थ ले लेना चाहिए।

किञ्चोपकोशलविद्यायां 'एष देवपथो ब्रह्मपथः । एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्त' इत्यत्रेमं मानवमिति पदाभ्यां संसार एवानावृत्तिरुच्यते । अन्यथैतत्पदद्वयवैयर्थ्यं स्यात् । तेन 'न स पुनरावर्तत' इति सामान्यशास्त्रमप्युपसंहृयत इति न तस्यापि विरोध इति । एतमेव चार्थं 'मुक्ता अपि लीलाविग्रहं कृत्वा भजन्त' इति वाक्यं 'न कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानां च विद्यते । विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिण' इति पाद्मवाक्यं चोपोद्बलयति ।

और भी, उपनिषद् की उपकोसलविद्या के अंतर्गत "यह देवमार्ग-ब्रह्ममार्ग है। इससे जानेवाले पुरुष इस मानवमण्डल में नहीं लौटते, नहीं लौटते(छा० ४-१५-५)" इस श्रुति में "इमं मानवं" इन दो पदों के द्वारा यह कहा गया है कि, ब्रह्मभाव को प्राप्त होने वाले संसार में ही लौट कर नहीं आते। इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि, ब्रह्मभाव को प्राप्त होने वाले जीव संसार में लौट कर नहीं आते, इसका ये अर्थ नहीं है कि, वे भगवल्लीला में भी लौट कर नहीं आते। भगवल्लीला में तो लौटकर आते ही हैं। यदि ये अर्थ न होता, तो इस श्रुति में कहे "इमं" "मानवं" इत्यादि पद व्यर्थ हो जाते जो ये बता रहे हैं कि, ब्रह्मभाव को प्राप्त होने वाले संसार में लौट कर नहीं आते। इसलिये "ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है और फिर वहाँ से नहीं लौटता(छा० ८-१५-१)" यह वाक्य भी सुसंगत बन जाता है। यही अर्थ "मुक्ता अपि लीलाविग्रहं" एवं "वैष्णवों को कर्मबन्धन एवं पुनर्जन्म नहीं होता। बुद्धिजीवियों ने विष्णु की सेवा करनी ही मोक्ष बताया है" इन पद्मपुराण के वाक्यों द्वारा भी दृढ़ होता है।

न चोक्तवाक्यानां जीवन्मुक्तपरत्वं शङ्क्यम् । जीवन्मुक्ते तादृशभोगानुपलब्धेः । मुख्ये सम्भवति गौणकल्पनस्याप्रयोजकत्वात् । उक्तवाक्यादिभिर्मुख्ये बाधाभावाच्च । एवञ्च 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यत्रापि ज्ञानमुक्त्योर्व्याप्त्या एकोक्त्योभयप्राप्तेर्ब्रह्मवित्पदेन पुरुषोत्तमे प्राप्तसायुज्योऽपि शक्यवचनः । तथाच स तथा भवतीत्यर्थः ।

इन वाक्यों में जीवन्मुक्त जीवों(ऐसे जीव जो जीवन जी भी रहे हैं और साथ ही साथ मुक्त भी हैं)के विषय में नहीं कहा गया है। क्योंकि जीवन्मुक्त जीव के लिये ब्रह्म के संग इस प्रकार का भोग करना संभव नहीं है। क्योंकि जब मुक्ति के बाद भी साक्षात् रूप से ब्रह्म के संग भोग करना संभव हो सकता है, तो फिर व्यर्थ में जीवन्मुक्त जीव का अर्थ लेकर गौण कल्पना क्यों करें ? ठीक इसी प्रकार से "ब्रह्मवित् आप्नोति परम्(तैति०उ० २-१-१)" इस वाक्य में भी "ज्ञान" और "मुक्ति" दोनों बातें कही गयी हैं अर्थात् ब्रह्मवित् का तात्पर्य है- जिसको ब्रह्म का ज्ञान हो ऐसा ज्ञानी एवं आप्नोति परम् से तात्पर्य है - मुक्ति। इसलिये वाक्य तो एक है परन्तु एक साथ दो बातें कही जा रही हैं। तो, ऐसे में ब्रह्मवित् पद का अर्थ होगा - ऐसा जीव जिसने पुरुषोत्तम का सायुज्य प्राप्त कर लिया है। अर्थात् वह जीव जो ब्रह्म को जानकर ब्रह्म को प्राप्त हो गया है।

अयमेवार्थः 'अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ती'ति सूत्रेऽभिप्रेयते । स चास्मिन्नानन्दमये ब्रह्मणि अस्य प्राप्तसायुज्यस्य जीवस्य तद्योगं तत्स्वरूपस्य योगं शास्ति फलत्वेन श्रुतिर्वदतीति विद्वन्मण्डनोक्तदिशावगन्तव्यः । अस्य तद्योगं शास्तीत्येतावतैव चारितार्थ्ये यदस्मिन्निति पदं तस्यान्यथा वैयर्थ्यापत्तेः । इदं यथा तथानन्दमयाधिकरणस्य वर्णके स्वतन्त्रे प्रभुचरणैर्विशदीकृतम् । अतो जीवन्मुक्तव्यावृत्त्यर्थमेवास्मिन्निति पदम् । न हि जीवन्मुक्तस्याभेदात्मिका मुक्तिरस्ति । येन योग्यतानुभवस्य स्यात् । किन्तु ज्ञानाध्यासाभावयोः कारणकार्ययोर्भाविफलप्राप्तिज्ञापकयोः सत्त्वात्तथोच्यते । ज्ञानेन स्वरूपयोग्यतायां मुक्तिर्भगवता दीयत इति न ज्ञानमात्रसाध्या । 'भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति', 'मोक्षमिच्छेज्जनार्दना'दित्यादिवाक्यैः । तथा सति चरमवृत्तिरूपमपि ज्ञानं स्वरूपयोग्यतासम्पादन एवोपक्षीयमाणं न फलोपहितां कारणतां स्वस्मिन्नवरोद्धुमीष्टे । अतो मुक्तिरपि भगवन्नियतैवेति सेवायै विचारितान् शुद्धान् विधायाविर्भावयतीत्यत्रापि न किञ्चिदनुपपन्नम् ॥

यही अर्थ "श्रुति इस जीवात्मा का उस आनन्दमय ब्रह्म से मिल जाना बतलाती है अतः जड़तत्व या जीवतत्व आनन्दमय नहीं है(ब्र०सू० १-१-१९)" इस सूत्र मे कहा गया है। इस सूत्र का अर्थ है - वह जीव आनन्दमयब्रह्म में यह सभी कुछ आनन्दमयाधिकरण का वर्णन करने वाले स्वतन्त्र ग्रन्थ में प्रभुचरणों ने विस्तार से बताया है। अतः जीवन्मुक्त(जीवन जीता हुआ मुक्त) जीव का अर्थ हटाने के लिये ही उपर्युक्त सूत्र में "अस्मिन्" यह पद दिया गया है। और जीवन्मुक्त(जीवन जीता हुआ मुक्त) जीव को अभेदात्मिका-मुक्ति(अर्थात् जीव का ब्रह्म में मिल जाना और दोनों में कोई भेद न रहना) थोड़े ही प्राप्त होती है कि जिसके कारण उसे ब्रह्म की स्वरूपयोग्यता का अनुभव हो सके। किन्तु जीवन्मुक्त का अर्थ यह है कि- ब्रह्म का ज्ञान और अध्यास का अभाव, जो कि क्रमशः कार्य और कारण हैं ; अर्थात् ब्रह्मज्ञानरूपी कारण से अध्यास दूर होने का कार्य होगा ; ये दोनों आगे होने वाले भावि फल प्राप्त होने के सूचक है ; ये दोनों ही बाते उस जीव में पैदा होती है इसलिये उसे जीवन्मुक्त(जीवन जीता हुआ मुक्त) कहा जाता है। संसार से मुक्त होकर ब्रह्म से मिल जाने वाली मुक्ति होने के अर्थ में नहीं। ब्रह्मज्ञान के कारण उसमें स्वरूपयोग्यता आ जाती है बस। इसके आगे मुक्ति तो उसे भगवान ही देते हैं अतः उसकी मुक्ति केवल ज्ञान होने से नहीं होती। इसलिये "हे राजन्! भगवान दूसरे भक्तों के भी अनेकों कार्य कर सकते है और उन्हें मुक्ति भी दे सकते हैं परन्तु मुक्ति से भी बढ़कर जो भक्तियोग है, उसे सहज में नहीं देते(श्री०भा० ५-६-१८)", "मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा जनार्दन से रखे(स्कन्दपुराण)", इन दोनों वाक्यों में यह कहा गया है कि, मुक्ति भगवान ही देते हैं। इन परिस्थितियों में यही सिद्ध हुआ कि, चरमवृत्तिरूपज्ञान भी केवल स्वरूपयोग्यता प्राप्त कराने में ही खप गया, मुक्ति नहीं दे पाया। ज्ञान में अपने आप फल प्राप्त कराने की सामर्थ्य नहीं है। इसलिये मुक्ति भी भगवान द्वारा ही संचालित होती है और जिनके लिये उन्होंने अपनी सेवा करवाने का विचार किया है, उन्हें भगवान पहले शुद्ध करते हैं और तब उन्हें प्रकट करते हैं अतः हमारे कहे अर्थ में कुछ भी अयुक्त नहीं है।

ननु भवत्वेवं सृष्टिभेदात्साधनसाङ्कर्याभावः, तथापि लीलासृष्टावुत्पन्नानां स्वरूपदेहक्रियासु न कश्चिद्विशेषो दृश्यत इति साधितपूर्वः सृष्ट्यादिभेदोऽपार्थ एवेत्याशङ्कायां तत्परिहाराय विशेषमाहुः स्वरूपेत्यादि ।

स्वरूपेणावतारेण लिङ्गेन च गुणेन च ।
तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा ॥१३॥
तथापि यावता कार्यं तावत्तस्य करोति हि ।

'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वा अरे अयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाती'त्यादिश्रुतिभिर्यथा भगवान् सच्चिदानन्दघनः, एवं तेऽप्यतिरोहितसच्चिदानन्दा इति न स्वरूपेण तारतम्यम् । यथा भगवतोऽलौकिकरीत्या सत्त्वाधिष्ठानेऽवतारः, एवं तेषामपीत्यवतारेणापि न तथा । यथा भगवतो ध्वजवज्रादीनि लिङ्गानि, एवं तेषामिति न लिङ्गेन तथा । यथा भगवत ऐश्वर्यादयः सौकुमार्यादयश्च, तथा तेषामपीति गुणेनापि न तथा ।

चलो भले ही सृष्टिभेद हैं और अलग-अलग प्रकार की सृष्टि होने के कारण भगवत्प्राप्ति के साधन भी अलग-अलग है परन्तु लीलासृष्टि में उत्पन्न हुए पुष्टिजीवों के स्वरूप, उनकी देह या उनकी क्रियाएँ कुछ विशेष प्रकार की तो दिखाई देती नहीं सामान्य ही होती हैं, इसलिये पूर्व में जो सृष्टि आदि का भेद सिद्ध किया गया था, वह व्यर्थ ही है ! यदि कोई ऐसी शंका करता हो तो उसका परिहार करने के लिये आचार्यचरण लीलासृष्टि में उत्पन्न हुए जीवों की विशेषता स्वरूप इत्यादि शब्दों से कह रहे है।

देखिए, "जिस प्रकार नमक का डला बाहर -भीतर दोनों तरफ से सम्पूर्ण रसघन है, वैसे ही यह परमात्मा भी बाहर-भीतर दोनों तरफ से आनन्दघन है(वृ० ४-५-१३)", "बुद्धिमान मनुष्य विज्ञान द्वारा उन परब्रह्म को भलीभाँति प्रत्यक्ष कर लेते हैं, जो आनन्दमय अविनाशीरूप से सर्वत्र प्रकाशित हैं(मु०उप० २-२-७)" इत्यादि श्रुतियों के अनुसार जैसे भगवान सच्चिदानन्दघनस्वरूप है, वैसे ही पुष्टिजीव भी सच्चिदानन्दस्वरूप ही होते हैं, जिनका आनन्द तिरोहित नहीं हुआ होता है। अतः स्वरूप की दृष्टि से भगवान एवं पुष्टिजीवों में कोई भी भेद(तारतम्य) नहीं है। और, जैसे भगवान अलौकिकरीति से सत्वगुण वाले स्थान में ही अवतार लेते हैं/प्रकट होते है, वैसे ही पुष्टिजीव भी अवतार लेकर ही भूतल पर प्रकट होते हैं अतः वे अन्यों की तुलना में विशेष है, दूसरों जैसे नहीं हैं। और, जैसे कि भगवान में ध्वज-वज्र आदि चिन्ह होते हैं, वैसे ही पुष्टिजीवों के भी विशेष चिन्ह होते हैं अतः इस दृष्टि से भी वे दूसरे जीवों जैसे नहीं है। और, जैसे भगवान मे ऐश्वर्यादि, सुकुमारता आदि धर्म होते है, वैसे ही पुष्टिजीवों में भी विशिष्ट गुण होते है अतः उन्हें दूसरों जैसे मत समझिए।

इदमपि 'न प्रयोजनवत्त्वा'दिति सूत्रेण ब्रह्मण आप्तकामत्वश्रवणात्सृष्टिकरणं विरुद्धमित्याक्षिप्य, 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य'मिति सूत्रेण पूर्वपक्षनिरासपूर्वकं लोके यथा ईश्वरो लीलां करोति, तत्र न तदतिरिक्तं प्रयोजनान्तरम्, तथात्रापीति समाधाय, लीलास्वरूपमाह कैवल्यमिति । स्वरूपानतिरिक्ता । तथाच समाधानोत्तरं स्वरूपकथनं सपरिकरायाः स्वरूपात्मकत्वज्ञापनाय । तेन 'अहिकुण्डल'सूत्रे वक्ष्यमाणान्न्यायाद्भगवानेव तावद्रूपस्तथा क्रीडतीति फलितम् ।

यह बात पता चलती है "परमात्मा सृष्टि/जगत् बनाने का कारण नहीं हो सकता क्योंकि वह तो पूर्णकाम होने के कारण प्रयोजनरहित है(ब्र०सू० २-१-३२)" इस सूत्र के द्वारा, जहाँ पर ब्रह्म के लिये ये पूर्वपक्ष किया गया कि, ब्रह्म तो आप्तकाम है अर्थात् उसे किसी की आवश्यकता नहीं है इसलिये ब्रह्म का सृष्टि उत्पन्न करना उसके इस आप्तकाम स्वभाव से विरुद्ध जाता है । जो आप्तकाम है उसे किसी दूसरे की भला क्या आवश्यकता । इस प्रकार का पूर्वपक्ष करके वहाँ "किन्तु उस परब्रह्म परमेश्वर का विश्वरचना आदि कर्म में प्रवृत्त होना तो लोक में आप्तकाम पुरुषों की भाँति केवल लीलामात्र है(वृ० ४-५-१३)" इस सूत्र द्वारा इस पूर्वपक्ष का समाधान किया गया कि जैसे लोक में देखा जाता है कि, जो राजा होते हैं, वे कभी-कभी कोई खेल भी करते हैं, और उस खेल को करने में उनका कोई विशेष प्रयोजन भी नहीं होता ; ठीक वैसे ही ब्रह्म भी खेलने के लिये , अपने आनन्द के लिये सृष्टि करता है, लीला करता है, किसी और प्रयोजन के लिये नहीं । इस समाधान के पश्चात् भगवान की लीला का स्वरूप "कैवल्यं" शब्द से बताया गया । तात्पर्य यह कि भगवान की लीला भी भगवान के स्वरूप से अतिरिक्त नहीं है, उनसे अलग नहीं है, स्वरूपात्मिका ही है । इसका फलितार्थ यह हुआ कि "लोकवत्तु" सूत्र द्वारा पूर्वपक्ष का समाधान कर देने के पश्चात् लीलासृष्टि का वर्णन करने में भगवान के परिकरसहित लीला को बताया गया है, जो लीलासृष्टि को भगवत्स्वरूपात्मिका बताने के लिये ही किया गया है । इससे फलितार्थ यह होता है कि, "अहिकुण्डल सूत्र(ब्र०सू० ३-२-२७)" ("अहि" का अर्थ है- सर्प और "कुण्डल" का अर्थ है- सर्प की कुंडली । इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि सर्प एवं उसकी कुंडली में कोई भेद नहीं होता । सर्प जब कुंडली मार कर बैठा होता है, तब कदाचित् पूर्णरूप से अपने वास्तविक आकार में दिखाई नहीं देता परन्तु उस कुंडली को सर्प से अलग नहीं कहा जा सकता । हम उसे कुंडली वाला सर्प कहेंगे । यही बात ब्रह्म के संदर्भ में भी समझ लेनी चाहिए कि ब्रह्म जब सृष्टि का आकार ले लेता है तो सृष्टि मात्र सृष्टि न होकर ब्रह्मरूप ही होती है । ब्रह्म ही सृष्टि के रूप में परिवर्तित हो जाता है) में कहे अनुसार भगवान ही लीलासृष्टि का रूप बन कर क्रीड़ा करते हैं ।

एतदेव आथर्वणे कृष्णोपनिषदि 'तस्मान्न भिन्ना एतास्तु आभिर्भिन्नो न वै विभुः । भूमावुत्तारितं सर्वं वैकुण्ठं स्वर्गवासिन'मिति मन्त्रे परस्पराभेदकथनादुक्तम् । वाराहपुराणे च 'अन्यैव काचित्सा सृष्टिर्विधातृव्यतिरेकिणी'ति तस्या विधातृव्यतिरेकित्वकथनाच्चदुपबृंहितम् । तथाचास्माद्विशेषान्न साधितपूर्वमपार्थतामापद्यत इत्यर्थः ।

यही बात अथर्ववेद के कृष्णोपनिषद् में "इसलिये शिवजी, गरुड़जी, नारद, तुलसी, माया आदि सभी नारायण से भिन्न नहीं हैं और नारायण इनसे भिन्न नहीं हैं । भगवान पूरे वैकुण्ठ को धरती पर उतार लाये(अथर्ववेद-कृष्णोपनिषद्-२७)" इस मन्त्र द्वारा कही गयी है, जहाँ भगवान एवं लीलासृष्टि में परस्पर अभेद बताया गया है अर्थात् दोनों को एक बताया गया है । और वाराहपुराण में भी "यह तो विधाता की बनायी सृष्टि से भिन्न ही कोई सृष्टि है" इस वाक्य द्वारा कहा गया है कि, यह लीलासृष्टि ब्रह्माजी की सृष्टि से अलग ही कोई सृष्टि है । इसलिये इतने सभी विवेचनों के अनुसार सिद्ध होता है कि, लीलासृष्टि/पुष्टिसृष्टि दूसरी सृष्टि से भिन्न है और इस कारण आचार्यचरण सृष्टि का भेद करते हों, तो वह अयुक्त नहीं है ।

'लिङ्गेन च गुणेन चे'ति चकारद्वयेन यथा भगवल्लीलाश्रवणादिना कृतार्थता, तथैव तेषामपीति बोधितम् । तदपि गर्भस्तुतौ 'शृण्वन् गृण'न्नित्यस्य सुबोधिन्यां चकारसूचितार्थनिरूपणे भगवत्सम्बन्धिनामप्यन्येषां श्रवणादिकं फलसाधकमित्यनेनोक्तम् ।

लिङ्गेन च गुणेन च इन वाक्यों में दो बार च शब्द का प्रयोग करने का अर्थ यह है कि, जैसे भगवल्लीला का श्रवण आदि करने से कृतार्थता हो जाती है, वैसे ही इन लीलासृष्टि के जीवों के चरित्रों का श्रवण आदि करने से भी कृतार्थता हो जाती है । यह बात भी गर्भस्तुति के "जो पुरुष आपके मङ्गलमय नामों और रूपों का श्रवण, कीर्तन, स्मरण और ध्यान करता है और आपके चरणकमलों की सेवा में ही लगा रहता है, उसे फिर जन्म-मृत्युरूप संसार के चक्र में नहीं आना पड़ता(श्री०भा० १०-२-३७)" इस श्लोक की सुबोधिनी में आचार्यचरण इस श्लोक में कहे "च" शब्द का अर्थ बताते हुए आज्ञा करते हैं कि - जैसे भगवान का श्रवण-कीर्तन आदि फलसाधक होता है, वैसे ही भगवत्संबंधी भगवदीयों का श्रवण-कीर्तन आदि भी फलसाधक होता है ।

तर्हि प्रत्यक्षस्य का गतिरित्यत आहुः तथापीत्यादि । यावता तारतम्येन । कार्यं तत्तत्प्रकारकविधित्सितलीलारूपम् । सिध्यतीति शेषः । तावत्तारतम्यं तस्य जीवस्य स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा करोति । हि यतो हेतोः । तथाच कार्यसाधनार्थेन तारतम्येन सर्वमेव

सङ्गच्छते । तेन प्रत्यक्षं तावदंशे यथार्थमपि तु न तावत्त्वस्य नियामकम् । अतो न प्रत्यक्षशब्दयोर्विरोध इत्यर्थः ।
तो फिर शंका यह होती है कि, प्रत्यक्ष में तो लीलासृष्टि के जीवों एवं भगवान में उच्च-नीच भाव दिखाई देता ही है , फिर दोनों में समानता कैसे हुई ? आचार्यचरण इसका स्पष्टीकरण तथापि इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। यावता का अर्थ है - जितने अंतर से। कार्यं का अर्थ है - भगवान की अनेकविध लीलाएँ। अब इसमें "सिद्ध होती है" इतना वाक्य और जोड़ ले तो पूरा वाक्य यों बनेगा - फिर भी भगवान परस्पर उतना अंतर रखते हैं, जितने अंतर से उनके लीलारूपी कार्य सिद्ध हो सकें। अर्थात् जितना अंतर रखने से भगवान की लीलाएँ परिपूर्ण हो सकें उतना अंतर भगवान कर देते हैं। कहने का अर्थ यह है कि, भगवान जीव के स्वरूप-देह-किया में उतना अंतर कर देते हैं, जितने अंतर से वे लीला कर सकें। हि शब्द का अर्थ यह है कि- भगवान अपने लीलारूपी कार्यों को परिपूर्ण करने के लिये लीलासृष्टि के जीव एवं अपने आप में इतना तारतम्य कर देते हैं अतः इस दृष्टि से तारतम्य हो जाना अयुक्त नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि, प्रत्यक्ष में जितना अंतर दिखाई पड़ता है , उतने अंश में तो ठीक है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि दोनों में तारतम्य/अंतर ही है। वास्तविकता में भगवान एवं लीलासृष्टि के जीवों में परस्पर तारतम्य नहीं है। इसलिये प्रत्यक्ष में दिखाई देने वाले तारतम्य और आचार्यचरण के शब्द "दोनों में तारतम्य नहीं है" का आपस में कोई विरोध नहीं है।
अयं च सार्धकारिकोक्तोऽर्थो 'हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानवत्तदुक्त'मित्यत्र विचारितः । तेन यं जीवं मर्यादादिभ्यः पृथक्कृत्यानुग्रहेण पुष्टौ प्रवेशयति, तस्येयं व्यवस्था बोध्या । तत्र हि 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती'त्यार्थर्वणिके श्रुतं साम्यं किमशेषधर्मैः, उत कतिपयधर्मैरिति सन्देहे, अत्र परमपदोक्त्या अशेषतद्धर्मैरिति पूर्वपक्षे, तुना पूर्वपक्षं निरस्य, हानौ भगवता सृष्ट्यर्थं जीवानां त्यागे विभाग इति यावत्, तस्मिन् कृते ये धर्मास्तिरोहिता ऐश्वर्यादयः, ते ब्रह्मसम्बन्ध आविर्भवन्ति । तैः साम्यमुपचर्यते । न तु सर्वथा साम्यम् । तत्र हेतुः । उपायनशब्दशेषत्वादिति । अत्र यत्साम्यमुच्यते, तदुपैतीत्युपायनशब्दशेषत्वेनोच्यते । तथा सति पूर्वं न स्थितमिदानीं प्राप्नोति । तेन परममुपेत्य साम्यमुपैतीति सिध्यति । तेन पूर्वोक्तमेव दृढीभवति ।
इस तेरहवीं कारिका के अंतर्गत आधी कारिका में कहे गये अर्थ का "जहाँ केवल दुःख, शोक, पुण्य, पाप आदि के नाश का ही वर्णन है ऐसी श्रुति में भी परमधाम की प्राप्ति आदि फल प्राप्त होते हैं- यह समझ लेना चाहिए। यह बात कुशा, छन्द, स्तुति और उपगान की भाँति समझनी चाहिए(ब्र०सू० ३-३-२६)" इस सूत्र में विचार किया है। इस सूत्र का अर्थ यह है कि, भगवान जिस जीव को मर्यादा आदि मार्गों से निकाल कर अनुग्रह करके पुष्टि में प्रवेश कराते हैं, उसकी निम्नलिखित प्रकार से व्यवस्था है। वह इस प्रकार से कि, "अपने पाप-पुण्यों का समूल नाश करके परम निर्मल हुआ ज्ञानीभक्त सर्वोत्तम परमात्मा से समता को प्राप्त कर लेता है(मु०उप० ३-१-३)" इस श्रुति के अंतर्गत यह सन्देह किया गया कि, मुक्ति होने के पश्चात् ब्रह्म से ऐक्य होने पर क्या जीव के धर्मों की ब्रह्म के संपूर्ण धर्मों से समानता हो जाती है या फिर कुछ गिने-चुने धर्मों के संग ? तब पूर्वपक्ष किया गया कि, चूँकि इस सूत्र में "परम" पद का प्रयोग है अतः जीव के धर्मों की ब्रह्म के संपूर्ण धर्मों से समानता हो जाती है- यह मानना चाहिए। इस पूर्वपक्ष का निराकरण फिर "हानौ तु" सूत्र में कहे "तु" शब्द से किया गया और "हानौ(भगवान द्वारा सृष्टि के लिये अलग कर दिये जाने पर)" शब्द द्वारा यह स्पष्टीकरण दिया गया कि, भगवान द्वारा सृष्टि के लिये अलग कर दिये जाने पर जिन जीवों के ऐश्वर्य आदि धर्म तिरोहित हो जाते हैं , वे धर्म ब्रह्म से पुनः सम्बन्धित होने पर पुनः उसमें प्रकट हो जाते हैं। केवल उन धर्मों के संदर्भ में ही उन जीवों की भगवान से समानता होती है , वे सर्वथा भगवान के समान नहीं बन जाते। ऐसा इसलिये क्योंकि सूत्र में "उपायन(ब्रह्म के समीप जाना)" शब्द दिया गया है। उपर्युक्त श्रुति में जो जीव की भगवान से समानता होनी बतायी गयी है, वह "उपैति(प्राप्त कर लेता है)" इस शब्द के द्वारा बतायी गयी है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि, इससे पहले उसमें भगवान की भाँति ऐश्वर्य आदि धर्म नहीं थे परन्तु पुनः जुड़ने के बाद अब आ गये हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि अब जीव ने परम ब्रह्म को प्राप्त करके ब्रह्म की समानता प्राप्त कर ली। इस विवेचन से भी हमारी कही हुई बात ही दृढ़ हुई।
उचितं चैतत् । अन्यथा 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यत' इति श्रुतिर्विरुध्येत । तत्र दृष्टान्तः । कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानवदिति । औदुम्बर्यः समिधः कुशाशब्देनाभिधीयन्ते । ता ज्योतिष्टोमादियागेषु प्रस्तोत्रा स्थाप्यन्ते । तत्र 'अभि त्वा शूर नोनुम' इति ऋक्स्थानेऽच उपसंहृत्य भकारेण गानं क्रियते । तथा सति कुशानां, या छन्दसा स्तुतिस्तत्रोपगानकरणभूतो यो भकारस्तस्यर्ग्धर्मान्वयत्वेन यथा नर्ग्रूपता, तद्वदत्रापीत्यर्थः ।
और देखिए , यही अर्थ उचित भी है क्योंकि यदि संपूर्ण रूप से जीव की ब्रह्म से समानता कह देंगे तो बात "न कोई ब्रह्म के समान है और न कोई ब्रह्म से अधिक(श्वे०उप० ६-८)" इस श्रुति से विरुद्ध चली जायेगी। अब इस बात को एक दृष्टांत से भी समझ लीजिए। इसे समझाने के "कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्(३-३-२६)" इस ब्रह्मसूत्र का दृष्टांत दिया गया। इस सूत्र के व्याख्यान में यह बताया गया

कि ज्योतिष्टोम में औदुम्बर(गूलर)की लकड़ी(समिधा) को "कुशा" कहा गया है। यह समिधा ज्योतिष्टोम करते समय प्रस्तोता यज्ञस्थल में लाकर रखता है। यज्ञ की प्रक्रिया में कुछ विधियां होती हैं। किसी एक व्यक्ति को यज्ञ के लिये समिधा लाकर रखनी होती है, यज्ञ के लिये अग्नि लाकर रखनी होती है। उस व्यक्ति को "प्रस्तोता" कहा जाता है। एक व्यक्ति समस्त यज्ञप्रक्रिया का केवल निरीक्षण करता है, उसे "ब्रह्मा" कहा जाता है। अब उन कुशाओं की "अभि त्वा शूर नोनुम (सामवेद/कौथुमी शाखा/आग्नेयं काण्डं/तृतीय प्रपाठक/२३३)" इत्यादि मन्त्रों से छन्द द्वारा स्तुति की जाती है। किन्तु मन्त्र का उच्चारण करते समय वहाँ "अच्" के स्थान पर "भ" बोल कर गान किया जाता है। यद्यपि ऋग्वेद के मन्त्रों में "भ" का प्रयोग नहीं है, फिर भी इन कुशाओं की जब छन्द द्वारा स्तुति की जाती है, तब वहाँ "भ" बोला जाता है। तात्पर्य यह है कि जैसे वहाँ "भ" को ऋग्वेद के मन्त्रों में समाविष्ट हुआ तो मान लिया गया परन्तु इससे "भ" को सर्वांश में अर्थात् ऋग्वेद में सभी स्थलों पर समाविष्ट हुआ नहीं माना जा सकता, ठीक उसी प्रकार जीव में ऐश्वर्यादि धर्म प्रकट हो जाने से केवल उन सीमित धर्मों के परिप्रेक्ष्य में ही उसकी ब्रह्म से समानता होती है, संपूर्णरूप से वह ब्रह्म के समान नहीं बनता।

ननु तत्त्वमस्यादिवाक्यैरभेदो बोधितस्तस्य का गतिरित्यत्राह तदुक्तमिति । 'तदुणसारत्वात्तद्व्यपदेश' इति सूत्र एवोक्तं गौण्योच्यत इति । इयं या मुक्तव्यवस्था सात्रानुगृहीते बोध्या । नित्यलीलास्थानां तूक्तैव पूर्वश्लोके ।

अब एक शंका यह होती है कि, "हे श्वेत्केतो ! तू वही है(छा० ६-८६)" इत्यादि वाक्यों में तो जीव और ब्रह्म में परस्पर अभेद बताया गया है अर्थात् दोनों की समानता बतायी गयी है, इस वाक्य की संगति कैसे करेंगे ? तो इसका निराकरण "हानौ तु" इस सूत्र में आए "तदुक्तं" शब्द से समझिए। "तद्गुणसारत्वात्तत् तद् व्यपदेशः (ब्र०सू० २-३-२९)" इस सूत्र द्वारा वहाँ "तदुक्तं" शब्द का अर्थ बताते हुए समाधान दिया गया है कि, जीव में जो ब्रह्म के समान धर्म बताये जा रहे हैं इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जीव ब्रह्म के समान ही हो गया ; वास्तव में तो मुक्तिदशा के समय ब्रह्म के कुछ धर्म जीव में प्रविष्ट हो जाते हैं, इस दृष्टि से जीव को ब्रह्म के समान कह दिया जाता है। अतः "तत्त्वमसि(छा० ६-८-१६)" वाक्य में जीव और ब्रह्म की समानता गौणरूप से बतायी गयी है, प्रधानरूप से नहीं। वहाँ जो ये व्यवस्था मुक्तजीवों के लिये कही गयी है, वह व्यवस्था यहाँ अनुग्रहीत जीवों के लिये समझ लेनी चाहिए। तात्पर्य यह कि जैसे वहाँ जीव की जिस ढंग से ब्रह्म से समानता बतायी गयी है, उसी ढंग से यहाँ अनुग्रहीत जीवों की भगवान से समानता समझ लेनी चाहिए। नित्यलीला में रहने वाले जीवों की व्यवस्था तो हमने पूर्वश्लोक में ही बता दी है।

एतेन रसशास्त्रोक्तरीतिकलीलायां वैचित्र्यासम्भवे साम्यकृतरमणासम्भवे स्वरूपबहुत्वैकत्वकृतरमणासम्भवे सर्वेषामेकविधत्वेन कार्यान्तरासम्भवादौ च ये सन्देहास्तत्प्रसङ्गानुप्रसङ्गपतिताश्च ते सर्वे सामान्येनापाकृता बोध्याः । 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विष' इति श्रुतेः 'यत्परोक्षप्रियो देवो भगवान् विष्णुरव्यय' इत्यादिस्मृतेश्च रहस्यलीलास्थत्वान्न विशेषतो विवृण्मन्ते ॥

पूर्वपक्षी द्वारा उठाई गयी शंका के समाधान में उपर्युक्त सभी विवेचनों से मैंने जो [["यदि लीलासृष्टि के जीव परस्पर एक समान ही हो जायेंगे तो रसशास्त्रोक्त लीला में विविधता(वैचित्र्य) कैसे संभव बन पायेगी" , "जीव और भगवान समान हो जाएँ तो रमण संभव नहीं बन पायेगा" , "अनेक स्वरूप के बिना केवल एक का अकेले ही रमण करना संभव नहीं है" , "लीलासृष्टि के सभी जीव यदि एक ही समान हो जायेंगे, तो उनकी भगवान के संग भिन्न-भिन्न कार्य/लीलाएँ संभव नहीं बन पायेंगी"]] इत्यादि मुद्दे सिद्ध किये थे, उन मुद्दों में आने वाले समस्त सन्देह और इन सन्देहों का निराकरण करने में अन्य दूसरे भी जितने संदेह उत्पन्न हुए थे, वे सभी संदेह ऊपर किये गये समस्त विवेचनों द्वारा दूर हो गये जान लीजिए। और, यदि आप ये पूछें कि हमने यहाँ भगवान के रमण से संबंधित भेद-अभेद की चर्चा क्यों नहीं की, तो समझिए कि, "देवता मानों परोक्षरीति से कही बात को ही पसंद करने वाले होते हैं(ऐ०उ० १-३-१४)" इस श्रुति एवं "मैंने तुम्हें परोक्षरीति से ही आत्मज्ञान का दिग्दर्शन कराया है क्योंकि जगत्कर्ता जगदीश्वर को परोक्षवर्णन ही अधिक प्रिय है(श्री०भा० ४-२८-६५)" इस स्मृति के अनुसार ये सभी चर्चाएँ रहस्यमयी हैं इसलिये हमने इनका विशेषरूप से विस्तार नहीं किया।

एवं स्वभावभेदादिसन्देहानपाकृत्य, केषाञ्चिद्भगवदुक्ते भक्तिमार्गे, केषाञ्चित्तादृशे ज्ञानमार्गे, केषाञ्चित्तादृशे कर्मणि, तत्रापि केषाञ्चित्स्वतः प्रवृत्तिरासक्तिश्च, केषाञ्चिद्विधिबलात्, केषाञ्चित्स्वभावविरुद्धा देहादयः, इतरेषामनुकूला इत्यादीन् विशेषतो निराकर्तुं पुष्टिजीवान् विभजन्ते ते हि द्विधेति ।

ते हि द्विधा शुद्धमिश्रभेदान्मिश्राश्चिधा पुनः ॥१४॥
प्रवाहादिविभेदेन भगवत्कार्यसिद्धये ।

ते पुष्टिजीवादयः हि यतो हेतोः भगवत्कार्यस्य लीलावैचित्र्यस्य सिद्ध्यर्थं शुद्धमिश्रभेदेन द्विप्रकाराः । मिश्राः पुनः

प्रवाहमर्यादापुष्टीनां यो विभेदः विशिष्टः शुद्धादतिरिक्तः सङ्कीर्णो भेदस्तेन त्रिप्रकाराः प्रवाहमिश्रा मर्यादामिश्राः पुष्टिमिश्रा इति । तथाचैवंविधवैचित्र्यार्थादवान्तरभेदात्ते सन्देहा निवार्या इत्यर्थः ॥१४॥

इस प्रकार जीवों के स्वभाव आदि में भेद बताने में जो सन्देह थे, वे दूर किये गये। अब असमंजसता ये है कि, पुष्टिजीवों में भी कुछ जीवों को भगवान द्वारा कहे भक्तिमार्ग में रुचि है, तो किन्हीं को भगवान द्वारा कहे ज्ञानमार्ग में रुचि है। किसी को कर्ममार्ग में रुचि है, तो कोई जीव कर्म या ज्ञान मार्ग में खुद ही प्रवृत्त और आसक्त हो रहे है। कोई इन मार्गों का अनुसरण केवल नियम का पालन करने के लिये कर रहे हैं, तो किन्हीं जीवों के देह आदि उनके स्वभाव से विरुद्ध होते हैं, तो किन्हीं के अनुकूल। पुष्टिजीवों के प्रति जो इस प्रकार के सन्देह उत्पन्न होते हैं, आचार्यचरण उनका निराकरण करने के लिये पुष्टिजीवों को ते हि द्विधा इत्यादि शब्दों से दो विभागों में बांट रहे हैं।

श्लोक में ते का अर्थ है - पुष्टिजीव। आपश्री आज्ञा करते है - विविधलीलारूपी भगवत्कार्य परिपूर्ण करने के लिये पुष्टिजीव शुद्ध और मिश्र के भेद से दो प्रकार के होते हैं। अर्थात् शुद्धपुष्टिजीव और मिश्रपुष्टिजीव। और फिर मिश्रपुष्टिजीव भी प्रवाह-मर्यादा-पुष्टि से मिलकर तीन प्रकार के होते हैं। ये शुद्धपुष्टिजीवों से अलग है और प्रवाहमिश्र-मर्यादामिश्र-पुष्टिमिश्र यों तीन प्रकार के है। आपश्री का तात्पर्य है - इन प्रकारों की विविधता और इनके अवान्तर भेदों को समझकर उपर्युक्त समस्त सन्देहों का निराकरण कर लेना चाहिए॥ १४॥ उन सन्देहों का निराकरण आगे के श्लोक की व्याख्या में है।

पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः ॥१५॥
मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णातिदुर्लभाः ।

कथं निवार्या इत्याशङ्कायां तदभिज्ञापकं रूपमाहुः पुष्टत्यादि । अत्र पुष्ट्यादिशब्दैर्मार्गा उच्यन्ते । तत्र भक्तिज्ञानकर्मणां विजातीयसंवलितानां मार्गत्वं केवलत्वे भगवद्धर्मत्वमित्येकादशस्कन्धसुबोधिन्यां स्थितम् । पुष्टिशब्दवाच्योऽनुग्रहोऽपि फलबलात्केवलो मिश्रश्चावधार्यते । तत्र केवलो निःसाधनेष्वङ्गीकृतेषु । यथा गोकुलस्थेषु व्रजरत्नेषु सर्वथा प्रपन्नेषु च । 'अङ्घ्र्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेण' 'केवलेन हि भावेन' 'मत्कामा रमणं जारम्', 'सर्वधर्मान् परित्यज्य', 'तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य नोदना'मिति वाक्येभ्यः ।

इन सन्देहों का निराकरण कैसे होगा, यह आपश्री पुष्ट्या इत्यादि शब्दों से पुष्टिमार्ग के स्वरूप का लक्षण बताने के द्वारा कह रहे है। यहाँ पुष्ट्या आदि शब्दों से आपश्री विभिन्न पुष्टिमार्गों के विषय में कह रहे है। भक्ति-ज्ञान-कर्म जब विजातियों से मिल जाते हैं अर्थात् भक्ति ज्ञान मे मिल जाए या फिर ज्ञान कर्म से मिल जाए या फिर भक्ति कर्म से मिल जाए तब तो ये मार्ग कहलाते हैं परन्तु यदि किसी से भी मिलते नहीं, तो फिर भक्ति-ज्ञान-कर्म को भगवद्धर्म कहा जायेगा - यह एकादशस्कंध की सुबोधिनी में आचार्यचरणों ने बताया है। पुष्टि शब्द से कहा जाने वाला अनुग्रह भी अलग-अलग प्राप्त होने वाले फल की दृष्टि से शुद्धपुष्टि या मिश्रपुष्टि निर्धारित किया जाता है।

इनमें से जो केवल शुद्धपुष्टिमार्ग है अर्थात् जिसमें अन्य किसी भी मार्गों के लक्षणों की मिलावट नहीं है, वह केवल भगवान द्वारा वरण किये गये निःसाधन जीवों के लिये है। जैसे गोकुलवासी व्रजभक्तों में जो भक्त सर्वशरणागतिपूर्वक भगवान के पास आये थे, ऐसी सर्वशरणागति और निःसाधनता "गोकुलवासी तो दिनभर काम करते है और रात्रि में थककर सो जाते है। ऐसे साधनाहीनों को भी भगवान अपने परमधाम में ले जायेंगे(श्री०भा० २-७-३१)", "गोपियाँ, गाएँ, यमलार्जुन आदि वृक्ष, व्रज के हरिण, कालियनाग इत्यादि ने केवल भाव के कारण मेरी प्राप्ति कर ली(श्री०भा० ११-१२-८)", "हे उद्धव! कुछ गोपियाँ तो ऐसी थीं जो मेरे वास्तविक स्वरूप को नहीं जानती थीं और मुझे केवल प्रियतम समझती थीं। किन्तु उन्होंने केवल सङ्ग के प्रभाव से मुझे प्राप्त कर लिया(श्री०भा० ११-१२-१३)", "समस्त धर्मों को छोड़कर केवल मेरी शरण में आ जाओ। मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा(भ०गी० १८-६६)", "इसलिये हे उद्धव! तुम सभी वस्तुओं का परित्याग करके एकमात्र मेरी शरण में आ जाओ(श्री०भा० ११-१२-१४)" इत्यादि वाक्यों में कही गयी है।

द्वितीय उक्तरीत्या त्रिविधः । उभावप्यवान्तरभेदैरनन्तविधावित्यापि 'तथापि यावते'त्यनेन सूचितमेव । एवं सति एते "मामभिजानन्ति"त्यभिध्यापूर्विका या पुष्टिस्तया मिश्रा ये पुष्टावङ्गीकृतास्ते सर्वज्ञा यथा तथा भगवत्स्वरूपज्ञातारो भवन्ति । तेन सर्वज्ञत्वं तदभिज्ञापकं लिङ्गम् । उदाहरणं तु नारदर्षभादयः । ज्ञानमिश्राः परमभक्ता इति यावत् । 'मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः । सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुन' इत्यादिवाक्यानामेते विषयाः । मदुपासादिपरा एते भवन्त्वित्यभिध्यापूर्वकेण प्रवाहेण मिश्रा ये पुष्टावङ्गीकृतास्ते क्रियारताः भगवदुक्तपञ्चरात्रादिप्रसिद्धकर्मपराः । प्रावाहिकभक्ता इति यावत् । तादृशक्रियापरत्वं तदभिज्ञापकम् । उदाहरणं श्रुतदेवनिमिप्रभृतयः । मद्गुणान् जानन्त्वित्यभिध्यापूर्विका या मर्यादा

भगवदुक्तब्रह्मवादसरणिस्तया मिश्रा ये पुष्टावङ्गीकृतास्ते गुणज्ञा भगवत उत्पन्नानां गुणानां सत्त्वादीनां भगवदीयानां सृष्टृत्वैश्वर्यादीना ज्ञातारो भवन्तीति तदभिज्ञापकम् । मार्यादिकभक्ता इति यावत् । उदाहरणं भीष्मादयः ।

और, जो दूसरे प्रकार का मिश्रपुष्टिमार्ग है, वह तीन प्रकार का है। शुद्ध और मिश्र ऐसे दोनों प्रकार के पुष्टिमार्ग के अवान्तर भेद तो फिर अनेक प्रकार के हो जायेंगे, जो पूर्व के "तथापि" इत्यादि वाक्यों द्वारा पहले ही सूचित कर दिया गया है। इसलिए अब समझिए कि, "ये मेरे स्वरूप को जानें" इस प्रकार की भगवान की इच्छा सहित जो पुष्टि/कृपा है, उससे मिश्रित जो जीव पुष्टि में अङ्गीकार किये गये हैं, वे सर्वज्ञ कहे जाते हैं ; जिसका अर्थ यह है कि, वे भगवत्स्वरूप को जानने वाले होते हैं। इसलिये ऐसे पुष्टिपुष्टिजीवों को पहचानने का लक्षण इनकी "सर्वज्ञता" है। उदाहरण के रूप में नारदजी, ऋषभदेवजी आदि ; ये भगवत्स्वरूप को जानते थे। तात्पर्य यह कि ऐसे जीव ज्ञानमिश्रित परमभक्त होते हैं। जैसा कि "महामुने ! करोड़ों सिद्ध एवं मुक्तपुरुषों में भी वैसे शान्तचित्त महापुरुष का मिलना तो बहुत कठिन है, जो एकमात्र भगवान के ही परायण हो(श्री०भा० ६-१४-५)" इस श्लोक में बताया गया है। ठीक इसी प्रकार "ये मेरी उपासना करने वाले बनें" इस प्रकार की भगवान की इच्छा सहित प्रवाहमिश्रित जिन जीवों को भगवान ने पुष्टि में अङ्गीकृत किया है, वे क्रिया करने वाले होते हैं अर्थात् भगवान द्वारा नारदपञ्चरात्रस्मृति इत्यादि प्रसिद्ध ग्रन्थों में कहे कर्मों को करने वाले होते हैं। ये प्रावाहिकभक्त(प्रवाहपुष्टिजीव) हैं। इनका कर्म-क्रिया में रत रहना ही इन्हें पहचानने का लक्षण है। उदाहरण के रूप में श्रुतदेव, राजा निमि इत्यादि। इसी प्रकार "ये जीव केवल मेरे गुणों को जानें" ऐसी भगवान की मर्यादा (सीमित इच्छा, अर्थात् केवल भगवान के गुणों को जान लेने तक की सीमित इच्छा) है, अर्थात् जिस ब्रह्मवाद को भगवान ने कहा है उस ब्रह्मवाद में बताये गये प्रकार की मर्यादा से मिश्रित जो जीव पुष्टि में अङ्गीकृत हुए हैं , वे गुणज्ञा होते हैं ; अर्थात् भगवान के सत्व-रज-तम आदि गुणों को एवं भगवान का सृष्टिनिर्माण, भगवान के ऐश्वर्य आदि गुणों को जानने वाले होते हैं और यही इनको पहचानने का लक्षण है। ये मार्यादिकभक्त(मर्यादापुष्टिभक्त)कहे जाते हैं। उदाहरण के रूप में भीष्म आदि भक्त।

शुद्धास्तु प्रेम्णा उपलक्षिताः । निरुपधिप्रेमैव तेषामभिज्ञापकः । ते अतिदुर्लभाः । तान् भगवान् कदापि न त्यजति । 'ये दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे', 'विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरित्यादिवाक्यानां विषयाः । निबन्धेऽपि 'एतादृशस्तु पुरुषः कोटिष्वपि सुदुर्लभः । यो दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम् । हित्वा कृष्णे परं भावं गतः प्रेमप्लुतः सदे'त्यनेनोक्ताः ।

शुद्धपुष्टिजीव भगवान से प्रेम करने वाले होते हैं। इनका निःस्वार्थरूप से भगवान से प्रेम करना ही इन्हें पहचानने का लक्षण है। ये अति दुर्लभ होते हैं। इनका भगवान कभी भी त्याग नहीं करते। ऐसे शुद्धपुष्टिजीव "जो स्त्री, पुत्र, गृह, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक और परलोक सबको छोड़कर केवल मेरी शरण में आ गये हैं, उन्हें मैं कैसे छोड़ सकता हूँ(श्री०भा० ९-४-६५)" , "विवशता से नामोच्चारण करने पर भी संपूर्ण अघराशि को नष्ट कर देने वाले भगवान श्रीहरि जिसके हृदय को क्षणभर के लिये भी नहीं छोड़ते, वास्तव में ऐसा ही पुरुष भगवान के भक्तों में प्रधान है(श्री०भा० ११-२-५५)" इत्यादि श्लोकों में कहे गये हैं। निबन्ध में भी आचार्यचरणों ने ऐसे शुद्धपुष्टिजीवों के विषय में "सर्वत्याग करके भीतर से श्रीकृष्ण को अपना स्वामी मान के देहपर्यंत कृष्ण में एकनिष्ठ बना रहे, और जो स्त्री, पुत्र, गृह, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक और परलोक सबको छोड़कर केवल श्रीकृष्ण की शरण में आ गया हो, ऐसा पुरुष तो करोड़ों में भी दुर्लभ है(सर्व०-२१९)" यह कहा है।

न च ज्ञानिभक्तापेक्षया तेषां निकर्षः शङ्क्यः । 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानता'मित्यादिश्रुतिभिः स्वरूपावित्त्वेऽप्यत्युत्कर्षस्य सिद्धत्वात् । किञ्च । अतिदुर्लभा ब्रह्मादिदुरापचरणरेणवः ।'षष्टिवर्षसहस्राणी'ति बृहद्वामनपुराणवाक्यात् । अत्र येऽवान्तरभेदास्ते फलबलादूह्याः । तथा ये निरुपधिप्रेमाणोऽपि विक्षिपन्ति कदाचित्ते जीवाः शुद्धाः मनस्तेषां मिश्रम् । ये चैकमनसोऽपि देहेनाशक्ताः सेवितुं तेषां देहा मिश्राः । ये पुनस्तादृशाः समर्था अपि क्रियामन्यादृशीं विदधति, तेषां क्रिया मिश्रेत्याद्यप्यूह्यम् । भक्तिभेदा भक्तिहंसाद्भावभेदा जलभेददादवगन्तव्याः ॥१५॥

आप ऐसा न समझें कि, चूँकि शुद्धपुष्टिजीव केवल भगवान से निःस्वार्थ प्रेम करना जानते हैं और पूर्व में कहे ज्ञानी-मर्यादापुष्टिजीव की भाँति भगवत्स्वरूप का ज्ञान नहीं रखते इसलिये वे ज्ञानीमर्यादाभक्त की तुलना में न्यून हो गये ! नहीं, ऐसा नहीं है क्योंकि "जो ये जानते हैं कि वे ब्रह्म को नहीं जानते, वे सब कुछ जानते हैं। और जो ये कहते हैं कि वे ब्रह्म को जानते हैं, वे कुछ नहीं जानते (केनोपनिषद् २-३)" इस श्रुतिवाक्य के अनुसार भले ही वे भगवत्स्वरूप को नहीं जानते तथापि इनका उत्कर्ष कहा गया है। और भी, ये शुद्धपुष्टिजीव अतिदुर्लभ होते हैं , इतने कि ब्रह्मा आदि देवताओं को भी इनकी चरणरेणु तक प्राप्त होनी दुर्लभ है। जैसा कि

"षष्टिवर्षसहस्राणि(पद्मपुराण-स्वर्गखंड १६-१५/ वृहद्वामनपुराण)" इस पुराणवाक्य मे कहा गया है। इस प्रकार शुद्धपुष्टि के भी जितने अवान्तर भेद होते हों, वे सभी भेद उन-उन शुद्धपुष्टिजीवों को मिलने वाले फलों का आंकलन करके समझ लेने चाहिए। अब मान लो कि, शुद्धपुष्टि के इन अवान्तर भेदों के अंतर्गत अलग-अलग मिलने वाले फल की दृष्टि से कदाचित् कोई ऐसे जीव दिखाई दे जाएँ जो भगवान से निस्वार्थप्रेम करने वाले तो हों, परन्तु कभी-कभी उनके निःस्वार्थप्रेम में विक्षेप भी आ जाता हो, तो भी वे शुद्धपुष्टिजीव ही हैं, यह समझ लीजिए- बस केवल उनका मन मिश्र है। जानना चाहिए कि जीव एक अलग वस्तु है, मन अलग वस्तु है एवं देह कोई अलग वस्तु है। सामान्यतया जीव और मन को एक ही मान लिया जाता है परन्तु ये सब अलग-अलग हैं। और जो मन से तो भगवान में एकनिष्ठ हैं परन्तु देह से भगवत्सेवा नहीं कर रहे हैं, उनका जीव तो शुद्ध है परन्तु देह मिश्रित है- यह समझ लेना चाहिए। और जो जीव भगवत्सेवा के लिये समर्थ तो हैं परन्तु कुछ अन्य क्रिया भी कर रहे हैं, उनकी क्रिया मिश्र माननी चाहिए, उनका जीव तो शुद्ध है। भक्ति के सारे भेद भक्तिहंस से एवं भावों के सारे भेद जलभेदग्रन्थ से समझ लेने चाहिए॥ १५॥

एतेन साङ्कर्यदर्शनजाः सन्देहा निराकृता इत्याशयेन साधननिरूपणमुपसंहरन्ति एवमिति ।

एवं सर्गस्तु तेषां हि फलमत्र निरूप्यते ॥१६॥
भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद्भुवि ।
गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत् ॥१७॥

एवम्प्रकारकं सर्गभेदमनुसन्धाय ते सन्देहा निवारणीया इत्यर्थः । अतः परं शुद्धानामपि बाल्यादिभेदेन नानाविधं फलं दृश्यते । तत्कथम् । किञ्च ।'कायेन तु फलं पुष्टा'वित्यत्र तृतीयानिर्देशात् किं स्वरूपातिरिक्तं फलमित्याद्याशङ्कानिरासाय च फलनिरूपणं प्रतिजानते **फलमिति** । तदाहुः **भगवानेव हीति** । 'यो वै भूमा तत्सुखम्', 'पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गति'रित्यादिश्रुतेः । इन पूर्व के श्लोको द्वारा पुष्टिमार्ग अन्य मार्गों से मिश्रित(साङ्कर्य) दिखाई देता होने के सन्देह दूर कर दिये गये, यह मान कर अब आगे आचार्यचरण पुष्टिमार्ग के साधनों के निरूपण का उपसंहार कर रहे हैं। इसे आपश्री एवं शब्द से कह रहे हैं।

एवं का अर्थ है - पूर्व के श्लोको में सृष्टि(सर्ग) का अंतर समझ कर ऊपर कहे सन्देहों का निवारण कर लेना चाहिए। इसके पश्चात् शंका यह होती है कि, शुद्धपुष्टि में भी भगवान के बाललीला, पौगण्डलीला, किशोरलीला इत्यादि स्वरूपों के माध्यम से शुद्धपुष्टिजीवों को भी विविध प्रकार के फल प्राप्त होते देखे गये हैं, ऐसा क्यों ? तात्पर्य यह कि यदि शुद्धपुष्टिमार्ग की कोई अलग कोटि है तो फिर इसके अंतर्गत आने वाले सभी जीवों को एक ही स्वरूप द्वारा और एक जैसा ही फल मिलना चाहिए था ? किन्तु शंका यह है कि, एक कोटि के अंतर्गत होने पर भी विभिन्न स्वरूपों द्वारा विभिन्न फल क्यों ? जैसे सूरदासजी, कुंभनदासजी ये दोनों ही शुद्धपुष्टिजीव हैं तथापि सूरदासजी को बालस्वरूप द्वारा फल प्राप्त हुआ और कुंभनदासजी को किशोरस्वरूप द्वारा। पूर्वपक्षी की शंका यह है कि, एक कोटि होने पर भी ऐसा फलभेद क्यों ? और दूसरी शंका यह है कि, "कायेन(अपनी काया द्वारा)" इस कारिका में इस शब्द में तृतीयाविभक्ति का प्रयोग है। तृतीयाविभक्ति से यह अर्थ निकलता है कि, शुद्धपुष्टिजीवों को भगवान की काया के द्वारा कोई दूसरा फल प्राप्त होगा। क्योंकि यदि "कायेन" अर्थात् भगवान की काया द्वारा फल प्राप्त होना है, तो ध्वनित यह होता है कि, काया/भगवत्स्वरूप तो प्राप्त नहीं होगा अपितु भगवत्स्वरूप से अतिरिक्त कुछ दूसरा फल प्राप्त होगा। तो इस शंका का निराकरण करने के लिये एवं शुद्धपुष्टिजीवों को क्या फल प्राप्त होता है, यह बताने के लिये आपश्री फलं इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- शुद्धपुष्टिजीवों का फल भगवान ही हैं। जैसा कि "जो भूमा है वही सुख है, अल्प में सुख नहीं है। भूमा को ही जानने की जिज्ञासा करनी चाहिए(छा० ७-२३-१)", "परमपुरुष भगवान से श्रेष्ठ और बलवान कुछ भी नहीं है। वही सबकी परम अवधि और वही परम गति है(कठो उप० १-३-११)" इत्यादि श्रुति में कहा गया है।

'परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्य'इति सूत्रे सेतुर्विधृतिः । 'यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषः', 'प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः' 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मय' इत्यादिभिः सेत्वादिव्यपदेशैः फलान्तरसन्देहे, 'सामान्यात्त्वि'सूत्रेण संसारतरणसाधनत्वनिर्लेपत्वातिदुर्लभत्वदिव्यत्वाद्यर्थं ते धर्मा ब्रह्मण्युच्यन्ते । तावता तदतिरिक्तस्य फलस्य न सिद्धिरिति व्यवस्थापनाच्च भगवानेव फलम् । स्वर्गमोक्षादयस्तु मार्गान्तरे । तान्यपि 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'ति श्रुतेर्भगवदानन्दांशभूतानि । मोक्षोऽप्यात्मसुखात्मा ब्रह्मानन्दात्मा च तथा । पुष्टिमार्गे तथा न, किन्तु मूलरूपो भगवानेव फलम् । तत्र प्रमाणभूतां युक्तिमाहुः **हीति** । मार्गभेदसाधनावसर उक्तैः प्रमाणैरेव तथा निश्चयादित्यर्थः । तृतीयानिर्देशस्तु फलस्य साधनासाध्यत्वबोधाय । अतो न विरोधः ।

और भी, "इस जड़-चेतनरूप दोनों समुदायों से वह परब्रह्म अत्यन्त श्रेष्ठ है क्योंकि श्रुति में सेतु, उन्मान, सम्बन्ध, और भेद का वर्णन करके यही सिद्ध किया गया है(ब्र०सू० ३-२-३१)" इस ब्रह्मसूत्र में एक ही ब्रह्म को चार विशेषण दिये गये हैं - सेतु, उन्मान, सम्बन्ध और भेद। अब उपनिषद् की "जितना यह आकाश है, उतना ही हृदयान्तर्गत आकाश है(छा० ८-१-३)", "यह पुरुष प्राज्ञात्मा से आलिङ्गित होने पर न कुछ बाहर का विषय जानता है और न भीतर का(बृ०उप० ४-३-२१)", "य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः" इत्यादि श्रुतियों में ऊपर कहे ब्रह्मसूत्र के संदर्भ में यह सन्देह किया गया कि, जब ब्रह्म के लिये ये चार विशेषण दिये गये हैं, तो फिर ब्रह्म की उपासना करने वाले जीव को क्या इन चारों विशेषणों के अनुसार अलग-अलग फल प्राप्त होगा ? क्या ब्रह्म चार प्रकार का है ? तो इस सन्देह का निराकरण करने के लिये "परब्रह्म परमात्मा का अपनी प्रकृतियों के साथ भेद और अभेद दोनों समानभाव से है(ब्र०सू० ३-२-३२)" इस सूत्र द्वारा यह बताया गया कि, ब्रह्म के ये चार विशेषण तो केवल ब्रह्म में रहने वाले क्रमशः "संसारसागर से पार लगाना", "उसका सभी से निर्लिप्त रहना", "उसका अति दुर्लभ होना", और "उसका अति दिव्य होना" इन चार धर्मों को बताने के लिये हैं, वास्तव में तो ब्रह्म एक ही है। और जीव को स्वयं ब्रह्म से अतिरिक्त और कोई दूसरा फल प्राप्त नहीं होता अपितु स्वयं ब्रह्म/भगवान की ही प्राप्ति होती है। इस व्याख्यान से स्पष्ट होता है कि, भगवान ही फल हैं, अन्य कोई नहीं। स्वर्ग-मोक्ष आदि फल तो अन्य दूसरे मार्गों के फल हैं। स्वर्ग-मोक्ष इत्यादि भी उसी ब्रह्म के आनन्दांश हैं, जो कि "इस आनन्द की मात्रा के आश्रित ही अन्य प्राणी जीवन धारण करते हैं(बृ०उप० ४-३-३२)" इस श्रुति में कहा गया है। आत्मसुखरूप एवं ब्रह्मानन्दरूप मोक्ष भी ब्रह्म का आनन्दांश ही है। पुष्टिमार्ग में अंशमात्र वाले स्वर्ग-मोक्ष इत्यादि फल नहीं है, किन्तु इसमें मूलरूप भगवान ही फल हैं। इस बात को प्रमाणित करने के लिये आपश्री इस बात को हि जोड़कर कह रहे हैं। क्योंकि मार्गभेद और साधनभेद बताने में ऊपर कहे प्रमाणों द्वारा ही यह निश्चित हो गया कि, शुद्धपुष्टिजीवों के लिये भगवान ही फल हैं। और जहाँ तक तृतीयाविभक्ति द्वारा भगवान की काया द्वारा फल प्राप्त होने की बात है, तो वह इसलिये ताकि ये बताया जा सके कि, शुद्धपुष्टिजीवों को प्राप्त होने वाला फल दूसरे साधनों से असाध्य है और केवल भगवान स्वयं ही फल दे सकते हैं अतः तृतीयाविभक्ति से विरोध आने जैसी कोई बात नहीं है।

तत्र विशेषमाहुः स इत्यादि । स भगवान् भुवि हृदयभूमौ लीलास्थाने वृन्दावनादौ च गुणस्वरूपभेदेन यदर्थं यथा आविर्भवेत्, तेषां तथा तादृशगुणस्वरूपभेदेन फलं भवेत्, फलरूपो भवेत् । तथाच यदर्थे यद्गुणरूपेणाविर्भवति नृसिंहरामवामनादिरूपेण, तेषां मुक्तावपि तेन रूपेण फलति । यदर्थं च बाल्यपौगण्डकिशोररूपेणाविर्भवति, तेषां मुक्तावपि तथैव फलति । तेन तदर्थकतथाविर्भाव एव तादृक्फलगमकः । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' । 'तद्धैतान् भूत्वावती'ति स्मृतिश्रुतिप्रमाणकश्च । तेन 'मन एव मनुष्याणां पूर्वरूपाणि शंसति । भविष्यतश्च भद्रं ते तथैव न भविष्यत' इति न्यायेन यथा पूर्वं तद्धृदि प्रकटीभूतः, तथैवाग्रे मुक्त्यनन्तरमपि पूर्ववदेव तेषु तां लीलामनुभावयतीति । तेन नित्यत्वमपि लीलायाः स्थापितम् । प्रपञ्चितमेतद्विद्वन्मण्डने लीलानित्यत्ववाद आकरे च । एवं फलतः पुष्टिमार्गस्यान्यमार्गसाङ्कर्यं निराकृतम् ॥

इसके आगे स शब्द से आचार्यचरण - "भगवान फलरूप से कैसे प्राप्त होते हैं" इस विषय में कुछ विशेष बात कह रहे हैं। स यानि भगवान। भुवि अर्थात् हृदयरूपी भूमि या लीलास्थान या वृन्दावन आदि स्थल। आपश्री आज्ञा करते हैं - भगवान उपर्युक्त प्रकारक भूमि पर अपने गुण या स्वरूप के माध्यम से जिन जीवों के लिये, जिस प्रकार से आविर्भूत होते हैं, उन्हें उसी गुण एवं उसी स्वरूप के अनुरूप फल प्राप्त होता है। अर्थात् भगवान उसी स्वरूप के अनुसार फलरूप से प्रकट होते हैं। तात्पर्य यह कि भगवान जिसके लिये नृसिंह-राम-वामन आदि गुणस्वरूप के द्वारा आविर्भूत होते हैं, उन्हें मुक्ति भी उसी रूप के द्वारा फलित होती है। और, जिन जीवों के लिये भगवान बाल-पौगण्ड-किशोर इत्यादि रूप से आविर्भूत होते हैं, उन्हें मुक्ति भी उसी स्वरूप के द्वारा फलित होती है। इससे यह ज्ञात होता है कि, जिसने जिस स्वरूप की भावना की, उसके लिये वैसे स्वरूप से भगवान का अविर्भाव होना ही फल है। जैसा कि "जो जिस भाव से मेरी शरण होते हैं, उसी के अनुरूप मैं उन्हें फल देता हूँ(भ०गी ४-११)", "तद्धैतान्" इत्यादि स्मृति और श्रुति के प्रमाणों द्वारा कहा गया है। इससे यह जानना चाहिए कि, "हे राजन्! मन ही मनुष्य के पूर्वरूपों को तथा भावी शरीर आदि को भी बता देता है ; और जिसका भावी जन्म होने वाला नहीं होता, उन तत्ववेत्ताओं की विदेहमुक्ति का पता भी उसके मन से ही लग जाता है(श्री०भा० ४-२९-६६)" इस वाक्यानुसार जैसे भगवान पहले हृदय में प्रकट हुए थे, वैसे ही आगे मुक्ति के पश्चात् भी पहले की ही भाँति पुष्टिजीवों को अपनी उस लीला का अनुभवन करायेंगे। इस व्याख्यान से लीला की भी नित्यता सिद्ध हो जाती है अर्थात् भगवलीला नित्य अविरत चलती ही रहती है। यह सभी बातें विद्वन्मण्डन के लीलानित्यत्ववाद एवं प्राचीन ग्रन्थों में विस्तार से बतायी गयी हैं। इस प्रकार फलितार्थरूप से "पुष्टिमार्ग अन्यमार्गों से मिला हुआ है" - यह बात निरस्त हो जाती है।

अतः परमवान्तरसाङ्गत्येन मिश्रेषु क्वचिच्छापो दृश्यते, स पुष्टिमार्गीयत्वात् 'तथा न ते माधव तावका' इति वाक्यविरोधाच्चानुचितो निकर्षजनकश्चेत्याकाङ्क्षायां समादधते ।

आसक्तौ भगवानेव शापं दापयति क्वचित् ।
अहङ्कारेऽथवा लोके तन्मार्गस्थापनाय हि ॥१८॥

आसक्तावित्यादि । अन्यासक्तौ सत्यां भगवानेव शापं दापयति । यथा नलकूबरादेः । क्वचिदिति । यत्र तस्या औत्कट्यं तत्र । एवमहङ्कारे । यथा चित्रकेतुपरीक्षितोः । तथाच तद्दोषपरिहाराय भगवत्कृत एवायं तत्तत् द्वारको दण्डः । तेन न निकषजनकः ।

इसके पश्चात् शंका यह है कि, स्वयं मिश्रपुष्टि वाले विभाग के ही अंतर्गत अन्य मिश्रितजीवों में से कुछ जीवों को शाप मिलता हुआ देखा गया है, ऐसा क्यों ? जबकि वह तो पुष्टिमार्गीय है !! और 'हे प्रभो ! जिन्होंने आपके चरणों से सच्ची प्रीति जोड़ रखी है, वे कभी भी अपने मार्ग से गिरते नहीं(श्री०भा० १०-२-३३)" इस वाक्यानुसार उसे तो किसी भी प्रकार की कोई बाधा नहीं आनी चाहिए, तो फिर पुष्टिमार्गीय को भी शाप मिलता हो तो क्या इस वाक्य से विरोध नहीं आता ? इसलिये शंका यह होती है कि, उसे शाप मिलना अनुचित है एवं इससे तो पुष्टिमार्गीय और हीन सिद्ध हो रहे हैं !! इस आकांक्षा का समाधान आचार्यचरण अग्रिमश्लोक द्वारा कर रहे हैं।

आसक्तौ इत्यादि शब्दों का अर्थ यह है कि- यदि पुष्टिमार्गीयजीव पुष्टिप्रभु के अतिरिक्त अन्य कहीं भी आसक्त हो जाय तो भगवान उसे शाप भी दिलवा देते हैं। जैसे कि भगवान ने नलकूबर को नारदजी द्वारा शाप दिलवा दिया था। क्वचित् शब्द का अर्थ है "कभी-कभी" अर्थात् भगवान द्वारा शाप दिलवा दिया जाना कभी-कभी ही होता है, तब होता है जब भगवान देखें कि जीव की उनके अतिरिक्त कहीं और उत्कट आसक्ति हो गयी है। इसी प्रकार जीव में यदि अहंकार भी उत्कट हो जाय, तब भी भगवान शाप दिलवा देते हैं। जैसे कि चित्रकेतु एवं राजा परीक्षित को दिलवा दिया था। इसका अभिप्राय यह है कि, उस जीव के दोष को दूर करने के लिये यह सब भगवान का किया है और भगवान द्वारा दिलाया गया दंड है। अब कारण कि यह भगवान द्वारा दिया गया दंड है अतः इससे पुष्टिमार्गीय जीव की हीनता सिद्ध नहीं होती।

तर्हि यत्र नोभयं तत्र कथं शाप इन्द्रद्युम्नादौ । तत्राहुः लोक इत्यादि । यद्येवं न कुर्यात्, तदा लोके मर्यादादिमार्गा न तिष्ठेयुः । तथा सति लोकोच्छित्तिः स्यात् । अतो लोकसंग्रहार्थं तथा करणम् । अत्र गमकमाहुः हीति । 'यद्यदाचरति श्रेष्ठ' इति वाक्येन तथा निश्चयादित्यर्थः । शापस्य भगवत्प्रयुक्तत्वं मौसले स्फुटम् । तेनान्यत्राप्यनुसन्धेयम् ॥१८॥

तो फिर प्रश्न यह उठता है कि, जिस स्थल पर जीव में न किसी अन्य के प्रति आसक्ति होती है और न ही उसे अहंकार होता है, ऐसे जीव को भी शाप मिलने का क्या कारण है ? जैसे कि इन्द्रद्युम्न। इन्द्रद्युम्न को न अन्य किसी के प्रति आसक्ति थी और न ही अहंकार, फिर उसे क्यों शाप मिला ? इस प्रश्न का समाधान आपश्री लोके शब्द से कर रहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि, यदि भगवान इस प्रकार से शाप न दिलवाएँ तो लोक में मर्यादा आदि मार्ग नहीं रह पायेंगे। क्योंकि भगवत्क्रीड़ा के लिये तो पुष्टिमार्ग भी चाहिए, मर्यादामार्ग भी और प्रवाहमार्ग भी। यदि लोक में मर्यादा न रही तो लोक में अराजकता फैल जायेगी, लोक का नियंत्रण कैसे होगा ? अतः लोकसंग्रह के लिये अर्थात् लोकमर्यादा का भलीभाँति पालन कराने के लिये भगवान ऐसा करते हैं। इस बात को प्रमाणित बताने के लिये आपश्री ने हि शब्द का प्रयोग किया है। लोकमर्यादा टूटने न पाये का तात्पर्य यह कि "महापुरुष जो-जो आचरण करता है, साधारण मनुष्य उसका अनुकरण करते हैं(भ०गी० ३-२१)" इस वाक्यानुसार लोक-समाज श्रेष्ठपुरुषों के आचरण का अनुकरण करते हैं ; इसलिये यदि श्रेष्ठपुरुष ही लोकमर्यादा भंग करने लग जायेंगे, तो लोग भी उनकी देखा-देखी मर्यादा का पालन करना आवश्यक नहीं समझेंगे। परन्तु लोग जब देखेंगे कि जब इतने महान व्यक्ति को भी मर्यादाभंग करने से दंड मिला, तो सोचेंगे कि हमें ऐसा नहीं करना है। इसीलिये इन्द्रद्युम्न द्वारा मर्यादाभंग करते ही भगवान ने इन्द्रद्युम्न को शाप दिलवा दिया ताकि लोक में मर्यादा का पालन होता रहे। स्वयं भगवान ही शाप दिलवाते हैं , यह बात लोहे के मूसल वाली कथा में स्पष्ट हो जाती है, जहाँ स्वयं भगवान की ही इच्छा से उस मूसल द्वारा यादवकुल का नाश हो गया था। यही बात अन्य सभी जगहों पर समझ लेनी चाहिए जहाँ-जहाँ भगवान ने शाप दिलवाया हो॥ १८ ॥

न ते पाषण्डतां यान्ति न च रोगाद्युपद्रवाः ।
महानुभावाः प्रायेण शास्त्रं शुद्धत्वहेतवे ॥१९॥
भगवत्तारतम्येन तारतम्यं भजन्ति हि ।

ननु गमकमन्तरेण तथानुसन्धानमशक्यमित्यत आहुः न ते इत्यादि । ते शापविषयाः पाषण्डतां न यान्ति । ये शप्तास्ते पुनरत्यन्तं भक्ता एव जाताः । अतो ज्ञेयं भगवतैवायं दण्डः कृत इति । ननु दण्डस्थले युक्तमेतत्, शेषे तु नायं समाधिरित्यतस्तत्राहुः न चेत्यादि । तेषामपि रोगाद्युपद्रवा न भवन्ति । प्रायेण महानुभावा एव भवन्ति । महानुभावत्वाभावेऽपि रोगाद्यभावस्तु भवत्येव । एतेनान्यार्थं भक्तदुःखदातृत्वदोषोऽपि निराकृतः ।

पुष्टिमार्गीयजीव शाप मिलने से हीन नहीं बन जाते , यह बात केवल उपर्युक्त विवेचन से समझ नहीं आयेगी अतः आचार्यचरण आगे न ते इत्यादि शब्दों से कुछ और भी कह रहे हैं। आपश्री कहते हैं - शाप के प्रभाव से पुष्टिमार्गीयजीवों में पाखण्डता नहीं आती। जिनको शाप मिलता है, वे और अधिक भक्त बन जाते हैं। इसलिये ये बात समझ लीजिए कि ये दंड भी उन्हें भगवान ने ही दिया होता है। चलिये ठीक है कि, जहाँ दंड देना हो वहाँ तो ये बात मान ली कि वे दंड पाकर भी पुनः भक्त ही बने रहते है परन्तु जिन्हें दंड नहीं मिलता और उनमें अन्यासक्ति या अहंकार आता हो, ऐसे भक्तों का क्या होगा ? तो इसका उत्तर आपश्री न च इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। आपश्री का इससे तात्पर्य यह है कि, ऐसे भक्तों को भी कम से कम रोग या पीड़ा होने जैसे उपद्रव तो नहीं होते। वे प्रायः महानुभाव ही होते हैं। चलो उनमें महानुभावत्व न भी हो परन्तु रोग-पीड़ा इत्यादि तो उन्हें नहीं ही होते। इस विवेचन से "किसी दूसरे प्रयोजन के लिये भगवान अपने भक्तों को दुःख क्यों देते है" यह दोष भी हट गया।

तथापि स्वल्पार्थमेतावत्करणं न कृपालोरुचितमित्यत आहुः शास्त्रमित्यादि । शिष्यतेऽनेनेति शास्त्रं शापदापनम् । तत् शुद्धत्वस्य हेतुर्निरुपधिरसात्मकं प्रेम तदर्थम् । यद्येवं न कुर्यात्, तदा मार्गान्तरमिश्रत्वनिवृत्त्यभावाच्छुद्धपुष्टत्वं न भवेत् । तथाच तत्रापि फलोन्मुखा कृपैव बीजम्, अतो न भगवति दोषलेशोऽपीत्यर्थः ।

परन्तु फिर भी एक बात मन में यह आती है कि, छोटी सी बात के लिये भगवान सीधे-सीधे दंड ही दे दें , यह कृपालु भगवान के लिये उचित नहीं लगता। इसका समाधान आपश्री के शास्त्र इत्यादि शब्दों से मिलता है। जिससे किसी पर शासन किया जाय या जिससे किसी पर नियंत्रण किया जाय, उसे शास्त्र कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार यहाँ शास्त्र का अर्थ "शाप" समझना चाहिए। शाप तो भगवान उसे शुद्ध बनाने के लिये एवं अपने प्रति निरुपधि-रसात्मक-प्रेम उत्पन्न करने के लिये दिलाते है। यदि भगवान ऐसा न करें तो वे अन्य मार्गों से मिश्रित ही रह जाएं और शुद्धपुष्टिजीव भी न बन पायें। अतः यह समझिए कि, शाप दिलवाने के पीछे भी भगवान की फल प्राप्त कराने वाली कृपा ही मूलकारण है इसलिये भगवान में लेशमात्र भी दोष नहीं है- यह अर्थ है।

ननु युक्तमेतत्, तथापि येषां शुद्धत्वं चिकीर्षितं ते मिश्रेष्वप्यत्युत्कृष्टा एव वाच्याः, तथा सति तेषां कथमीदृशो भावः । न हि तादृशेषु कर्म प्रारब्धादिरूपं प्रभवति, न वा ते ज्ञात्वाऽवजानन्तीति सन्देहे, तेषामेवम्भावे बीजमाहुः भगवदित्यादि । 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मिति श्रुत्वा भगवाननन्तरूपः । 'अथर्वशिरःशिखाध्यायिशतमेकमेकेन मन्त्रराजजापकेन तत्समं विश्वो वैश्वानरः प्रथमः पाद' इत्यादिश्रुतिभिर्व्यूहादिबोधकस्मृतिभिश्च तेषु तरतमभावयुक्तश्च । एवं सति प्रकारान्तरेणापकर्षाभावे तत्क्रतुन्यायेनोपास्यतारतम्यप्रयुक्तं तारतम्यं केन वार्येत । एवं तारतम्ये उत्कृष्टानामप्येवम्भावो न दुर्घटः । अत एव सङ्कर्षणोपासकस्य चित्रकेतोः सङ्कर्षणचरणे मनोनिवेशो वृत्रेन्द्रयुद्धे । निर्विशेषोपासकस्येन्द्रद्युम्नस्य गजेन्द्रत्वेऽपि निर्विशेषोपवर्णनम् । तदेतदुक्तं हीति । तथाच तन्निवृत्त्यर्थमेवङ्करणमित्यर्थः ॥१९॥

चलो बात मान लें, परन्तु एक शंका यह होती है कि, जिनको भगवान शुद्धपुष्टि में रखने की इच्छा रखते हैं, वे मिश्रपुष्टिजीवों के संग रहते होने पर भी उत्कृष्ट ही कहे जायेंगे, ऐसे उत्कृष्ट जीवों में अन्यासक्ति होनी या अहंकार होना कैसे संभव हो सकता है ? ऐसे जीवों को शाप कैसे लग गया ? ऐसे उत्कृष्ट जीवों को प्रारब्ध आदि के कर्म तो बाधा नहीं कर सकते कि जिसके कारण उन्हें शाप झेलना पड़ा हो और ऐसा भी नहीं है कि वे भगवान के माहात्म्य को जानते हुए भी उनकी अवहेलना करते हैं। तो फिर ऐसे जीवों में अन्यासक्ति या अहंकार होने का क्या कारण है ? इसका मूलकारण आपश्री भगवत् इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। इससे आपश्री का तात्पर्य यह है कि, भगवान ही उनमें तारतम्य पैदा करना चाहते हैं इसलिये ऐसा होता है। सर्वप्रथम तो यह समझिए कि, "श्रीनारायण अव्यक्त और अनन्तरूप हैं(महा०उप०-१)" इस श्रुति के अनुसार भगवान के अनन्तरूप हैं। और, "तत्समं विश्वो वैश्वानरः प्रथमः पादः(नृसिंहोत्तरतापन्युपनिषद्-१)" इत्यादि श्रुति एवं भगवान के व्यूह के बारे में बताने वाली स्मृतियों के अनुसार भी भगवान एवं जीव में उच्च-नीच भाव होना युक्त ही है। इसलिये अन्य किसी दृष्टि से तो जीव की भगवान से तुलना में अपकर्षता नहीं हो सकती अतः तत्क्रतुन्याय से (अर्थात् जैसा अधिकारी वैसा फल, इस दृष्टि से) जब भगवान ने उनके साथ अलग-अलग स्वरूप से अपने

उपास्यस्वरूप को प्रकट किया है तो फल भी अलग-अलग होने युक्त ही है, इस बात को कौन हटा सकता है। इस प्रकार से जब जीव और भगवान में तारतम्य होता ही है, तो फिर उत्कृष्ट जीवों में भी ऊपर कहे अन्यासक्ति या अहंकार जैसे भाव होने में कोई असंभव या दुर्लभ बात नहीं है। अतएव सङ्कर्षण के उपासक चित्रकेतु का पुनर्जन्म के समय "वृत्रासुर-इन्द्र युद्ध" में सङ्कर्षण के चरणों में ही मन लगा। इसी प्रकार निर्विशेष-ब्रह्म का उपासक इन्द्रद्युम्न अगले जन्म में गजेन्द्र बन जाने के बाद भी निर्विशेष-ब्रह्म का ही उपासक बना रहा। इस अर्थ की युक्तता बताने के लिये आपश्री ने हि शब्द का प्रयोग किया है। फलितार्थ यह हुआ कि, इनमें अहंकार, अन्यासक्ति जैसे दोषों का निराकरण करने के लिये ही भगवान ने उन्हें शाप दिलवाया ॥ १९ ॥

एवं प्रासङ्गिकं परिहृत्य इदानीन्तनेषु पुष्टिजीवत्वज्ञापकं लक्षणं वदन्तः प्रसङ्गात्सर्वेषामाहुः।

वैदिकत्वं लौकिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथा ॥२०॥
वैष्णवत्वं हि सहजं ततोऽन्यत्र विपर्ययः ।

वैदिकत्वमित्यादि । कापट्यमन्तर्बहिर्विसंवादः । स च स्वभावस्य गोपनाय तत्तत्प्रकाशनमित्येकः, स्वस्य प्रयोजनाभावेऽपि तत्करणमित्यपर इत्युभयविधात्कापट्यात्तेषु वैदिकत्वं लौकिकत्वम् । सहजं तु वैष्णवत्वं भगवदाज्ञाकारित्वम् । ततः वैष्णवादन्यत्र विपर्ययः । एकत्र वैदिकत्वमितरत्र लौकिकत्वं सहजम् । तदतिरिक्तत्वं कापट्यादिति । तेन तेन लक्षणेन ते ते बोध्या इत्यर्थः । एवञ्च तेषां फलं भगवत्तारतम्येनेत्युक्तरीत्या तत्कृतुन्यायेन भावनानुरूपं भवति । तत्राप्येतन्मार्गीयाणां भगवतो व्रजपतेरेव भावनेति व्रज एव सेवौपयिकदेहप्राप्तिर्भवति । परं तत्कृतसेवानुरूपा। सेवाफलग्रन्थे तथैवसिद्धत्वादिति ॥२०॥

इस प्रकार प्रासङ्गिक शंकाओं का परिहार करके अब आगे के श्लोक में आचार्यचरण आज के आधुनिक जीवों में पुष्टिजीवत्व बताने वाले लक्षणों को बताते हुए प्रसङ्गानुरूप प्रवाह-मर्यादा जीवों के भी लक्षण बताये दे रहे हैं।

सर्वप्रथम वैदिकत्वं लौकिकत्वं कापट्यात् इत्यादि शब्दों का अर्थ समझिए। कापट्य का अर्थ होता है- भीतर कुछ और एवं बाहर कुछ और ; तात्पर्य यह कि मन के भीतर एवं बाहर की बातें विपरीत होनी। ऐसा वैपरीत्य दो प्रकार का कहा जा सकता है। एक तो वह जिसमें अपने मूलस्वभाव को छुपाकर रखना एवं समाज के आगे किसी दूसरे प्रकार के स्वभाव को उजागर करना। दूसरा यह कि, भले ही कोई विशेष प्रयोजन न भी हो, फिर भी अपना मूलस्वभाव छुपाना। ऐसे दो प्रकार के कपट के कारण ही पुष्टिजीवों में लौकिकता एवं वैदिकता में रुचि होनी दिखाई देती है। किन्तु इनका सहज स्वभाव तो वैष्णवता होती है। वैष्णवता का अर्थ है- भगवदाज्ञा का पालन करना। इससे यह समझिए कि वैष्णवता के अतिरिक्त अन्यत्र सभी स्थलों पर इनका आचरण अपने मूलस्वभाव से विपरीत होता है। ठीक इसी प्रकार मर्यादापुष्टिजीवों में वैदिकता सहज होती है एवं वैष्णवता और लौकिकता कपटरूप से होती है। और ठीक इसी प्रकार प्रवाहपुष्टिजीवों में लौकिकता इनका सहज स्वभाव होता है एवं वैदिकता और वैष्णवता कपटरूप से होती है। इनके इन-इन लक्षणों से इन-इन जीवों को पहचाना जा सकता है। इस प्रकार से इनको मिलने वाले फल भगवान द्वारा अंतर कर दिये जाने के पश्चात् ऊपर कहे अनुसार तत्कतुन्याय से इनकी भावना के अनुसार प्राप्त होते हैं। इतना होने पर भी एतन्मार्गीय-पुष्टिमार्गीय जीवों की भावना तो व्रजपति-भगवान में ही होती है और उन्हें व्रज में ही भगवान की सेवा में उपयोगी देह प्राप्त होती है। परन्तु उन्होंने जैसे प्रकार की सेवा की है, उन्हें उसी सेवा के अनुसार ही व्रज में भगवत्सेवोपयोगी देह प्राप्त होती है। सेवाफलग्रन्थ में इसी प्रकार से बताया गया है ॥ २० ॥

सम्बन्धिनस्तु ये जीवाः प्रवाहस्थास्तथापरे ॥२१॥
चर्षणीशब्दवाच्यास्ते ते सर्वे सर्ववर्त्मसु ।
क्षणात् सर्वत्वमायान्ति रुचिस्तेषां न कुत्रचित् ॥२२॥
तेषां क्रियानुसारेण सर्वत्र सकलं फलम् ।

ननु यदि त्रिविधा एव जीवास्तर्हि कथं केचन सर्वत्र तुल्यदर्शनाः सर्वाभिनिविष्टा दृश्यन्ते, तत्राहुः सम्बन्धिन इति । तुशब्दस्त्रैविध्यपक्षं व्यावर्तयति । ये जीवाः सम्बन्धिनः उक्तत्रिविधमार्गसम्बन्धभाजः, तथा अपरे इतोऽपि हीनाः प्रवाहस्थाः, ते चर्षणीशब्दवाच्याः । 'चृषि प्रजननैश्ययो'रिति धात्वर्थात्प्रजननस्वातन्त्राभ्यां युक्ताः । तेन तद्योग्यत्वाच्चर्षणीभिः परिभ्रमणशीलाभिः शक्तिभिर्व्याप्तास्तच्छब्देनैवोच्यन्ते । तदभिज्ञापकमाहुः ते सर्व इत्यादिपादत्रयेण । तेषां फलमाहुः तेषामिति । तथाच पञ्चरात्रे मध्यमा अधमाश्च ये मानुषा उक्तास्त एते । अत एव 'संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शना'दिति सूत्रेण यमनियता तेषां गतिर्विचारिता । 'वैवस्वते विविच्यन्ते यमे राजनि ते जनाः । ये चेह सत्येनेच्छन्ते य उ चानृतवादिन'इति । अतस्तेषां यथाकर्म सकलं

कला खण्डस्तत्सहितं खण्डितं फलं सर्वत्र भवति । तथा तदनुभवन्तः सम्बन्धिनः संसरन्त्येव । सृतियोग्यत्वात् प्रवाहस्थास्तु तथाभूता निरयिणोऽग्रे भवन्तीत्यर्थः ॥२२॥

बाईसवीं कारिका में कहे "सकल" शब्द का अर्थ टीकाकार ने "खण्डित फल" के अर्थ में किया है। अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, यदि तीन ही प्रकार के जीव होते हैं तो फिर कुछ लोग ऐसे क्यों दिखाई पड़ते हैं जो सभी मार्गों को एक समान मानते हैं एवं सभी मार्गों में रचे-पचे रहते हैं ? तो इसका समाधान आपश्री **सम्बन्धिनः** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। वैसे तो **तु** शब्द से ही पता चल जाता है कि, ये इन तीन मार्गों में से किसी भी मार्ग के नहीं हैं अपितु ये जीव ऊपर कहे तीन मार्गों के जीवों से केवल सम्बन्धित जीव हैं। और, इन सम्बन्धिजीवों के अतिरिक्त जो दूसरे जीव हैं, वे तो इन सम्बन्धिजीवों से भी हीन कोटि के प्रवाहीजीव हैं, जो "चर्षणी" नाम से कहे जाते हैं। "चृषि प्रजननेऽयोः" इस धात्वर्थ के अनुसार ये जीव जन्ममरण वाले एवं स्वच्छन्द स्वभाव रखने वाले होते हैं। इसलिये ऐसे लक्षण वाले होने के कारण ये परिभ्रमणशील अर्थात् भटकते रहने वाले होते हैं, इसलिये इन्हें "चर्षणी" शब्द से कहा गया। इन चर्षणीजीवों को बताने वाले लक्षणों को आपश्री **ते सर्वे** इत्यादि तीन श्लोकों द्वारा कह रहे हैं। **तेषां** इत्यादि शब्दों से आपश्री ने इन चर्षणीजीवों को मिलने वाले फलों के विषय में बताया है। फलितार्थ यह हुआ कि नारदपञ्चरात्रस्मृति में बताये गये मध्यम एवं अधम पुरुष ये चर्षणीजीव ही हैं। इन जीवों को मिलने वाली गति का विचार "पापकर्म करने वालों का पापकर्मों को भोगने के बाद उनका पुनः कर्मानुसार नरकलोक से मृत्युलोक में आना और पुनः नये कर्मानुसार स्वर्ग में या नरक आदि अधोगति को पाना होता रहता है। उन लोगों की गति का ऐसा ही वर्णन श्रुति में देखा जाता है(ब्र०सू० ३-१-१३)" इस ब्रह्मसूत्र में किया गया है कि, यमराज के नियंत्रण में इनकी गति होती है। जैसा कि "वैवस्वते विविच्यन्ते..... चानृतवादिनः(तैति०आ० ६-५-३)" इस श्लोक में भी कहा गया है। अतः इन्हें इनके अनिश्चित कर्मों के अनुसार "सकल-फल" अर्थात् खंडितफल ही प्राप्त होता है। टीकाकार ने यहां "कल" शब्द का अर्थ "खण्ड" किया है। कला का अर्थ होता है "खण्ड"। अतः स-कल का अर्थ हुआ- खण्ड सहित। और सकलं फलं का अर्थ हुआ - खण्डसहित फल अर्थात् खण्डित फल। इस प्रकार इन मार्गों के जीवों से सम्बन्धित ये जीव उन खण्डित फलों का अनुभव करते हुए संसार में ही भटकते रहते हैं क्योंकि ये केवल सृष्टि को चलायमान रखने के लिये ही बने हैं। प्रवाहीजीव तो भटकते हुए फिर आगे चल कर नरक में गिरते हैं- यह अर्थ है।

एवमत्रानुप्रसङ्गपतितं सर्वमुक्त्वा क्रमप्राप्तं प्रवाहभेदं वदिष्यन्तो व्यावर्तकधर्मैः प्रवाहेण च स्वरूपभेदस्य सिद्धत्वात्साधनादिभेदं वक्तुं प्रावाहिकजीवदेहक्रियाभेदनिरूपणं प्रतिजानते प्रवाहस्थानिति ।

प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतान् ॥२३॥
जीवास्ते ह्यासुराः सर्वे 'प्रवृत्तिं चे'ति वर्णिताः ।

तेषां स्वरूपं लक्षणमाहुः जीवास्ते इत्यादि । 'प्रवृत्तिं चे'ति सन्दर्भे नानालक्षणानामुक्तत्वादेकस्मिंस्तावतामदर्शनात्प्रत्येकं यत्किञ्चिल्लक्षणवन्तोऽपि त एवेति ज्ञापनाय सर्वे इत्युक्तम् ॥२३॥

इस प्रकार से यहाँ प्रसङ्गोपात्त आने वाले अन्य दूसरे प्रसङ्ग की सभी बातें कह कर अब आचार्यचरण क्रमपूर्वक आने वाले प्रवाहभेद के विषय में कह रहे हैं। अब चूँकि पुष्टिमार्ग को भिन्न बताने वाले धर्म एवं प्रवाह(सृष्टि या सर्ग) के द्वारा प्रवाहमार्ग का स्वरूपभेद तो अपने आप ही सिद्ध हो चुका है अतः अब आपश्री प्रवाहमार्ग के साधन आदि भेद कहने के लिये प्रावाहिकों के जीव, उनकी देह एवं उनकी क्रिया के भेद का निरूपण करने की प्रतिज्ञा **प्रवाहस्थान्** इत्यादि शब्दों से अग्रिमश्लोक में कर रहे हैं।

आपश्री प्रावाहिकजीवों के स्वरूप के लक्षण **जीवास्ते** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यहाँ यह समझना चाहिए कि आपश्री ने इस कारिका में जो "धर्म में प्रवृति एवं अधर्म से निवृत्ति को आसुरी नहीं जानते। उनमें न अन्तःकरण की शुद्धि, न सदाचार और न ही सत्य ही होता है (भ०गी० १६-७)" इस श्लोक का उदाहरण दिया है, उस श्लोक के अंतर्गत प्रावाहिकजीवों के नानाविध लक्षण तो बताये गये है परन्तु किसी एक जीव में वे सभी लक्षण दिखाई नहीं देते अतः प्रत्येक जीव जिसमें इनमें से एक भी लक्षण पाया जाय, वे सभी जीव प्रवाही ही हैं -यह बताने के लिये आपश्री **ते सर्वे** इत्यादि शब्दों से उन सभी को प्रवाही बता रहे हैं॥ २३॥

ननु केचन पूर्वं तल्लक्षणवत्तया निश्चिता अपि पश्चाद्व्यभिचरन्तो दृश्यन्ते लोके स्मृतौ चेति लक्षणमव्यापकमित्यतस्तान् विभजन्ते ते च द्वियेत्यादि ।

ते च द्विधा प्रकीर्त्यन्ते ह्याज्ञदुर्ज्ञविभेदतः ॥२४॥
दुर्ज्ञास्ते भगवत्प्रोक्ता ह्याज्ञास्ताननु ये पुनः ।

ताननु तदनुसारिण एव । न तु तादृशाः । तेऽज्ञाः । एत एवाग्रे भगवता हता मुच्यन्ते । क्वचिद् द्वेषत्यागेऽपि मुच्यन्ते । अतो हेत्वन्तरेणाज्ञाने गते स्वां प्रकृतिं भजन्त इति न ते लक्ष्याः । अतो लक्षणमदुष्टमित्यर्थः ॥२४१/२॥

किन्तु एक शंका यह होती है कि, इन प्रावाहिकजीवों में कुछ ऐसे भी जीव होते हैं जिनमें पूर्व में कहे वे सभी लक्षण निश्चित हो जाने पर भी कालांतर में वे इन लक्षणों से अलग प्रकार का आचरण करने लगते हैं- ऐसा लोक में भी देखा गया है एवं स्मृति में भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं। इसका क्या कारण है ? क्योंकि यदि कालांतर में प्रावहिकजीवों की प्रकृति बदल जाती हो तो आचार्यचरणों द्वारा बताये गये प्रावाहिकजीवों के लक्षण तो इनमें व्याप्त ही नहीं हुए ! इस शंका का समाधान करने के लिये आपश्री अग्रिमश्लोक में ते च द्विधा इत्यादि शब्दों से इन प्रावाहिकजीवों को दो भागों में बाँटे दे रहे हैं।

प्रावाहिकजीवों के ये दो प्रकार हैं- दुर्ज्ञ और अज्ञ। तान्नु शब्द से वे कहे गये हैं, जो प्रवाहीजीवों का अनुसरण ही करते हैं। ये प्रावाहिकों जैसे नहीं होते, ये अज्ञ कहलाते हैं। ये ही आगे चलकर भगवान द्वारा वध किये जाने पर मुक्त भी हो जाते हैं। कभी ऐसा भी होता है कि, ये भगवान के प्रति द्वेष करना छोड़ देते हैं और मुक्त हो जाते हैं। इसलिये अन्य किसी दूसरे कारण से इनका अज्ञान दूर होता है और ये अपने मूलस्वभाव को प्राप्त कर लेते हैं, अतः इन्हें लक्षित करके आचार्यचरण प्रावाहिकों की बात नहीं कर रहे हैं - यह जान लीजिएं। इस दृष्टि से ऊपर बताये गये प्रावाहिकजीवों के लक्षण अयुक्त नहीं हैं॥ २४ १/२॥

ननु सर्गभेदे प्रावाहिक आसुरः सर्गो जघन्य उक्तः । तेन तदङ्गक्रिया दुष्टा इति सिद्धम् । तथा सति तत्र प्रवेशस्तादृशामेवोचितो, नेतरेषाम् । ततस्ते हन्तव्या एव स्युः, नानुग्राह्याः । दृश्यते तु विपरीतं बलिप्रह्लादादिषु, तथा बाणादिषु क्रियाविरोधोऽपीत्यत आहुः।

किन्तु एक सन्देह यह होता है कि, पूर्व में जब सर्गभेद के विषय में बताया गया तो प्रावाहिक आसुरीजीवों का सर्ग जघन्य बताया गया, इसलिये ऐसे प्रावाहिकों के अंग एवं उनकी क्रिया भी दुष्ट होती है- यह सिद्ध हुआ। इस परिस्थिति में प्रावाहिकसर्ग में प्रवेश उन जीवों का ही होना चाहिए जो प्रवाही है, अन्यों का नहीं। और, ऐसे आसुरीजीव तो भगवान द्वारा वध किये जाने योग्य है , अनुग्रह करने योग्य नहीं। किन्तु राजा बलि एवं प्रह्लाद जैसों के उदाहरण इसके विपरीत दिखाई देते हैं, जो आसुरीकुल के थे किन्तु फिर भी भगवान ने इन पर कृपा कर दी। इसी प्रकार बाणासुर राक्षस था और उसकी सारी क्रियाएं भगवद्धर्म से विरुद्ध थीं परन्तु भगवान ने उसका भी वध नहीं किया, ऐसा क्यों ? इसका निराकरण आपश्री अग्रिमश्लोक में कर रहे हैं।

प्रवाहेऽपि समागत्य पुष्टिस्थस्तैर्न युज्यते ॥२५॥
सोपि तैस्तत्कुलै जातः कर्मणा जायते यतः ॥२५१/२॥

प्रवाहेऽपीति । प्रवाहेऽपि समागत्य पुष्टिमार्गीयः तेन समागमनेन कृत्वा युज्यते, तैः आसुरधर्मैः । तत्र हेतुः । यतः कर्मणा तादृशेन तत्कुले जातः । अतस्तथेत्यर्थः । तथाच तत्कर्मवासनया तादृक्क्रियाकरणेऽपि जीवस्य पुष्टिस्थत्वाद्भगवता तत्कर्म निवार्य फलं दीयते यथाजामिलस्य अतो न दोष इति भावः । कर्म च भगवदपराधो भक्तापराधो वेदनिन्दा अधर्मकरणं वेत्यादिकम् । तच्च 'अत्रापि वेदनिन्दायामधर्मकरणात्तथा । नरके न भवेत्पातः किन्तु हीनेषु जायत' इति निबन्धोक्तमार्गेणोह्यम् । एवं बलिप्रह्लादादिषु दुष्टकर्मणः स्वल्पताप्यूह्या । तेन न दोषः ।

सर्वप्रथम तो कारिका के प्रवाहेऽपि इत्यादि शब्दों का अर्थ है - प्रवाह में भी मिलकर पुष्टिमार्गीयजीव उस मेल के कारण आसुरीधर्मों से जुड़ जाता है। इसका हेतु यह है कि, वह अपने कर्मों के कारण ऐसे प्रावाहिककुल में पैदा हो गया है और इसी कारण वह प्रावाहिक माना जाने लगा। तो, अपने पूर्वकर्मों के कारण आसुरीकार्य करने पर भी चूँकि उसका जीन तो आखिरकार पुष्टिमार्गीय ही है अतः भगवान उसके आसुरीकर्मों का निवारण करके फल देते हैं, जैसे कि अजामिल को दिया था। इसलिये उपर्युक्त दृष्टि से यदि असुरों पर भी अनुग्रह होता दिखाई दे, तो इसमें कोई दोष नहीं मानना चाहिए - यह भाव है। आसुरीकर्मों का तात्पर्य है - भगवदपराध करना, भक्त का अपराध करना, वेदनिन्दा करनी या अधर्म आदि करना। ऐसे जीवों की व्यवस्था आचार्यचरणों के "यद्यपि अधर्म का आचरण करे तो नरकपात होना योग्य है परन्तु भगवन्नाम नरक का विरोधी है अतः वह नरक में तो नहीं गिरता परन्तु शूद्र जैसी हीन योनि में उत्पन्न होता है(सर्व०-२१६)" इस निबन्धवाक्य से समझ लेनी चाहिए। इससे यह भी समझें कि राजा बलि एवं प्रह्लाद आदि के दुष्टकर्म अल्प ही थे, अधिक गंभीर नहीं थे, इसलिये यदि भगवान ने उन पर कृपा कर दी हो, तो इसमें कोई दोष नहीं है।

एतदग्रे आधुनिकादृष्टवशाद् ग्रन्थो न मिलतीति नोपक्रमोपसंहारैक्याभावदोषः । एतदग्रे प्रवाहमार्गीयप्रयोजनसाधनाङ्गक्रियाफलानि मर्यादामार्गीयप्रयोजनस्वरूपाङ्गक्रियाः साधनं फलं च यावता ज्ञायते, तावान् ग्रन्थोऽपेक्षित इति ज्ञेयम् ॥२५१/२॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जनखेन्दुना ।

शोभितास्तारका यास्ताः स्वबुद्ध्या विशदीकृताः ॥१॥
निपुणं विभाव्य सततं विलसद्रससिन्धुचन्द्रमुखवागमृतम् ।
विवृतं मयास्य कृतमेतदहो सरहस्यमस्ति विबुधैकसुखम् ॥२॥
इति श्रीवल्लभनन्दनचरणरेण्वेकतानश्रीयदुपतितनयपीताम्बरविरचितं
पुष्टिप्रवाहमर्यादाविवरणं समाप्तम् ।

यह ग्रन्थ यद्यपि पूर्ण है परन्तु इससे आगे का ग्रन्थ आधुनिकजीवों के दुर्भाग्य के कारण प्राप्त नहीं होता है अतः इस ग्रन्थ के आरंभ(उपक्रम) और अंत(उपसंहार) में तालमेल न होने जैसा दोष लागू नहीं पड़ता। इससे आगे प्रवाहमार्गीयसृष्टि करने का प्रयोजन, उनके साधन, उनके अंग, उनकी क्रिया एवं उनके फल क्या है ? और मर्यादामार्गीय सृष्टि रचने का प्रयोजन, उनके स्वरूप, उनके अंग, उनकी क्रिया, उनके साधन एवं उनको क्या फल मिलता है ? इत्यादि सभी बातों का ज्ञान हो जाये, इतने ग्रन्थ की अपेक्षा शेष रह गयी ॥ २५ १/२ ॥

यह श्रीवल्लभाचार्यचरणनखचंद्र से शोभित इस ग्रन्थरूपी तारों का
मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार व्याख्यान किया ॥ १ ॥
रससिंधु-भगवान के मुखचंद्र-आचार्यचरणों की वाणीरूप अमृत को
मैंने निपुणतापूर्वक विवृत किया है जो रहस्यमयी है और विद्वज्जनों को ही सुख देने वाली है।
यह श्रीवल्लभनन्दन श्रीप्रभुचरणों में एकनिष्ठ श्रीयदुपतिपुत्र पीताम्बर द्वारा विरचित पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थ का विवरण समाप्त हुआ।